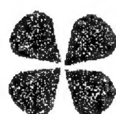
धर्म-मनोविज्ञान
और
श्री रामकृष्ण

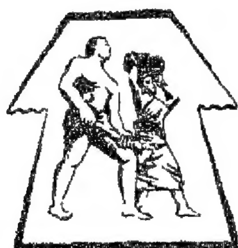


धर्म-मनोविज्ञान
और
श्री रामकृष्ण

लेखक

डॉ० हृदय नारायण मिश्र
एम० ए०, पी० एच० डी०
प्रवक्ता दर्शनशास्त्र, काशी नरेश स्नातकोत्तर
महाविद्यालय, ज्ञानपुर, वाराणसी

प्रकाशक



'साहित्यालोचन'
प्रकाशक ० पुस्तक विक्रेता
१०६, शहराराबाग-इलाहाबाद-३

प्रथम संस्करण १९७८ मूल्य ५० रु०

प्रकाशक : माहित्यालोचन
प्रकाशक पुस्तक विक्रेता
१०६, शहराराबाग
इलाहाबाद—३

मुद्रक : 'फाइन प्रिन्ट'
मुद्रक • प्रकाशक
१०६, शहराराबाग
इलाहाबाद—३

'DHARMA MANOVIGYAN AUR SRI RAMKRISHNA'
1975

श्री श्री रामकृष्ण शरणम्

आशीर्वचन

चन्दन चाहे जैसे भी घिसा जाय उससे स्निग्ध सुगन्ध निकलेगी ही और उसके द्वारा जन-कल्याण अवश्य होगा। स्निग्ध सुगन्ध देने के अतिरिक्त चन्दन का लेप संतप्त देह में सुखकर शीतलता उत्पन्न करता है। मन भी शान्त होता है। उसी प्रकार नररूपी भगवान् श्री रामकृष्ण के साथ चाहे जिस किसी भाव से भी मनुष्य सम्पर्क स्थापित करे उसका फल कल्याणकारी अवश्य ही होगा।

मनोविज्ञानविद् चाहे जिस भाव से श्री रामकृष्ण को ग्रहण क्यों न करे उनका भी कल्याण अवश्य होगा, क्योंकि ब्रह्म-शक्ति के अवतार श्री रामकृष्ण का स्वरूप ही सर्वमंगलमय है। फिर नवीन मनोवैज्ञानिकों की दौड़ ही कितनी दूर है? उनकी विद्या का प्रसार-क्षेत्र तो है यह शरीर और इस शरीर से सम्पर्कित मन की परिधि। भारतीय ऋषियों ने मन-बुद्धि की परिधि के चरम सत्य को ब्रह्म-अवगाही कहकर निर्देशित किया है। केवल निर्देशित ही नहीं किया, अनुभव से प्रत्यक्ष भी किया है। यदि ऐसा ही है तो आधुनिक मनोविज्ञान के पलड़े पर श्री रामकृष्ण की मन-बुद्धि को तौलने की चेष्टा उन्हीं के अनुभव-सिद्ध उपदेशों की भाषा में कहना पड़ेगा, जैसे—'एक छटाँक बटखडे से एक मन द्रव्य को तौलने का प्रयास करना है अथवा सेर भर के लोटे में दस सेर दूध रखना है।'

श्री रामकृष्ण के चिकित्सक डॉ० महेन्द्र लाल सरकार भारत के एक अति प्रमुख तथा प्राथमिक एम० डी० थे। वे भारत के आधुनिक विज्ञान के जनक के रूप में परिचित हैं। वे थे 'साइंस एसोसिएशन ऑफ कलकत्ता' के सुप्रतिष्ठ प्रतिष्ठाता जो इस समय यादवपुर विश्वविद्यालय में सरक्षित है। इसी प्रतिष्ठान के सेवक भारत के प्रख्यात मनीषी वैज्ञानिक सी०वी रमण आदि हैं।

फिर डॉ० सरकार 'भारतीय होमयोपैथिक एसोसिएशन' के जनक तथा प्रतिष्ठाता थे। ये महाचिकित्सक श्री रामकृष्ण की चिकित्सा जब करने गये स्वयं ही श्री रामकृष्ण के 'पेशेन्ट' बन गये। यह तथ्य लिपिबद्ध है। वे कहते थे (श्री रामकृष्ण से) "आपके साथ बुद्धि विचार से कोई भी आपको पराजित नहीं कर पाएगा। उन्होंने जैसे श्री की देह की परीक्षा की

वैसे अपनी मन-बुद्धि की दौड की परीक्षा भी की। तभी उपरोक्त बात उनके मुह से निकली। और भी कहा था; "आपके पास आकर बैठने से छ. सात घटे तक उठने की इच्छा नही होती। इससे मेरे दूसरे काम हो नहीं पाते।' उन्ही के सम्मुख शरीर से राग श्री रामकृष्ण मन-बुद्धि की परिधि को पार कर चरम सत्ता मे पहुँच जाते थे। डॉ० सरकार अपने विज्ञान के 'स्टेथस्कोप' यन्त्र से परीक्षा करके देखते थे कि हृद्-यन्त्र की क्रिया बन्द है फिर भी आदमी जीवित है। केवल इतना ही नही, उनके मुख-मण्डल पर प्रतिभात ज्योतिर्मय एव आनन्दमय भाव को देखकर डॉक्टर विमोहित हो जाते थे।

उस समाधि की अवस्था से, मन के परे की अवस्था से नीचे अवतरण कर डॉक्टर से कहते थे "कहो जी डॉक्टर तुम्हारे साइस मे शायद यह सब बाते नही है।" डॉक्टर निरुत्तर। क्योंकि वे स्थूल शरीर के ज्ञान मे पाण्डित्य लाभ किये हुए है। उन्हे स्थूल शरीर के साथ सूक्ष्म शरीर तथा कारण शरीर का ज्ञान नही है।

सूक्ष्म या बुद्धि-शरीर के बाद है कारण शरीर। कारण शरीर के बाद महाकारण या परम सत्ता है, जिसे परमार्थ-वैज्ञानिको ने ब्रह्म की संज्ञा दी है।

Scicene of the matter, Science of the mind और Science of the spirit, ये तीन एक दूसरे से, एक के बाद एक, बडे है। सबसे बडा है (Spirit) या परब्रह्म।

आधुनिक मनोविज्ञान की पहुँच तो इस व्यावहारिक मन की परिधि तक है। श्री रामकृष्ण के मन को (Diseased Neurotic) कहना धृष्टता मात्र है। श्री रामकृष्ण का जीवन तथा विचारधारा केवल भारत के उद्धार और संगठन मे ही कार्यकारी हुयी है, ऐसी बात नही। सुदूर अमरीका और यूरोप में भी जो इस विचारधारा का प्रभाव अक्षुण्ण बना हुआ है, उसका प्रमाण है कि उन देशों मे पिछले अस्सी वर्षों से 'रामकृष्ण मिशन' का प्रचार चला आ रहा है। स्वामी विवेकानन्द ने अमरीका तथा अन्य पाश्चात्य देशो मे जो प्रचार किया वह भी श्री रामकृष्ण द्वारा पहले से ही सकल्पित था। धन तथा शक्ति से गर्वित प्रतीचियों का कल्याण श्री रामकृष्ण के प्राणो मे स्पन्दित हुआ था। ऐसे एक व्यक्ति की विचारधारा को (Diseased, Neurotic) या (Abnormal) कैसे कहा जा सकता है ?

श्री रामकृष्ण की प्रेरणा से स्वामी विवेकानन्द ने 'रामकृष्ण मिशन' को स्थापित किया था। 'रामकृष्ण मिशन' का कार्य समाज के स्थूल सूक्ष्म तथा

कारण, तीनो शरीरो की सेवा करना है। भारत के दुर्दिनों मे जब भारत का जन-साधारण बाढ, दुर्भिक्ष और महामारी से कीडे-मकोडे के समान मरते थे। तभी श्री रामकृष्ण का हृदय व्यथित हो उठा था इनकी सेवा के लिए। ब्रिटिश राज्य का कितना ही पीडन सहना पड़ा है इस 'रामकृष्ण मिशन' को, देश प्रेम और मानव-प्रेम के साथ इस सेवा-कार्य के लिए। इस शक्तिशाली ऐतिहासिक साक्षी के आगे आधुनिक मनोवैज्ञानिक उन्हे किस प्रकार (Abnormal) कह सकते है ? उपरोक्त यह घटना तो अत्यन्त ही (Normal) मन का कार्य है।

कहना चाहो तो कहो कि वे (Normal) और (Abnormal) दोनो ही है। एकाधिक गुण का रहना यदि दोष का कारण समझा जाय तो आधुनिक मनोवैज्ञानिको का कहना अवश्य ही सत्य है। लेकिन ऐसा कथन एक दुस्साहस हो कहा जायेगा।

स्वामी विवेकानन्द के प्रति श्री रामकृष्ण का अन्तिम उपदेश यह था 'जो राम है, जो कृष्ण है, वही अब रामकृष्ण है।' ये बाते उनके मुख से तब निकली थी जब अन्तर्धान के अव्यवहित पूर्व स्वामी विवेकानन्द उनकी रोग-शय्या पर बैठकर सोच रहे थे कि यदि इस समय वे कह दे कि 'मै' ईश्वर अवतार हूँ, तब मै विश्वास करूँगा। इस (Gigantic Intellect) वाले विवेकानन्द ने कहा था—मेरे इस (Intellect) को तोड-फोड़ कर इस निरक्षर व्यक्ति ने नये ढंग से गढा है। जैसे कुम्हार अपने बर्तनों को तोडता और गढता रहता है।

'गॉस्पेल ऑफ श्री रामकृष्ण' के लेखक अर्द्धभारत तथा भारत के पूर्व-दक्षिण देशो तक प्रसारित तत्कालीन कलकत्ता विश्वविद्यालय के एक बहुत ही कृति स्नातक थे। हमने उनकी बुद्धि की पहुँच देखी है—क्या क्षुर-धार बुद्धि क्या सुतीक्ष्ण विचार-शक्ति और क्या मनोवैज्ञानिक अन्तर्निवेश की शक्ति थी उनमें, इन्होने भी उपरोक्त कथन का समर्थन किया और कहा; 'ठाकुर ने अपने बाये हाथ की कनिष्ठागुलि के संचार से हम लोगो की इस बुद्धि को अनायास नये ढग से गढ देते थे।

पाश्चात्य के महामनीषा मैक्समूलर, रोमाँ रोलाँ, एल्डस हक्सले आदि दिग्गिज-गण श्री रामकृष्ण के जीवन्त अति उच्च मन-बुद्धि को तौलने के प्रयास में अकृतकार्य रहे हैं।

श्री हृदय नारायण मिश्र ने इस महामानव ब्रह्म-शक्ति के अवतार को आधुनिक के क्षेत्र मे परिचित कराने की चेष्टा कर

का कल्याण साधन किया है। क्योंकि उन्होंने समझा है कि श्री रामकृष्ण और उनकी विचारधारा नवीन भारत को वर्तमान भारत को पराक्रान्त रूप मे प्रभावित किया है।

स्वामी विवेकानन्द की और एक बात फिर मन मे आ रही है। अमरीका मे प्रचार करने के बाद कलकत्ते के स्वागत के उत्तर में उन्होंने कहा था— 'यदि भारत को उठाना चाहते हो तो इस महापराक्रान्तमना श्री रामकृष्ण-रूप, महाशक्ति को केन्द्र बना कर अपना प्रयास करते जाओ, तभी उठ पाओगे'। महात्मा गाँधी ने भी कहा था—श्री रामकृष्ण का प्रेम विश्व ग्रासी है। भौगोलिक या अन्य किसी सीमा के अतीत है, और यह भी कहा था—"श्री रामकृष्ण का जीवन ईश्वर को हमारी आँखो के सामने ला देता है।'

डॉ० हृदय नारायण मिश्र दर्शन इस पुस्तक को प्रकाशित कर देश का प्रभूत कल्याण करेंगे, इसमें कोई सन्देह नही। वे देशवासियों के धन्यवाद के पात्र है।

१६–१२–७२

श्री 'म' ट्रस्ट

५७६, सेक्टर १८ बी०

चण्डीगढ़

विनीति

स्वामी नित्यात्मानन्द

आमुख

कहा जाता है कि पुत्रों मे अपने शरीर को जीवित रख कर मनुष्य मृत्यु के साथ समझौता करता है। वैचारिक तथा आध्यात्मिक जीवन मे भी मनुष्य सम्भवतः योग्य शिष्यो मे अपने विचारो तथा अनुभवों को जीवित रखने का प्रयास करता है।

शिक्षक-जीवन की चरम सार्थकता निश्चय ही इस बात पर निर्भर है कि कुछ ऐसे योग्य शिष्य हों जिनमे अपने विचारो को संक्रमित किया जा सके ? वास्तव मे यदि देखा जाय तो मनुष्य का जीवन-काल इतना छोटा है और वह भी परिवार-पालन आदि व्यर्थ कामो में इतना व्यथित हो जाता है कि उच्च वैचारिक राज्य मे सफर करने वालो के लिए क्षिप्रगति अपने चिन्तनो को पकड़ रखना अथवा उनपर अधिक गहराई से सोचना प्रायः असम्भव हो जाता है। यही पर ग्रहणशील शिष्य परम्परा की आवश्यकता है। यदि कहा जाय कि प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से इस प्रकार की शिष्य परम्परा का इतिहास ही दर्शनशास्त्र का इतिहास है तो अत्युक्ति नही होगी।

डॉ० हृदय नारायण मिश्र मेरे उन कतिपय शिष्यों में से एक हैं, जिन्होंने अध्ययन समाप्त करने के बाद भी मेरे नितान्त व्यक्तिगत चिन्तन जगत् मे बराबर भाग लिया है और स्वतः ही मुझसे अधिकतर अन्तरग तथा घनिष्ठ बनते गये। वर्तमान ग्रन्थ मेरे ही एक अस्फुट विचार का मूर्तरूप है। मेरे इस कथन का यह अभिप्राय नही कि इस ग्रन्थ की मूल समस्या का श्रेय मैं स्वय लेना चाहता हूँ। वस्तुत. वैचारिक राज्य में मौलिकता का दावा कोई नही कर सकता, क्योंकि सभी विचार एक दूसरे से प्रभावित होते है।

उन्नीसवी सदी मे मानसिक रोगो के विषय में चिकित्सकों के परीक्षणों से अप्राकृत मनोविज्ञान के जो सिद्धान्त प्रतिपादित हुए उनका बड़ा भारी प्रभाव धर्म-दर्शन पर पड़ा। अप्राकृत मनोविज्ञान के सिद्धान्तों के आधार पर धा[र्मिक] अनुभवों का विश्लेषण होने लगा। धर्म-दर्शन से भिन्न धर्म-मनोविज्ञान [ए]क पृथक् विषय बन गया और उत्साह के साथ धर्म की उत्पत्ति, धार्मिक क्रिया क[ला]पों तथा रहस्यवाद एवं रहस्यानुभूतियों पर मनोवैज्ञानिक अध्ययन आ[रम्भ] हो गये। धर्म पर यौन जीवन के प्रभाव पर भी कुछ लोगों ने काम किया है।

इसमें सन्देह नहीं कि बहुत-सी धार्मिक क्रियाओं तथा प्रथाओं की मनोवैज्ञानिक व्याख्या करना बड़ा ही आसान है। रहस्यवादियों के अनेक लक्षण विभिन्न प्रकार के मानसिक रोगों के लक्षणों से मिलते-जुलते भी है। रहस्य मूलक अनुभव भी बहुत कुछ विकृत मस्तिष्क के अनुभवों से समानता रखते हैं। रहस्यवाद के कट्टर समर्थकों को भी यह मानना पड़ेगा कि तथाकथित रहस्यवादियों का एक बहुत बडा अंश स्पष्टतः मनोविकार ग्रस्त है।

लेकिन फिर भी हम सभी रहस्यवादियों को मानसिक रोगी नहीं कह सकते। यह बात भी सत्य है, अन्यथा बुद्ध, ईसा,मुहम्मद, नानक अथवा श्री रामकृष्ण को भी हमे अप्राकृत अथवा मनोविकार ग्रस्त कहना पडेगा। धर्म-मनोविज्ञान के क्षेत्र मे अबतक जो अध्ययन हुए है उनमें सभी रहस्यवादियो को प्राय. एक ही मापदण्ड से तौलने का प्रयास किया गया है, जिसका परिणाम यह हुआ कि एक ओर रहस्यवाद को समर्थन देने के प्रबल आग्रह से कुछ लोग तो स्पष्टतः अप्राकृत व्यक्तित्वों की गणना भी रहस्यवादियों मे करने लगे और दूसरी ओर रहस्यवाद मात्र से अनास्था की भावना का पोषण करने वाले सभी प्रकार के रहस्यवादी विभिन्न मानसिक रोगों से आक्रान्त रहे हैं, इस बात को सिद्ध करने में तत्पर हो उठे। वास्तविक रूप मे धर्म मनोविज्ञान के क्षेत्र मे रहस्यवाद पर सही-सही मनोवैज्ञानिक अध्ययन अभी तक हो नही पाया। इस बात को मैं अस्वीकार नही करता कि धार्मिक अनुभवो के मनोवैज्ञानिक अध्ययन में कुछ आधारभूत कठिनाइयाँ हैं। ये अनुभव नितान्त व्यक्तिगत एवं आत्मनिष्ठ होते हैं और आधुनिक मनोवैज्ञानिक विधियों से इन पर कोई ठोस परीक्षण आदि करना सम्भव भी नहीं है। परन्तु साथ ही साथ यह बात भी सही है कि यदि अप्राकृत व्यक्तित्वो का अध्ययन मनोविज्ञान कर सकता है तो धार्मिक व्यक्तित्वों का करना भी असम्भव नही।

कुछ भी हो, जब कभी हम धार्मिक अनुभवों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करने चलते है तो कुछ ऐसे रहस्यवादियों के अनुभव हमारे सामने आते है जिन्हें अप्राकृत की संज्ञा देना तो दूर है, वरन् जिनके बताये हुए मार्ग पर चलकर संसार के असंख्य मनुष्य युगों से शान्ति और सुख का अनुभव कर रहे है, जिनसे प्रेरणा पाकर अप्राकृत भी प्राकृत बन रहे है। ईश्वर दूत अथवा अवतार श्रेणी के ऐसे व्यक्ति निश्चय ही रहस्यवाद के इतिहास में ऐसे उदाहरण हैं, जिनके अनुभवों के मनोवैज्ञानिक अध्ययन से रहस्यवाद तथा धर्म

की साथकता पर हम बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त कर सकते ह; लेकिन दुर्भाग्यवश इनके अनुभव अधिकाश क्षेत्र मे वैज्ञानिक ढग मे लिपिबद्ध नही हैं। परम्परा, किम्वदन्तियो अथवा धार्मिक ग्रन्थो के विवरणो को हम वैज्ञानिक अध्ययन का आधार नही मान सकते। डॉ० मिश्र ने इस कठिनाई को देखते हुए आधुनिक युग के एक ऐसे प्रमुख रहस्यवादी को चुन लिया है जिनकी गणना धार्मिक युग पुरुषो में संसार भर मे इतने ही कम समय के अन्दर ही की जाने लगी है। वे है श्री रामकृष्ण। श्री रामकृष्ण धार्मिक अनुभवो का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करने मे सबसे बड़ी सुविधा की बात यह है कि उनके जीवन के अन्तिम प्राय. पाँच वर्षों की घटनाएं बहुत ही वैज्ञानिक ढग से लिपिबद्ध हैं।

श्री महेन्द्र नाथ गुप्त (श्री म) ने अपनी 'डायरी' के आधार पर "श्री रामकृष्ण कथामृत" की जो रचना की है, वह वास्तव में धार्मिक साहित्य मे एक अमर कृति है। इसी ग्रन्थ मे श्री रामकृष्ण की रहस्यानुभूतियो का विशद विवरण उपलब्ध है और उस अवस्था मे श्री रामकृष्ण द्वारा कही गयी बाते भी बिना किसी पूर्वाभास या मन्तव्य के, सही-सही लिपिबद्ध मिलती है।

डॉ० हृदय नारायण मिश्र ने श्री रामकृष्ण के धार्मिक अनुभवों का जो विश्लेषण किया है, वह वास्तव मे बहुत ही सराहनीय कार्य है। डॉ० मिश्र का यह कहना बहुत ही सही है कि मनोवैज्ञानिक प्राकृत और अप्राकृत मे भेद करते है किन्तु अति प्राकृत व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे उनकी जानकारी अभी तक सीमित है। प्राकृत मनुष्य की कसौटी से विचार करने पर निश्चय ही ईसा, मुहम्मद, नानक या श्री रामकृष्ण को हम 'प्राकृत' नहीं कह सकते। लेकिन उनके व्यक्तित्व मे कुछ ऐसे तथ्य भी सम्मिलित है, जिन्हे हम अप्राकृत भी नही कह सकते और कुछ ऐसे तथ्य भी है जो अप्राकृत न होते हुए भी प्राकृत मनुष्य के लिए उन्हे अपने अन्दर विकसित करना असम्भव-सा प्रतीत होता है, यद्यपि प्रत्येक मनुष्य उन्हे विकसित करना जीवन के आदर्श के रूप मे स्वीकार करता है। दया, प्रेम, सहिष्णुता, क्षमा आदि महान् गुण इस मात्रा मे इन महान् रहस्यवेत्ताओ मे देखने को मिलते है, जिनसे यह कहना कि वे मानसिक रोगो के शिकार थे, पागल का प्रलाप मात्र होगा। ऐसे व्यक्तियों को निश्चय ही हमे अतिप्राकृत कहना पड़ेगा।

वस्तुत: आधुनिक मनोविश्लेषणात्मक मनोविज्ञान मनुष्य के व्यक्तित्व की गहराई मे पहुँचने मे पर्याप्त मात्रा में सफल रहा है, इसमे कोई सन्देह नहीं, लेकिन मानवीय व्यक्तित्व की अतल तल मे डुबकी लगा कर फ्रायड आदि ने

मनुष्य में जिस चीज को ढूढ निकाला वह है पशुत्व। मनुष्यत्व के साथ पशुत्व सदैव से रहा है और वह अब भी है, इसे कोई इनकार नही कर सकता; परन्तु मानवीय व्यक्तित्व का एक दूसरा पक्ष भी है जिस ओर अभी तक पाश्चात्य मनोविज्ञान ने पहुँचने का प्रयास नहीं किया। मनुष्य के व्यक्तित्व के दूसरे छोर पर यदि हम पहुँचने का प्रयास करे तो हमे यह भी मालूम होगा कि पशुत्व के साथ-साथ मनुष्य मे देवत्व भी है। एक ओर पशु और दूसरी ओर देवता-दोनों के बीच की स्थिति मनुष्य की है। मनुष्य के लिए दोनों सम्भावनाएँ है। चाहे वह पूर्णतया पशुवत् बन जाय अथवा वह ईश्वर बन जाय। भारतीय सस्कृति ने मनुष्य मे दिव्यत्व को विकसित करना ही मनुष्य जीवन का उद्देश्य समझा था। आज की सभ्यता सम्भवत उसके विपरीत दिशा में चल रही है।

सभ्यता के इस सकट की घडी मे डॉ० मिश्र का यह ग्रन्थ केवल एक विषय विशेष के लिए ही महत्त्वपूर्ण तथा उपयोगी नही है, बल्कि वर्तमान सभ्यता की अधी दौड में यह ग्रन्थ एक महान् दिग्दर्शक है, इसमे कोई सन्देह नही।

डॉ० अभयचन्द्र भट्टाचार्य
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, दर्शन शास्त्र विभाग
के० एन० पोस्ट ग्रेजुएट कॉलेज, ज्ञानपुर (वाराणसी)

१८ फरवरी, १९७३

प्राक्कथन

धर्म तथा रहस्यवाद का मनोवैज्ञानिक अध्ययन अत्यन्त रुचिकर विषय रहा है और इस सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा भी जा चुका है। कहीं पर धार्मिक अनुभवों की प्रामाणिकता सिद्ध की गयी है और कहीं इन्हें अप्राकृतिक मस्तिष्क का लक्षण भी बतलाया गया है। अधिकांश ग्रन्थों में धार्मिक व्यक्तियों अथवा रहस्यवादियों (जैसा कि वे सामान्यतया समझे जाते हैं) के मनोदैहिक लक्षणों का स्पष्ट रूप से विश्लेषण किया गया है, ताकि उनकी तुलना असामान्य मनोविज्ञान के लक्षणों से सरलतापूर्वक की जा सके। इन अध्ययनों से जो निष्कर्ष प्राप्त हुए हैं, उनसे यह पता चलता है कि कुछ ही लोगों ने यह घोषित करने का दुस्साहस किया है कि रहस्यवादी पागल है, और रहस्यवाद अन्धविश्वासी और चमत्कार के पीछे दौड़ने वाले लोगों के द्वारा उन्माद रोग को गलत समझने का परिणाम है। अधिकतर ग्रन्थों में धार्मिक अनुभवों की प्रामाणिकता का ही अनुमोदन किया गया है। परन्तु यह अनुमोदन इन अनुभवों की उत्पत्ति पर आस्था के कारण नहीं किया गया, वरन् उनकी उपलब्धि की उपयोगिता के कारण। दूसरे शब्दों में धार्मिक अनुभवों की प्रामाणिकता व्यवहारवादी दृष्टिकोण से सिद्ध की गयी है।

धर्म और रहस्यवाद से सम्बन्धित अब तक जो अध्ययन हुए हैं, प्रस्तुत अध्ययन उनसे मौलिक रूप में भिन्न है। हमारा उद्देश्य चार भागों में विभाजित है। अब तक स विषय पर लिखे गये ग्रन्थ प्राय सभी प्रकार के रहस्यवादियों के अनुभवों पर आधारित रहे हैं। किसी भी विद्वान् ने वस्तुगत कसौटी निश्चित करने का प्रयास नहीं किया, जिससे केवल उन्हीं धार्मिक व्यक्तियों का अध्ययन किया जाता जो एक निश्चित अवस्था को प्राप्त हुए हैं। इसलिए यह स्वाभाविक है कि ऐसे अध्ययनों मे धार्मिक व्यामोही (अथवा विकृत मस्तिष्क) के सम्मिलित होने की सम्भावना सदैव बनी रहती है। हमने एक वस्तुगत कसौटी निश्चित करने का प्रयत्न किया है। अर्थात् हमने अपने अध्ययन-क्षेत्र के अन्तर्गत केवल उन्हीं लोगों को चुना है, जिन्होंने मानव जाति को इतना प्रभावित किया है कि वे पैगम्बर अथवा अवतार के रूप में मान्य हुए हैं तथा सर्वग्रासी काल की चुनौतियों पर विजय प्राप्त करने और आगे आने वाली

पीढ़ियों में धार्मिक प्रेरणा जागृत करने में समर्थ हो सके हैं। अध्ययन की स्पष्टता तथा उसे और अधिक वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान करने के लिए श्री रामकृष्ण के जीवन को एक ठोस आधार के रूप में ग्रहण किया गया है—जिनके जीवन के सम्बन्ध में अन्य धार्मिक युग-पुरुषों की अपेक्षा अधिक ऐतिहासिक तथ्य उपलब्ध है, साथ ही सार्वभौमिक मान्यता प्राप्त करने तथा विध्वंसी समय पर विजय प्राप्त करने में उनकी क्षमता किसी अर्थ में कम नहीं है।

अध्ययन में श्री रामकृष्ण को विशेष रूप से ग्रहण करने का कारण, उनके सम्बन्ध में उपलब्ध तथ्यों की ऐतिहासिक असंदिग्धता है। धर्म-मनोविज्ञान के लेखकों द्वारा उपयोग में लाए गये तथ्य अधिकांश रूप में जन-श्रुति पर आधारित होते हैं—जो रहस्यवादियों के जीवन-काल में लिपिबद्ध नहीं किये जाते। 'गीता' अथवा 'बाइबिल' जैसे महान ग्रन्थ भी स्मृति तथा श्रुति पर ही आधारित हैं, वे प्रत्यक्ष रूप में ठीक घटना के समय और तिथि में लिपिबद्ध नहीं किये गये है। 'श्री रामकृष्ण कथामृत' (हिन्दी अनुवाद—'श्री रामकृष्ण वचनामृत' अनुवादक श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला') में साक्षात् रूप से प्राप्त किए गये वे ही तथ्य सन्निहित हैं, जो ठीक घटना की तिथि और क्षण में लिपिबद्ध किये गये थे। श्री रोमाँ रोलाँ ने कहा है—"श्री 'म' द्वारा रचित 'श्री रामकृष्ण कथामृत' जिसमें गुरु के साथ की गयी बातें संग्रहीत है, पूर्ण रूप से विश्वसनीय है और इसकी यथार्थता 'स्टेनोग्राफिक' है।" श्री एम० एन० घोष का भी कथन है, "जिस ढंग से 'कथामृत' में श्री रामकृष्ण के कथन संग्रहीत है, यदि इसी ढंग से कृष्ण, बुद्ध, जेसस, मुहम्मद, नानक तथा चैतन्य के सभी कथन संग्रहीत होते तो विश्व के लिए वह एक अनुपम निधि होती।"[1]

ग्रन्थ में इस विषय पर लिखे गये दूसरे ग्रन्थों की भाँति अपनी प्रयोजन-सिद्धि के लिए धार्मिक अनुभवों की मनमानी छँटाई नहीं की गयी है, जिससे कि वे आसानी से असामान्य मनोविज्ञान के उदाहरण बन सकें। इसके विपरीत हमने श्री रामकृष्णादि सर्वमान्य युग-पुरुषों के वैचित्र्यमय जीवन तथा धार्मिक अनुभवों का पहले विश्लेषण किया है, तत्पश्चात् यह ज्ञात करने का प्रयास किया है कि उनमें मनोविकार के लक्षण विद्यमान है या नहीं।

अन्त में हमारे अध्ययन का ढंग इस प्रकार है, सर्वप्रथम धार्मिक महापुरुषों के मनोदैहिक लक्षणों का दिग्दर्शन कराना, तत्पश्चात् यह अनुसन्धान

१. दी इन्डियन नेशन, १६ मई, सन् १९०२, श्री श्री रामकृष्ण कथामृत (बंगला) पृष्ठ ११ (भूमिका) पर उद्धृत।

करना कि क्या वे असामान्य कहे जा सकते हैं ? यह अब तक की अध्ययन प्रणालियों की अपेक्षा निश्चित रूप में अधिक लाभप्रद होगा। हम आशा करते हैं कि इस प्रकार के अध्ययन से विद्वद्वर्ग सहमत होगा कि ऐसे धार्मिक महापुरुषों के जीवन की अनेक अस्वाभाविक तथा रहस्यमय घटनाएँ असामान्य मनोविज्ञान के आधुनिकतम सिद्धान्तों द्वारा भी व्याख्यायित नहीं की जा सकतीं। इससे यह भी सिद्ध होगा कि धार्मिक अनुभवों का केवल व्यावहारिक मूल्य ही नहीं है, जैसा कि अब तक समझा जाता रहा है, वरन् इसका आन्तरिक मूल्य और निजी महत्व भी है।

यद्यपि श्री रामकृष्ण के अद्भुत एवं वैचित्र्यमय जीवन के तथ्यों के विवेचन का आधार पूर्ण रूप से मनोविज्ञान ही रहा है, तथापि जहाँ मनोवैज्ञानिक विवेचन सम्भव नहीं हो सका है, वहाँ हमने दार्शनिक या परामनोवैज्ञानिक मतों का भी आश्रय लिया है। ऐसा इसलिए किया गया कि इन आधारों पर उन तथ्यों की व्याख्या अपेक्षाकृत अधिक सन्तोषजनक हो सकती है।

सम्भवतः धर्म-मनोविज्ञान पर हिन्दी भाषा में यह पहली पुस्तक है। अतः अंग्रेजी भाषा के विशिष्ट शब्दों का हिन्दी रूपान्तरण करना कठिन एवं दुर्बोध प्रतीत हुआ है। इस कठिनाई को ध्यान में रखते हुए हमने अंग्रेजी के उन्हीं रूपान्तरित हिन्दी शब्दों का उपयोग किया है, जिन्हें प्रचलित मनोविज्ञान की हिन्दी पुस्तकों में ग्रहण किया गया है। साथ ही अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से पुस्तक के अन्त में हिन्दी-अंग्रेजी शब्द-सूची भी दे दी गयी है। निःसन्देह हिन्दी में होने के कारण प्रस्तुत पुस्तक धर्म-दर्शन के हिन्दी-भाषी स्नातक एवं स्नातकोत्तर स्तर के विद्यार्थियों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी। विभिन्न विश्व विद्यालयों में धर्म-दर्शन स्नातक एवं स्नातकोत्तर स्तर के विद्यार्थियों के लिए दर्शन-शास्त्र के अन्तर्गत एक लोक प्रिय विषय है और इस विषय पर हिन्दी में सम्भवतः दो-तीन पुस्तकें ही प्रकाशित हुई हैं। यह शोध-प्रबन्ध सन्दर्भ-ग्रन्थ की दृष्टि से उपयोगी होगा और धार्मिक महापुरुषों के आकर्षक जीवन की विवेचना के कारण सामान्य पाठकों, जिज्ञासुओं और धर्म के अनुयायियों के लिए भी रुचिकर होगा। पाठक और विद्वद्वर्ग ही इस सम्बन्ध में ठीक निर्णय दे सकेंगे।

पुस्तक-लेखन में मैंने जिन पाश्चात्य एवं प्राच्य लेखकों की पुस्तकों और उनके विचारों का आश्रय लिया है, उनके प्रति कृतज्ञ हूँ। यदि कहीं मैं किन्हीं

के विचारों से सहमत नही हो सका हूँ तो इसमे मेरा कोई दुराग्रह नहीं है, वरन् विषय के विवेचन की माँग है, यह समझा जाय।

उन गुरुजनो तथा आदरणीय महानुभावों के प्रति मेरी कृतज्ञ-भाव-सलिला सहज रूप से प्रवाहित होती है, जिनके सहयोग और अनुकम्पा से लेखन और प्रकाशन-कार्य सम्भव हो सका है। सर्वप्रथम इस ग्रन्थ के आदि प्रेरणा-स्रोत गुरोर्गुरु श्री स्वामी नित्यात्मानन्द जी महाराज (संस्थापक तथा अध्यक्ष श्रीरामकृष्ण श्री 'म' प्रकाशन ट्रस्ट, चण्डीगढ) के प्रति मैं चिर आभार व्यक्त करता हूँ। उन्ही के आशीर्वाद तथा कृपा-स्नेह से मेरे भीतर लगन-ली प्रदीप्त हुयी। परम पूज्य स्वामी जी ने 'आशीर्वचन' लिख कर पुस्तक के मूल्य को द्विगुणित कर दिया है। मै इसके लिए सतत नमन ही करता हूँ।

पितृ-कल्प गुरुवर डॉ० अभय चन्द्र भट्टाचार्य (प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, दर्शन विभाग, काशी नरेश राजकीय पोस्ट ग्रेजुएट कॉलेज ज्ञानपुर-वाराणसी) के प्रति आभार प्रदर्शित करना एक औपचारिकता ही प्रतीत होती है, क्योंकि जिनके चरणों में बैठकर मैंने विद्यार्जन किया, निर्देशन मे शोध-कार्य, संरक्षण मे अध्यापन कार्य कर रहा हूँ और सर्वोपरि जिनके साथ तना घुल-मिल गया हूँ कि आभार प्रदर्शन बिलकुल कृत्रिम लगता है। दर्शन-जगत् मे विचारो के और वाणी के पडित बहुत हो सकते है, है, परन्तु विचार, वाणी और व्यवहार तीनो दृष्टियो से दर्शन के धनी बहुत कम मिलते है। श्री रामकृष्ण से आकठ ओतप्रोत डॉ० साहब का जीवन विचार, वाणी और व्यवहार अर्थात् दर्शन, धर्म और पाण्डित्य से पूर्ण है। उन्होंने श्री रामकृष्ण को जीवन मे उतारा है। ऐसा ही व्यक्ति श्री रामकृष्ण के विषय में कुछ सारपूर्ण वस्तु दे सकता है। आमुख इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। बस। तना ही।

श्री स्वामी वीरेश्वरानन्द जी (अध्यक्ष श्री रामकृष्ण मठ-बेलूड़) द्वारा प्राप्त शुभकामना के लिए मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।

दर्शन-जगत के मनीषी डॉ० भीखन लाल आत्रेय से पुस्तक के सम्बन्ध मे 'दो शब्द' प्राप्त करके मै धन्य हो गया। मैं डॉ० साहब का चिर आभारी हूँ।

श्री स्वामी प्रभवानन्द (संचालक-वेदान्त सोसाइटी, सेन फ्रान्सिसको) तथा श्री स्वामी रग नाथानन्द (श्री रामकृष्ण मिशन इन्स्टीट्यूट ऑफ कल्चर, कलकत्ता) से पुस्तको के चयन तथा श्री रामकृष्ण के जीवन के गुह्य तथ्यों से सम्बन्धित बहुमूल्य सुझाव उपलब्ध हुए है। एतदर्थ इन महापुरुषों का मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ।

श्रद्धेय गुरु डॉ० अवधविहारी लाल कपूर (भूतपूर्व प्रधानाचार्य राजकीय महाविद्यालय, रामपुर) जिनका जीवन ही धर्ममय है, से मेरे जीवन का पथ आलोकित हुआ है। उनके प्रति मैं किन शब्दों में आभार प्रकट करूँ, समझ मे नही आता।

महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराज, सत साहित्य के मर्मज्ञ पं० परशुराम चतुर्वेदी तथा डॉ० एन० के० देवराज, (अध्यक्ष- दर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी) इन विद्वानो से अनेक सुझाव प्राप्त हुए हैं। अतएव इन महानुभावो के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट हुए विना कैसे रह सकती है ?

आदरणीय गुरुदेव श्री विश्वम्भर नाथ शर्मा, जो सच्चे अर्थों में दार्शनिक है और जिन्होंने मेरे जीवन मे एक गति दी है, तथा उनका एक स्वप्न जिसको मैं साकार कर सका हूँ, के प्रति भी मैं हार्दिक रूप से कृतज्ञ हूँ।

श्रद्धेय गुरु डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय एव भाई डॉ० विभु मिश्र (हिन्दी विभाग, काशी नरेश राजकीय महाविद्यालय, ज्ञानपुर, वाराणसी) का मैं चिर आभारी हूँ। इन विद्वानों ने अपना अमूल्य समय देकर ग्रन्थ की भाषा का परिष्करण एवं परिमार्जन किया है।

पुस्तक-प्रकाशन के लिए सुहृद श्री राजपति पाण्डेय एम० ए० (इतिहास-हिन्दी) बी० एड० और अनुज श्री प्रभुनाथ मिश्र एम० काम, का मैं अत्यधिक आभारी हूँ। इनसे पुस्तक लिखने, प्रकाशित कराने की ही प्रेरणा नही, जीवन जीने की कला और अन्तर्दृष्टि भी मिली है। दोनों ही व्यक्ति धार्मिक अनुभवों के लोलुप हैं, साधक है, इसलिए अनुकरणीय हैं। श्री सूर्यप्रकाश 'सूरज' तथा श्री अशोक कुमार जी से जो सहायता मुझे प्राप्त हुई है, उसे मैं भूल नहीं सकता। श्री प्रमोद शकर दीक्षित एम० ए० (प्रकाशक—श्री जगबन्धु प्रकाशन, ज्ञानपुर वाराणसी) भी हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं।

अन्त में श्री कमलाकान्त पाठक का मैं बहुत-बहुत आभारी हूँ, जिन्होंने अनेक कठिनाइयों के होते हुए भी यथाशीघ्र ही इस पुस्तक का प्रकाशन-कार्य किया।

हृदय नारायण मिश्र

१२, फरवरी; १९७२
श्री रामकृष्ण भवन,
ज्ञानपुर (वाराणसी)

विषय-सूची

अध्याय	विवरण	पृष्ठ
१.	**रहस्यवाद और रहस्यवादी**	१
	रहस्यवाद क्या है	१
	धर्म तथा रहस्यवाद	३२
	देवदूत और अवतार क्या वे रहस्यवादी हैं ?	३८
	उच्चस्तर के रहस्यवादियों की वस्तुगत कसौटियाँ	४२
२.	**कुछ उच्च स्तर के रहस्यवादी**	४६
	क्राइस्ट–ईसाई धर्म तथा न्यू टेस्टामेन्ट	५८
	मुहम्मद साहब तथा कुरान	६३
	हरदास	६६
	गुरु नानक तथा गुरु ग्रन्थ साहिब	६८
	महाप्रभु चैतन्य-चैतन्य चरितामृत	७२
	श्री रामकृष्ण परमहंस तथा रामकृष्ण वचनामृत	७५
३.	**श्री रामकृष्ण तथा अन्य धार्मिक महापुरुष**	८१
	प्रारम्भिक जीवन अस्वाभाविक और असाधारण	८५
	साधना काल अथवा सत्यान्वेषण	८६
	जीवन काल में चरमकृच्छ साधना एव कठोरता, अनुयायियों की सख्या। अल्प परन्तु उत्तरकाल में एक आन्तरिक शक्ति के सहारे उनका प्रचार	९३
४.	**वंश परम्परा, जन्म तथा प्रारम्भिक जीवन**	९९
	परम्परा तथा वातावरण	१०१
	व्यक्तित्व के मुख्य गुण	१०८
	छः वर्ष की अवस्था मे प्रथम समाधि	१०९
	मनोवैज्ञानिक पर्यालोचना	१११
५.	**आध्यात्मिक अन्वेषण**	१२९
	ईश्वर दर्शन के लिए परम व्याकुलता प्रथम दर्शन	१३२
	साधना-शारीरिक कृच्छ साधना	१३५
	आध्यात्मिक विवरण में शारीरिक दशा	१३६
	मनोवैज्ञानिक पर्यालोचना	१४८

अध्याय	विवरण	पृष्ठ
६.	**उत्तरकालीन जीवन**	१८२
	मनोवैज्ञानिक पर्यालोचना	१९३
७.	**वैवाहिक जीवन**	२०७
	मनोवैज्ञानिक पर्यालोचना	२१४
८.	**विभिन्न समाधि का मनोविकृति सम्बन्धी अध्ययन** ..	२२५
	श्री रामकृष्ण की विभिन्न समाधि की दशाएँ ..	२३०
	क्या इन्हें (समाधि) उन्मादिक अथवा स्कीजोफ्रेनिक कह सकते है ?	२३६
	पर्यालोचना	२३८
९.	**कहां तक मनोविज्ञान व्याख्या नहीं कर सका ?** ..	२५१
१०.	**उपसंहार**	२५६
	१—धार्मिक अनुभवों की प्रामाणिकता	२५६
	२—व्यावहारिक उपयोगिता आन्तरिक मूल्य ..	२७७
	संदर्भ ग्रन्थ सूची	२८५
	अंग्रेजी पुस्तकें	२८५
	उर्दू पुस्तकें	२९२
	अरबी पुस्तकें	२९२
	हिन्दी पुस्तकें	२९२
	संस्कृत पुस्तकें	२९६
	जरनल पत्रिका एवं शब्दकोश	२९८
	हिन्दी अंग्रेजी—शब्द सूची	३०१
	अनुक्रमणिका	३०५

1

रहस्यवाद और रहस्यवादी

रहस्यवाद क्या है ?

अनन्त और सान्त, आदर्श और यथार्थ, प्रज्ञा एव वासना, आध्यात्मिक एव भौतिक, शान्ति एव अशान्ति, बन्धन एव मोक्ष के बीच सतत् सघर्ष रहा है। यही संघर्ष आत्म-विकास और आत्मस्फुरणा का पहला श्रम है। मानव मे जो आबद्ध है वह उडना चाहता है क्योंकि वह, अनन्त है, आदर्श एव पूर्ण है। वह वासनापूर्ण जीवन की सीमा मे आबद्ध कैसे यही उसकी व्यग्रता है। इसीलिए वह वही होना चाहता है जो वह वास्तव मे है। मानव मे विवेक शक्ति है। प्रज्ञा ने सूक्ष्म दृष्टि दी है। और तो क्या वह आत्म चैतन्य है। अपने को वासनामय जीवन और इच्छाओं से ऊपर उठाता है।

यदि हम आध्यात्मिक या धार्मिक जीवन और पूर्ण रूप से मूल प्रवृत्यात्मक जीवन (पशु जीवन) मे अन्तर करे तो देखेंगे कि धार्मिक जीवन आत्म-चैतन्य ही नही वरन् आत्मनिश्चयी भी होता है। वह बाह्य शक्तियों द्वारा नही बनता बल्कि उसके लिए दृढ सकल्प तथा विशिष्ट चेतना की आवश्यकता होती है। परन्तु इसका अर्थ यह भी नही है कि आध्यात्मिक जीवन पूर्णतया स्वरचित है या इसके लिए कोई शर्त या सीमा नही है। वास्तव मे हमारे भीतर या बाहर कुछ ऐसे तत्त्व वर्तमान है, जो आन्तरिक जीवन के मूल तत्त्व हैं। इन्ही तत्त्वों को पाना हमारा श्रेय एवं प्रेय है। यही हमारा आदर्श है। स्वतन्त्र आत्म-प्रकाशन और बौद्धिक संकल्प इसके साधन हैं। वे तत्त्व वर्तमान जीवन से दूर है, उन पर विजय पाना हमारा लक्ष्य है। आत्म-विकास, स्वात्मज्ञान और आत्मसाक्षात्कार अर्थात् मानव का दैवीकरण तथा दैवी सत्ता का मानवीयकरण करना ही हमारा ध्येय है। यही है हमारी पूर्णता, स्वतन्त्रता, आदर्श, मोक्ष और निर्वाण। मानव जीवन की यह उत्तम और अन्तिम पिपासा है। इसीलिए वह सान्त होते हुए अनन्त की आकाक्षा करता है। अज्ञान से ज्ञान (आत्म साक्षात्कार) और रमण (वासनापूर्ण

जीवन) से जीवन (स्वतन्त्र एवं सत्ता में परिपूर्ण जीवन) की अभीप्सा करता है, और तभी कहता है —

'असतो मा सद्गमय।
तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्माऽमृतम्गमय।'

वह प्राकृतिक और वासनापूर्ण जीवन से व्यग्र हो आत्म-निश्चय, दृढ संकल्प, बुद्धि, प्रज्ञा और सहज ज्ञान के द्वारा, अनन्त की चिर शान्तिमयी मृदुल गोद में आसीन हो जाता है। इस चरम सत्ता के साथ समागम की अवस्था को हम मानवीय भाषा में कई संज्ञा प्रदान करते है। इसके लिए प्रचलित शब्द 'रहस्यवाद' है, और इस अवस्था को प्राप्त महापुरुष को 'रहस्यवादी' कहा जाता है।

परन्तु रहस्यवाद शब्द के विभिन्न अर्थ ग्रहण किए जाते है और इसके साथ विभिन्न विजातीय मतो और दृष्टिकोणो को भी प्रश्रय दिया जाता है। वास्तव में इस परमावस्था का क्या अर्थ होता है? 'रहस्यवाद' शब्द इसके लिए समीचीन है या नही? यदि है तो इसके लिए प्राप्त मान्यताओं में कौन-सी मान्यता हमारे लिए अभिप्रेत है? इस पर हमें विस्तारपूर्वक विचार करना है। सर्वप्रथम इसके शाब्दिक अर्थ पर ही विचार कर लेना आवश्यक है।

'रहस्यवाद' दो शब्दो से मिल कर बना है—'रहस्य' तथा 'वाद'। 'रहस्य' शब्द रहस् पर निर्भर है जो 'रह' धातु से 'असुन्' प्रत्यय लगा कर बना कहा जा सकता है। 'रहस्' का अर्थ सामान्य रूप से 'एकान्त', 'विजन', 'गुह्य' या 'विविक्त' होता है,[1] जिससे साधारण रूप में अर्थ 'गोपनीयता' का ही प्रकट होता है। कुछ ग्रन्थो मे 'रहस्' शब्द का इसी अर्थ मे प्रयोग

१. रह् : (भ्वादिगणीय परस्मै पदी सकर्मक) : त्यागना,
रहस् (न०)। रम् के असुन, हकार आदेश। एकान्त, निर्जनता, विजनता, रहस्यभेद, स्त्री मैथुन। रहस्य (विशेषण)। रहस् के यत्। वह जिसका तत्त्व सहज में सब की समझ में न आ सके। (न०) गुप्त भेद, गोपनीय विषय। एक तान्त्रिक प्रयोग। किसी अस्त्र का रहस्य। किसी के चाल चलन का गुप्त भेद। गोप्य सिद्धान्त। आख्यायिन। रहस्याख्यायिन। (त्रि) गुप्त बात कहने वाला। भेद-विभेद। (पु०) किसी गुप्त भेद का प्राकट्य। संस्कृत शब्दार्थ-कौस्तुभ पृष्ठ ९३९।

हुआ है। ऋग्वेद में एक स्थान पर 'रहस्रिवागः'[1] शब्द आया है। प्रसंगानुसार जिसका अर्थ किसी माता की गुप्त क्रिया से है। इसमें प्रयुक्त 'रहस्' शब्द का अर्थ भी 'गोपनीयता' के आशय मे ही है।

गीता मे, 'योग' को कैसे प्राप्त किया जाय, इस प्रसंग में 'रहसि' शब्द का प्रयोग हुआ है—जिसका अर्थ एकान्त से है।[2] स्पष्ट है कि 'रहस्यवाद' शब्द का प्रयोग इस अर्थ में तो किया ही नही जा सकता, क्योंकि एकान्त या गोपनीय शब्द में 'वाद' जिसका अर्थ 'मत' या एक 'दृष्टिकोण' के रूप मे होता है, युक्त कर देने पर एक नया ही अर्थ होगा जो यहाँ अभिप्रेत नही है। दूसरी बात यह कि 'एकान्त, 'गुप्त' या गोपनीय मे 'वाद' का कोई अर्थ ही नहीं है। अत इसको यही छोड़ कर 'रहस्य' शब्द के दूसरे अर्थ पर विचार करना ही श्रेयस्कर होगा।

रहस्य शब्द का प्रयोग आध्यात्मिक ग्रंथों में एक दूसरे अर्थ में भी हुआ है जिसका तात्पर्य 'तत्व', 'भेद' या 'मर्म', 'गुह्य ज्ञान' या 'परमज्ञान' से है। गीता में एक स्थल पर 'रहस्य' शब्द का उपयोग किया गया है जो वास्तव मे इसी अर्थ मे है। श्री कृष्ण अर्जुन से कहते है—वही प्राचीन योग मैंने तुझे आज बताया है, और यह योग सबसे श्रेष्ठ 'रहस्य' है।[3]

यह उत्तम रहस्य ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान का समुच्चय है। एकात्मबोध है। क्योंकि नारायण मानव-जाति में सदा वर्तमान भागवत आत्मा है, वे सर्वान्तिर्यामी है।...हृद्देश के इस गुढाशय के ऊपर से जब आवरण हटा लिया जाता है और ईश्वर का साक्षात् दर्शन कर भक्त उनसे सम्भाषण करता है, उनके दिव्य शब्द सुनता है, उनकी दिव्य ज्योति ग्रहण करता है और उनकी दिव्य शक्ति से युक्त होकर कर्म करता है, तब वह भगवान मे निवास और सर्वभाव से भगवान में आत्मसमर्पण करने योग्य होता है, जिससे गीता ने 'उत्तम रहस्य' माना है।[4] श्री अरविन्द ने 'रहस्य' शब्द को जिस अर्थ में लिया है वह पूर्ण आध्यात्मिक ही है। इसी चरम सत्ता के रहस्य को दृष्टि

१. ऋग्वेद, २–२९–१।
२. योगी युंजीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥६–१०॥
३. स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥४–३॥
४. अरविन्द-गीता प्रबन्ध, प्र० भा० पृ० ३११।

देखने से यही ज्ञात होता है कि 'मिस्टिसिज्म' एक ऐसा ज्ञान या ऐसी क्रिया है जो रहस्यमयी हो, परन्तु यह रहस्यमयता यहाँ किसी भेद-विभेद के अर्थ में नहीं है जैसा कि हम पहले देख चुके हैं। यह तो आध्यात्मिक क्षेत्र में तत्त्वज्ञान, परमज्ञान या गूढ़त्त्व के लिए है—जिसको गीतादि धर्म ग्रंथों के अनुसार स्पष्ट किया गया और पाश्चात्य साधकों के लिए भी ऐसे ही ज्ञान के सम्बन्ध में इसका प्रयोग होता है। यहाँ हमें रहस्यवाद का कुछ अन्य अर्थ नहीं ग्रहण करना है। यद्यपि रहस्यवाद को कुछ लोगों ने जादू तथा तन्त्र विद्या आदि के रूप में भी ग्रहण किया है जो स्पष्टतः वर्तमान अर्थ में अप्रासंगिक एवं निराधार है।

निष्कर्ष यह कि आध्यात्मिक चर्चा का विषय 'अतीन्द्रिय ज्ञान' ही रहस्यवाद है और इस ज्ञान का अनुभव करने वाला, तत्त्वद्रष्टा ही रहस्यवादी है।

जब तक धार्मिक या आध्यात्मिक व्यक्ति सामान्य भाव भूमि पर रहता है तब उसके अनुभव उतने गहन नहीं होते, परन्तु जब वही व्यक्ति चरम सत्ता या गूढ़ तत्त्व का साक्षात् दर्शन या अनुभव कर लेता है तब वह सामान्य स्तर पर आकार सामान्य भाषा और क्रिया कलापों द्वारा उस अनुभव को प्रकट करने में असमर्थ हो जाता है। यही कारण है कि हमें चूंकि उस गूढ़ ज्ञान का सामान्य रूप में स्पष्ट ज्ञान नहीं होता इसलिए ऐसे ज्ञान और अनुभव को हम 'रहस्य का विषय' या 'रहस्यवाद' कहते हैं और उसके अनुभव कर्ता को 'रहस्यवादी'।

अब हम रहस्यवाद के लक्षणों या सामान्य विशेषताओं पर दृष्टिपात करते हुए एक निश्चित परिभाषा पर पहुँचने का प्रयास करेंगे और तत्पश्चात् रहस्यवाद की उन कसौटियों पर विचार करेंगे, जिनके आधार पर उसे अन्य मतों से सरलतापूर्वक विलग किया जा सकता है।

संसार में विपुल रहस्यवादी साहित्य उपलब्ध है। पाश्चात्य एवं प्राच्य रहस्यवादियों का अनुसंधानात्मक अध्ययन करके विद्वान् लेखकों ने रहस्यवाद की कुछ विशेषताओं पर प्रकाश डाला है परन्तु उनमें स्पष्टता और पूर्णता दृष्टिगोचर नहीं होती। यही नहीं भिन्न-भिन्न लेखकों द्वारा दी गई विशेषताओं की सूचियों के बीच कोई सम्बन्ध भी दृष्टिगत नहीं होता। यदि कहीं समता है भी तो अस्पष्ट रूप में। हमारे विचार से अब तक इस कार्य को पूर्ण, स्पष्ट, वैज्ञानिक, शोधपूर्ण एवं निरपेक्ष दृष्टि से डब्ल्यू० टी० स्टेस ने ही किया है। उन्होंने क्रिश्चियन (कैथोलिक तथा प्रोटेस्टैण्ट), हिन्दू, सूफी, बौद्ध

यहूदी आदि सभी धर्मों के रहस्यवादियों के जीवन, अनुभवों तथा कथनो के आधार पर उनके अनुभवों के बीच निहित समानता को प्राप्त करने का प्रयास किया है। उन्होंने कुछ उदाहरण इस प्रकार के भी दिये है जो किसी धर्म या मत से सम्बन्ध नहीं रखते साथ ही वे आधुनिक रूप में भी हैं, और इस बुद्धिवादी युग के ही प्रतीक है; परन्तु आध्यात्मिक रूप मे, निरपेक्ष दृष्टिकोण से तत्त्वद्रष्टा हैं। उदाहरण के लिए उन्होंने रोम के प्लोटिनस अमेरिका के एक साधक जिन्हे एन० एम० कहा जाता है, इंग्लैण्ड के आधुनिक व्यक्ति जे० ए० साइमण्ड्स और भारत के आधुनिक रहस्यवादी श्री रामकृष्ण परमहंस को लिया है। स्टेस ने अपने से पहले दिए गए विभिन्न लेखकों के रहस्यवाद के सामान्य लक्षणो में सामंजस्य नही प्राप्त किया। इसलिए उन्होने उनको सार्वभौमिक या सामान्य लक्षणों के रूप मे स्वीकार नहीं किया है। उदाहरण के रूप मे हम यहाँ जेम्स, ब्यूक तथा सुजुकी द्वारा दी गई विशेषताओं की सूची का उल्लेख करेंगे।

जेम्स के अनुसार रहस्यवाद की चार विशेषताएँ है:—

१. **अनिवर्चनीयता**—रहस्यवादात्मक अनुभवों को शब्दों में अभिव्यक्त नही किया जा सकता।

२. **सत्यता का अनुभव**—ऐसे अनुभवों में अनुभव करने वाले को कोई सन्देह नही रहता।

३. **क्षणिकता**—रहस्यवाद के अनुभव क्षणिक होते है। एक या दो घण्टे से अधिक नहीं टिकते।

४. **निष्क्रियता**—अनुभव की पूर्णावस्था में साधक को अपनी क्रियाओं के लिए कोई प्रमुख स्थान नही रहता।[1]

दूसरी सूची आर० एम० ब्यूक की इस प्रकार है:

(१) आत्मगत प्रकाश (२) नैतिक उच्चता, (३) बौद्धिक सम्बद्धता, (४) अमरता का ज्ञान (५) मृत्यु के भय का लोप और (६) आकस्मिकता।[2]

यद्यपि इन विशेषताओं से जेम्स द्वारा दिए गए लक्षणों का कोई विशेष साम्य दृष्टिगोचर नही होता, तथापि उक्त विशेषताएँ रहस्यवादी अनुभवों के अन्तर्गत कुछ अंशो में आ सकती हैं।

---

१. जेम्स, वेराइटीज ऑफ रिलीजस एक्सपीरियन्स, पृष्ठ ३७१—२।

२. ब्यूक, कास्मिक कान्सस्नेस, पृष्ठ ७३—७३, ७९। स्टेस, मिस्टिसिज्म एण्ड फिलासफी, पृष्ठ ४४ पर उद्धृत।

तीसरी सूची डी० टी० सुजुकी की है जिन्होंने निम्नलिखित विशेषताएँ दी हैं :—

(१) असम्प्रेषणीयता, (२) प्रातिमिक सूझ, (३) अविकार, (४) स्वीकृति, (५) परे का ज्ञान, (६) अवैयक्तिक चेष्टा, (७) उच्चता की भावना, (८) क्षणिकता (व्यूक की आकस्मिकता से साधारण रूप मे समानता।)[१]

यहाँ इन सभी विशेषताओं का विश्लेषणात्मक रूप से विवेचन करना आवश्यक नही प्रतीत होता, क्योंकि इन तीनों सूचियों मे समानता दृष्टिगत नही हो रही है। अत' न्हें छोड़ कर स्टेस द्वारा निर्धारित सामान्य विशेषताओं पर ही विचार करना उचित होगा।

स्टेस ने विभिन्न धर्मों, मतों और सस्कृतियों से रहस्यवादियों के अनुभवो का विश्लेषणात्मक ढंग से अध्ययन करके कुछ सामान्य लक्षणों को बतलाया है। उसका कहना है कि ये लक्षण ऐतिहासिक समयों, स्थानों, और सस्कृतियों मे एक समान पाये जाते हैं।

स्टेस ने रहस्यवाद को दो रूपों मे विभाजित करने का प्रयास किया है—एक को वे अन्तर्मुखी कहते है और दूसरे को बहिर्मुखी।[२] अन्तर्मुखी को 'अन्तस्थ पद्धति' कहते है और बहिर्मुखी को 'बाह्यस्थ पद्धति'। इन दोनों को क्रमश. अन्तर्दर्शन तथा बहिर्दर्शन भी कहा जा सकता है। इन दोनों मे मुख्य अन्तर यह है कि जहाँ बहिर्मुखी अपनी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा बाह्य की ओर देखता है वहाँ अन्तर्मुखी मानस मे देखता है। दोनों का अन्तिम लक्ष्य परम सत्ता से एकत्व या तादात्मय प्राप्त करना है।[३] यदि विशद रूप में देखा जाय तो इन दोनों की पद्धतियों में पर्याप्त भिन्नता है। यद्यपि लक्ष्य तो एक ही है। अन्तर्मुखी होने का अर्थ यह है कि ऐसे लोगों को अपने बाह्येन्द्रिय विषयों का कोई ज्ञान नहीं होता। इनके भीतर अपनी सारी संवेदनाओं, भावनाओं एवं विचारों तक का प्रायः सर्वथा तिरोभाव सा हो जाया करता है और इस कारण सम्भवतः इन्हें अपनी संवेदनाओं, इच्छाओं अथवा संकल्पों को काम में लाने या प्रकट करने की कोई आवश्यकता ही नही रह जाती। फलत. इनकी साधारण चित्त-शक्ति कुंठित-सी हो जाती है और उसका स्थान

१. स्टेस, मिस्टिसिज्म ऐण्ड फिलासफी, पृष्ठ ४४ पर उल्लिखित।
२. अण्डरहिल तथा रूडाल्फ आटोने मिलते-जुलते रूप में एक ही बात कही है। इनके द्वारा बताए गये नाम अन्तर्मुख तथा बहिर्मुख हैं।
३. स्टेस मिस्टिसिज्म ऐण्ड फिलासफी, पृष्ठ ६१ ६२।

एक ऐसी अन्य शक्ति ग्रहण कर लेती है जिसे रहस्यवादात्मक चेतना कहा जा सकता है। परशुराम चतुर्वेदी ने कहा है कि ऐसे साधकों को यह दशा उस समय प्राप्त होती है जब उन्हें 'समाधि' लग जाती है अथवा जब वे ऐसी स्थिति मे आ जाया करते है जिसे ईसाई रहस्यवादियो ने प्रार्थनात्मक तल्लीनता अर्थात् 'प्रेयर' का नाम दिया है। ऐसी दशा की विशेषता यह है कि इसमे सारी चित्त शक्ति के केवल एक ही ओर केन्द्रित हो जाने के कारण, उसकी वृत्तियों को अन्य किसी ओर प्रवाहित होने का अवसर ही नही मिला करता। ऐसी चेतना को आध्यात्मिक शब्दावली के अनुसार सर्वातिशायी (ट्रान्सेडेण्टल) कहा गया मिलता है और कदाचित् इसी को आधुनिक पण्डितों की भाषा में 'जागतिक' (कास्मिक) भी कहा जा सकता है। ऐसी दशा में केवल विशुद्ध चेतना मात्र ही रह सकती है और इसी विलक्षण अनुभूति को रहस्यानुभूति, ईश्वरोपलब्धि अथवा निर्वाण जैसे नाम भी दिए गए मिलते हैं।[१]

बहिर्मुखी वृत्ति वाले रहस्यवादियो के विषय में हमने पहले यह देखा कि इनकी पद्धति भी अपनी वृत्ति के आधार पर ही निर्भर है। इनकी वृत्ति मे बाह्येन्द्रियाँ सतत् क्रियाशील रहती है और इनके द्वारा सारे विषय यथापूर्व अनुभव मे आते रहते है। परन्तु रहस्यवादी उनको सामान्य अनुभवों से भिन्न रूप में ग्रहण करता है। विशेषता यह है कि ऐसे रहस्यवादी सम्पूर्ण विषयो की अनेकता मे भी अपूर्व एकता का अनुभव करता है। बहुत्व को देखता हुआ भी वह पार्थक्य को स्थान नही देता। उसमे भी वह एक चरम सत्ता का भान करता है।

यही नही वह 'सत्ता' जिसको रहस्यवादी 'एक' के रूप मे देखता है वह परात्पर अथवा विश्वातीत होते हुए भी विश्व मे निहित है। वन, पर्वत, सागर, सरिता, जड़ और चेतन सभी में वही एक समाविष्ट है। बहिर्मुखी वृत्ति का रहस्यवादी इसीलिए भिन्नता मे अभिन्नता का ही दर्शन करता है। एखार्ट ने तो "ऐसी दशा मे घास के पत्तों और प्रस्तर खण्डों को 'एक' बन जाते देखा है। उसने 'चर' को तो क्या 'अचर' को भी एक ही माना है। मनुष्य अपने केवल मात्र बोध की दशा में कब रहता है? जब वह किसी एक पदार्थ को दूसरे से पृथक् देखता है और किस दशा में वह ऐसे अनुभव के स्तर से ऊपर आ जाया करता है? जब वह सब को सभी में देखने लग

१ परशुराम चतुर्वेदी. रहस्यवाद. पृष्ठ ६७।

जाता है और वह केवल बोध मात्र से ऊपर उठ जाया करता है।"[1]

यहाँ अन्तर्मुखी रहस्यवाद का विशुद्ध चेतना या चित्त-शक्ति या 'ईश्वर' दिया गया नाम ही बहिर्मुखी वृत्ति में एखार्ट के शब्दों मे 'एक' है और जिसे एक अन्य ईसाई सन्त जुकेबबोहम ने ईश्वर के रूप मे अनुभव किया है और कहा है कि, "ऐसे प्रकाश को मेरी आत्मा ने सारे पदार्थों एव प्राणियों के भीतर और घास तथा पौधों तक में पहचाना है।"[2] इसी अनुभूति तथा धारणा को गीता के 'दैवी विभूति' में भी देखा जा सकता है।[3]

यहाँ इन दोनो वृत्तियो से सम्बन्धित कुछ प्रश्नो पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। क्या ये दोनों ही प्रकार की वृत्तियाँ किसी रहस्यवादी में पायी जा सकती है? क्या अन्तर्मुखी वृत्ति की प्रधानता के कारण रहस्यवादी आत्मकेन्द्रित और पलायानवादी नही बन सकता? दूसरी ओर बहिर्मुखी वृत्ति की प्रधानता के कारण क्या साधक की अनुभूति गहरी हो सकती है? यदि अनुभूति गहरी नही हो पाती तो क्या यह सम्भव नही है कि वह केवल बाह्य काल्पनिक मनोराज्य मे ही नही रमण करता रह जायगा? और इन दोनों वृत्तियों मे कौन अधिक मौलिक है? वास्तव मे एक सच्चे एवं पूर्ण रहस्यवादी मे इन दोनों ही वृत्तियो का पाया जाना सम्भव है। बिना इन दोनों के रहस्यवादी पूर्ण रहस्यवादी नही। हाँ, इतना अवश्य है कि इनका सर्वत्र समान रूप में पाया जाना दुर्लभ है। यदि दोनो मे से कोई भी वृत्ति किसी साधक में एकान्त रूप में निहित है तो रहस्यवादी को अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त करना सम्भव नही। सम्भव तभी कहा जा सकता है जब कि दोनों का सन्तुलन हो। अत. 'उभयमुखी' होना नितान्त आवश्यक है। यही मध्य का मार्ग है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो स्पष्ट है कि दोनो वृत्तियाँ एक ही दशा विशेष के दो पहलू के रूप मे हैं। किसी एकांगी वृत्ति का होना सच्चे रहस्यवाद की कसौटी नही है।

दूसरा प्रश्न यह है कि इन दोनों वृत्तियो में से कौन अधिक मौलिक और महत्त्वपूर्ण है? अन्तर्मुखी वृत्ति को ही हम अधिक महत्त्व देगे। क्योंकि इसके

---

१. टीचिंग ऑफ द मिस्टिक्स, पृष्ठ १६, पर उद्धृत।
२. मिस्टिसिज्म एण्ड फिलासफी, पृष्ठ पर उद्धृत।
३. गीता, १०-३९।

द्वारा बहिर्मुखी वृत्ति की भी परिणति हो सकती है। यह बीज या मूल के रूप मे स्वीकार की जा सकती है। यदि चाहे कि बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी की परिणति हो तो ऐसा नही हो सकता। कारण यह है कि अन्तर्मुखी वृत्ति आधार का काम करती है। अतः यह मूलाधार अवश्य है परन्तु एकांगिकता स्वीकार नहीं। क्योंकि वह तो फिर दार्शनिकता का रंग मात्र ही रह जायगा या पलायनवादी ही। व्यवहारिकता का स्वरूप समाप्त हो जायगा। अन्तर्मुखी वृत्ति की प्रधानता तथा बहिर्मुखी वृत्ति के समन्वय के कारण जिस 'एकता' की अनुभूति होती है, अनुभव-कर्ता उसके साथ अलौकिक सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। यह सम्बन्ध स्थायी भी हो जाता और साधक का व्यक्तित्व भी भिन्न प्रकार का हो जाता है। स्टेस का विभाजन कुछ अंशों में एकांगी सा प्रतीत होता है। क्योंकि बहुत से रहस्यवादी ऐसे है जिनको एक ही वृत्ति की श्रेणी में लिखा गया है। अत. यह समीचीन नही ज्ञात होता। इतना अवश्य है कि विभाजन के द्वारा सामान्य विशेषताओं को अवश्य प्राप्त किया गया है। इसके लिए लेखक ने उनकी अनुभूतियों का विश्लेषणात्मक रूप में अध्ययन किया है और उसके आधार पर लक्षणों को स्पष्ट किया है। यहाँ स्टेस द्वारा किए गये रहस्यवादियो के विभाजन को देख लेना अप्रासंगिक न होगा। अन्तर्मुखी वृत्ति के अन्तर्गत उसने प्राचीन भारतीय रहस्यवाद से उपनिषद् को, कैथोलिक रहस्यवादियो में जॉनवेन, साइसबुक, एखार्ट, और सेन्टजॉन को, निरपेक्ष रूप में किसी धर्म या मत से असम्बन्धित प्लेटिनस तथा जे० ए० साइमण्ड को, सूफी इस्लाम से, अल गजाली तथा महमूद-साबिस्तारी को बौद्ध से 'महायान' को, अन्त में 'ज्यूइश' को भी लिया है।[1]

इसी प्रकार बहिर्मुखी वृत्ति के आधार पर भी विभाजन किया गया है। इसके लिए उसने दो कैथोलिक और एक प्रोटेस्टेंट से, एक रोम तथा एक भारत से और अमरीका के समसामयिक दो निरपेक्षावादी दृष्टिकोण के रहस्यवादियो को चुना है—जो प्रत्यक्ष रूप में धार्मिक मत-मतान्तरो से सम्बन्धित नही है, जिनकी चर्चा पिछले पृष्ठों में भी की जा चुकी है, जिनके नाम इस प्रकार है:—एखार्ट, सेन्ट टेरेसा, जैकाब बोहेम, प्लेटिनस, श्री रामकृष्ण परमहंस, एन० एम० (लेखक द्वारा कहा गया) और आर० एन० ब्यूक।[2]

१. मिस्टिसिज्म एण्ड फिलासफी, पृष्ठ ११०।

२. स्टेस, मिस्टिसिज्म एण्ड फिलासफी, पृष्ठ ६३।

इन रहस्यवादियों के आधार पर स्टेस ने जो विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है, उसे तुलनात्मक रूप में इस प्रकार देखा जा सकता है।[1]

बहिर्मुखी रहस्यवादी अनुभूतियों की सामान्य विशेषताएँ	अन्तर्मुखी रहस्यवादी अनुभूतियों की सामान्य विशेषताएँ
१—एकत्व का आभास—सभी वस्तुएँ 'एक' है।	१—एकत्व की चेतना; मात्र 'एक' शून्य, विशुद्ध चेतना मात्र।
२—आत्मगत रूप से 'एक' ही की स्थूल रूप मे प्रतीति या सभी वस्तुएँ चैतन्यमय है, इसकी स्थूल प्रतीति होती है।	२—देश-काल से परे, शुद्ध सत्ता की अनुभूति-ग्राह्य परिस्थिति से परे अनन्त सत्ता में निमग्न।
३—वस्तुनिष्ठता या वास्तविकता का ज्ञान।	३—वस्तुनिष्ठता या वास्तविकता का ज्ञान।
४—ईश्वरीय कृपा, शान्ति इत्यादि।	४—ईश्वरीय कृपा, शान्ति इत्यादि।
५—धार्मिक, पवित्र और दैवी अनुभूति।	५—धार्मिक, पवित्र, दैवी अनुभूति।
६—विरोधाभास।	६—विरोधाभास।
७—रहस्यवादियों द्वारा निर्दिष्ट अनिर्वचनीयता का होना।	७—रहस्यवादियों द्वारा निर्दिष्ट अनिर्वचनीयता का होना।

स्पष्ट है कि उक्त विशेषताओं में से दो को छोड कर शेष में समानता है। यहाँ इनकी व्याख्या वांछनीय है। बहिर्मुखी रहस्यवादी में 'एकत्व' की ही दृष्टि प्रधान है। वह विशिष्ट रूप मे अपने अनुभवों को इस रूप में प्रकट करता है—'सब कुछ एक है'। उस 'एक' को वह संसार की विभिन्न वस्तुओं द्वारा ही प्रत्यक्ष करता है या यों कहे कि जगत, में नानात्त्व को अपनी भौतिक ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष करता हुआ भी एक ही तत्त्व का आभास पाता है। इस प्रकार की दृष्टि सभी बहिर्मुखी रहस्यवादियों में मिलती है। एखार्ट का उदाहरण हम देख ही चुके हैं कि किस प्रकार वह घास के पत्तों और प्रस्तर खण्डों आदि में भी उसी 'एक' को देखता है। स्टेस ने एन० एम० तथा अन्य रहस्यवादियो के उदाहरणों द्वारा इस लक्षण को सिद्ध किया है। यहाँ एक उदाहरण श्री रामकृष्ण परमहंस का दे देना समीचीन होगा, 'मैंने एक

१. स्टेस, मिस्टिसिज्म एण्ड फिलासफी, पृष्ठ १३१-१३२।

दिन देखा कि एक ही चैतन्य सर्व है—कहीं भेद नहीं है। पहले उसने (ईश्वर ने) दिखाया कि बहुत से मनुष्य और जानवर हैं—उनमें बाबू लोग हैं, अंग्रेज और मुसलमान हैं, उसके हाथ में एक छोटी थाली है जिसमे भात है। उस छोटी थाली का भात वह सब के मुंह मे थोड़ा-थोड़ा दे गया। मैंने भी थोड़ा-सा चखा। ईश्वर ने दिखा दिया कि सब 'एक' हैं—अभेद हैं।"[1] उक्त अनुभूति से स्पष्ट है कि नानात्त्व है अवश्य परन्तु सब एक हैं।

दूसरी ओर अन्तर्मुखी रहस्यवाद में नानात्त्व मे 'एकत्त्व' की अपेक्षा एकत्त्व की चेतना मात्र 'एक' शून्य विशुद्ध चेतना होती है। इस विशुद्ध चेतना में बाह्य जगत् का नानात्त्व जिसको हम बाह्य इन्द्रियों से प्रत्यक्ष करते है या अनुभावात्मक जगत् में जो प्रतिमा या प्रत्यय तैयार करते हैं, उनका तिरोभाव हो जाता है और उनके स्थान पर एक शून्य तथा निर्विकल्प का स्वरूप रहता है। यह एक प्रमुख लक्षण है। इसी के आधार पर अन्यान्य लक्षणों का अनुगमन होता है। यह आधार भूमि के रूप मे है। इसमें साधक का व्यक्तित्व अहं विलुप्त हो जाता है और वह शून्य या चैतन्य मे डूब जाता है। अपनी तथा बाह्य सत्ता का उसे भान नहीं होता। वह विशुद्धचैतन्य होता है। विशुद्ध इसलिए कि यह अनुभवात्मक विषयों से रिक्त होता है। एकात्मक (यूनिटरी) इसलिए कि इसमें नानात्मक का स्थान नहीं। एकमेवाद्वितीय, अततः एक आत्मा है। इसके लिए उपनिषद् को लिया जा सकता है। 'माण्डूक्योपनिषद्' में मन की तीन अवस्थाओं—जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति के पश्चात् ही उस अद्वैत को प्राप्त करने की अवस्था को बतलाया गया है। वह चौथी अवस्था तुरीया या समाधि की अवस्था है।[2]

सुषुप्ति अवस्था में मन अविद्या में लीन हो जाता है, किन्तु निरुद्ध होने पर वह उसमें लीन नहीं होता। उस समय तो सब ओर से चित्त प्रकाशमय निर्भय ब्रह्म ही रहता है।

यह तुरिया है, विशुद्ध चैतन्य या ब्रह्म। अन्तर्मुखी रहस्यवादी इस अवस्था से तादात्म्य स्थापित कर लेता है।

यहाँ स्टेस की एक बात विचारणीय है कि उपनिषद् विशुद्ध रूप मे

---

१. श्री रामकृष्ण वचनामृत, (प्रथम भाग) पृष्ठ ७०।

२. लीयते हि सुषुप्ते तन्निगृहीतं न लीयते।
तदेव निर्भयं ब्रह्म ज्ञानालोकं समन्ततः (माण्डूक्योपनिषद्) पृष्ठ १७। अद्वैत प्रकरण श्लोक ३५।

अन्तर्मुखी वृत्ति का ही है या नही ? हमने यह देखा है कि कोई भी रहस्यवाद एकांगी रूप में किसी भी वृत्ति में नही प्राप्त है। एक की अतिशयता भले ही हो सकती है, एकान्तिकता नही। हम उपनिषद् में भी यही बात पाते है। जहाँ एक ओर उपनिषद् में अन्तर्मुखी रहस्यवाद के उदाहरण मिलते है वही दूसरी ओर बहिर्मुखी वृत्ति के रहस्यवाद को भी उदाहृत किया जा सकता है। परमार्थ रूप से निरूपण करने पर जगत् आत्मा से पृथक् वस्तु नही ठहरता। कोई भी वस्तु न तो ब्रह्म से पृथक् है और न परमार्थ रूप से निरूपण करने पर जगत् आत्मा से पृथक् ही ठहरता है। कोई भी वस्तु न तो ब्रह्म से पृथक् है और न अपृथक् ही —

"नात्मभावेन नानेद न स्वेनापि कथचन।
न पृथङ्. नापृथक्किचिदिति तत्त्वविदो विदु ॥"[1]

यह एकत्व की दृष्टि ही बहिर्मुखी वृत्ति है। जो कुछ भी भिन्न है वह अभिन्न है। वास्तव मे भिन्न है ही नही। ऐसा साधक को भान होता है। अत. उपनिषद् में भी हम 'उभयमुखी' का होना पाते है।

इसी प्रकार एक ओर श्री रामकृष्ण परमहस को जहाँ बहिर्मुखी वृत्ति मे देखते है वहीं अन्तर्मुखी वृत्ति में वे देखे जा सकते है। तोतापुरी[2] की प्रेरणा से श्री रामकृष्ण ने भी अद्वैत साधना की और तत्पश्चात् उसी भाव मे कुछ समय तक अवस्थित रहे। यह अवस्था निर्विकल्प समाधि की ही थी, जो शुद्ध अन्तर्मुखी कही जा सकती है। उस समय की उनकी दशा उनके ही द्वारा इस प्रकार है—"फिर मेरे मन में और कोई विकल्प न रहा, तीव्र गति से मेरा मन समग्र नाम रूप राज्य के परे चला गया और मुझे समाधि लग गई।"[3]

एखार्ट, प्लोटिनस प्रभृति रहस्यवादियो मे भी उभयमुखी वृत्ति प्राप्त होती है। प्लोटिनस में अतर्मुखो के साथ रूडाल्फ आटो ने बहिर्मुखी वृत्ति को भी देखा है। एखार्ट को भी जहाँ बहिर्मुखी वृत्ति में देखा गया है, वही उनमें अन्तर्मुखी वृत्ति भी देखी जाती है।[4] वे अपने अनुभवों मे, शून्य 'एकान्त' ऐसे शब्दों का प्रयोग करते हैं, इस प्रकार वे निर्विकल्प समाधि

---

१. वही, पृष्ठ ११९, वैतथ्य प्रकरण श्लोक ३४।
२. उस समय के एक संन्यासी।
३. लीला प्रसंग प्र० भा०, पृष्ठ ३७१।
४. स्टेस, मिस्टिसिज्म एण्ड फिलासफी, पृष्ठ ७७।

या तुरीय या यों कहें कि अद्वैत का अनुभव करते हैं। अतः एखार्ट का भी उभयमुखी होना सन्देहास्पद नहीं। स्टेस ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है और अनेक अन्तर्मुखी अनुभवों को उदाहृत किया है।[1]

२—बहिर्मुखी वृत्ति के आधार पर आत्मगत रूप से 'एक' ही की स्थूल रूप में प्रतीत होती है। बहुत्व का होना निश्चित है परन्तु उसमें एकत्व का भान भी अनिश्चित नहीं। साधक अपने अन्तस्थ रूप में 'एक' ही को बहुत्व में देखता है। श्री रामकृष्ण तथा एखार्ट के उदाहरणों में 'सब कुछ' देखा गया है। परन्तु 'एक' ही की दृष्टि से इसे हम 'ब्रह्म सर्ववाद' या 'पैनाथिस्म' के नाम से कह सकते हैं। अर्थात् वह सिद्धान्त जिसके अनुसार परमात्मा ही सब कुछ है। इसमें देश और काल का भी सम्बन्ध है क्योंकि जब वस्तुएँ हैं तो वे किसी समय और स्थान में अवश्य होंगी। परे नहीं।

दूसरी ओर अन्तर्मुखी रहस्यानुभूति में शुद्ध सत्ता की अनुभूति देश-काल से परे होती है। साधक देश-काल से परे एक ऐसी स्थिति में पहुँच जाता है जिसमें वातावरण का ध्यान नहीं रहता। वह अनन्त सत्ता में निमज्जित हो जाता है। इसमें बहुत्व समाप्त हो जाता है। इसीलिए यह अनुभूति देश-काल से परे होती है। देश-काल का सिद्धान्त ही बहुत्व का सिद्धान्त है। यदि बहुत्व रहता है, नानात्व का भास होता है, तो अद्वैत या ब्रह्म का विशुद्ध चैतन्य रूप में ज्ञान नहीं हो सकता। अन्तर्मुखी रहस्यानुभूति में ऐसी ही सत्ता का ज्ञान होता है।

३—रहस्यानुभूति वस्तुनिष्ठ होती है, वास्तविक होती है। यह एक सार्वभौमिक लक्षण है। क्योंकि संसार में सभी प्रकार के रहस्यवादियों के अनुभव यही अभिव्यक्त करते हैं। जेम्स ने इसी को 'नोएटिक क्वालिटी' कहा है। उनका कहना है कि रहस्यवादी सत्यता का अनुभव करता है। यद्यपि यह विवादास्पद विषय है, परन्तु इसका निराकरण सरल है। क्योंकि वस्तुगतता या वस्तुनिष्ठता एक अनुभूत निश्चितता है। हम रहस्यवादियों को क्या कहें, यह तो सामान्य व्यक्तियों की अनुभूतियों से प्रकट होता है कि उनके तत्काल अनुभूत विषयों या तथ्यों में भी वास्तविकता या वस्तुनिष्ठता प्राप्त होती है। बिना इसके वे तथ्य को स्वीकार करने के लिए तैयार ही नहीं होते। रहस्यवादी तो एक ही तथ्य (विश्वगत सत्ता) का अनुभव करता

---

१. स्टेस, मिस्टिसिज्म ऐण्ड फिलासफी, पृष्ठ ९७–९९।

है, जो सर्वगत सामान्य रूप में मिलता है। उनकी अनुभूति सामान्य होती है। इसमें मतभेद तो है ही नहीं।[1] भौतिक ज्ञान की भाँति पराभौतिक विषयों का भी ज्ञान होता है। लौकिक जगत् के विषय जड और चेतन से युक्त हैं। परन्तु पारलौकिक या आध्यात्म जगत् का विषय पूर्ण चैतन्य है। वहाँ उसकी विशुद्ध चैतन्यता ही वस्तुनिष्ठता है। अनुभव करने वालों की सामान्यानुभूति ही इसके लिए प्रमाण स्वरूप है।[2] एतदर्थ अनेक रहस्यवादियों की अनुभूतियों को देखा जा सकता है। वे चाहे जिस देश, जाति, धर्म या मत के हों उनको इसकी सत्यता में पूर्ण विश्वास है।[3]

४—ईश्वरीय कृपा, शान्ति प्रसन्नता एवं आनन्द का अनुभव रहस्यवाद का मुख्य लक्षण है। क्योंकि पूर्ण मानव की अनुभूति का आधार ईश्वरीय प्रेम हुआ करता है और वह उसके उल्लास मे रहा करता है। यहाँ तक कि विशुद्ध चेतनावादी, अद्वैतवादी जिनका लक्ष्य जीवन-मुक्ति है, और जो अपनी अनुभूति का आधार ज्ञान को मानता है, वह भी अन्त में पूर्ण शान्ति की स्थिति में पहुँच जाता है। रहस्यवाद की अनुभूति में साधक को सत्ता की कृपा का अनुभव होता है। उसी के आधार पर वह चिर शान्ति, आह्लाद, प्रसन्नता तथा आनन्द का अनुभव करता है। यह प्रसन्नता भौतिक जगत् की प्रसन्नता से भिन्न हुआ करती है। चेतना सत्ता सद्‌चित्-आनन्द है। इसलिए साधक सच्चिदानन्द हो जाता है। सच्चिदानन्द ईश्वर के साक्षात्कार में सामान्य जीवन की अशान्ति लुप्त हो जाती है और एक आन्तरिक शान्ति, बल और आनन्द की उपलब्धि होती है। संसार के सभी साधकों ने ईश्वर की ऐसी अनुपम कृपा, शान्ति और आनन्द का अनुभव किया है। बोहेम, श्री रामकृष्ण, टेरेसा, एखार्ट प्रभृति लोगों ने इसका स्पष्ट वर्णन किया है।

५—धार्मिक, पवित्र और दैवी अनुभूति:—बुद्धि और प्रज्ञा से भी परे यह अनुभूति दैवी एवं पवित्र होती है। जागतिक जीवन की कलुषता के स्थान पर शान्ति और प्रेम तथा शुद्ध और पवित्र दैवी अनुभूति मात्र अवशेष रहती है। प्रपंचात्मक दृष्टि कोण समाप्त हो जाता है। अध्यात्मिक या धार्मिक क्षेत्र में मनुष्य दैवी सत्ता में सन्निविष्ट हो जाता है। सलिए यहां मानव देवता बन जाता है। दिव्यानुभूति रहस्यवादियों का सारत्व है। ऐसी

१. श्री निवासचारी, मिस्टिक्स ऐण्ड मिस्टिसिज्म, पृष्ठ ५९।
२. राधाकृष्णन, जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि, पृ० ८०—८१।
३. वही, पृष्ठ ९२—९३।

ानुभूति सभी सन्तों को होती है। साधक जब विश्व-चेतना से सम्बन्ध स्थापित कर लेता है, अद्वैत में पहुँच जाता है, तब वहाँ दिव्य अनुभव ही ाप्त करता है।

६—आत्मविरोधी उक्ति या विरोधाभास'—सामान्य रूप में हम रहस्यानुभूति में विरोधाभास पाते हैं। रहस्यवादी अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिए प्रतीक योजना, अलकार, उपमा, दृष्टान्त और उपदेशात्मक कथाओं का सम्बल लेते है। ऐसा करने का कारण क्या है? क्यों नहीं उसे सीधे शब्दों में प्रकट किया जाता? इसके कारण स्पष्ट है। रहस्यवादी का सम्बन्ध अतीन्द्रिय वस्तुओं से होता है, जिनकी अनुभूति सामान्य भौतिक जगत् से भिन्न रूप में हुआ करती है। ऐसे अनुभव को व्यक्त करते समय जागतिक भाषा, अलकार तथा प्रतीक का आश्रय लेना आवश्यक हो जाता है। रहस्यवादी इस अनुभव को मौन होकर ही प्राप्त करता है और उस अनिर्वचनीय तत्त्व को जब वह भाषा में प्रकट करता है तब उसका आत्म-विरोधी तथा असंगत प्रतीत होना स्वाभाविक है। "उनका अपना सारा ऐसा अनुभव विचित्रताओं से भरा हुआ प्रतीत होता है। जिस कारण उनकी अभिव्यक्ति में स्वाभाविकता नहीं आ पाती। जिस किसी को ऐसी रहस्यानुभूति के विषय में कुछ भी धारणा न हो वह यदि चाहे तो उनकी ऐसी उक्तियों को व्यर्थ का चमत्कार-प्रदर्शन भी कह सकता है।...किन्तु ऐसा मत प्रकट करना इस विषय से सर्वथा अनभिज्ञ रहने के ही कारण सम्भव होगा अथवा कदाचित् ऐसी दशा में भी सम्भाव्य है जब ऐसे रहस्यवादी साधकों की सचाई में सन्देह किया जाय।"[1]

ऐसे आत्मविरोधी कथन विश्व के सभी रहस्यवादियों से प्राप्त है। भारत में सब से प्राचीन उदाहरण उपनिषदों मे प्राप्त होते है। एखार्ट, टेरेसा, जॉन आदि रहस्यवादियों ने अपनी अनुभूतियों को विरोधपूर्ण उक्तियों द्वारा ही प्रकट किया है।

आत्मविरोधी उक्ति एक प्रकार की अलंकारिक या साहित्यिक विधि है, जिसका उपयोग लेखक अपने कथनों को बल प्रदान करने के लिए नाटकीय या अलौकिक रूप में करता है। इसका फल यह होता है कि पढ़ने वाला चमत्कार के कारण रुक कर उस कथन को समझने का प्रयास करता है।

कुछ का मत है कि रहस्यवादी के तो अनुभव निर्विरोध हो सकते हैं

---

१ परशुराम चतुर्वेदी, रहस्यवाद, पृष्ठ ८८।

परन्तु वह उनका विरोधात्मक ढंग से वर्णन करता है। हो सकता है कि उसका कोई ऐसा अभिप्राय हो कि जो कुछ कहा जाय विरोधपूर्ण रूप में ही कहा जाय। परन्तु हमें प्रतीत होता है कि यह विरोध उच्च अनुभूतियों की व्याख्या में स्वतः ही हो जाता है। जैसे हम बहुधा सामान्य जीवन की ऐन्द्रिक अनुभूतियों को पूर्णतः शुद्ध रूप में नहीं ग्रहण कर सकते उसी प्रकार रहस्यात्मक अनुभूतियों को भी शुद्ध रूप में नहीं समझ सकते। उन अनुभवों के साथ आत्मगत प्रत्ययों का आरोप करना स्वाभाविक है। जब रहस्यवादी कहता है—'वह सत्ता शून्य है, तथापि पूर्ण है, या वह 'प्रकाश' भी है और 'अन्धकार' भी तो इन उक्तियों में प्रत्यात्मकता के कारण हमारी व्याख्या का ही दोष सम्भव है। रहस्यात्मक अनुभूतियों का नहीं।

एक दूसरे सिद्धान्त के अनुसार विरोधाभास इसलिए है कि रहस्यवादी एक शब्द का दो अर्थों में उपयोग करता है। जैसे 'शून्य' का अर्थ 'पूर्ण' (एब्सोल्यूट) के लिए भी है और 'अनस्तित्व' के लिए भी हो सकता है। इसलिए विरोधाभास स्वाभाविक है। परन्तु यह शब्द रहस्यवादी के लिए अनुभूति है। उसके लिए अभाव का द्योतक नहीं है। बौद्धिक दृष्टिकोण से 'अभाव' का या अनस्तित्व का रूप हो सकता है। यदि हम 'कुछ नहीं' और 'कुछ' को देखते है तो अर्थ स्पष्ट है कि बौद्धिक में जो कुछ नहीं ज्ञात होता वही रहस्यवादी के लिए 'कुछ' ज्ञात होता है। अतः इस सिद्धान्त के अनुसार 'शून्य' शब्द द्वयर्थक नहीं हो सकता।

७—*अनिर्वचनीयता*—साधना की दृष्टि से ज्ञान क्षेत्र का रहस्यवाद जब भाव क्षेत्र में पदार्पण करता है तब रहस्यवाद के अनुभव साक्षात् होते है। अतएव हम कह सकते है कि रहस्यवाद के अनुभव विचारों की अपेक्षा भावों के अधिक निकट होते है। जिस प्रकार हम अपने भावों को भाषा में ठीक-ठीक नहीं प्रकट कर सकते उसी प्रकार रहस्यवाद के अनुभवों को ठीक-ठीक भाषा में वर्णित नहीं किया जा सकता। रहस्यवाद के अनुभव 'गूगे के गुण' के समान हैं, जिसके गुण को समझने के लिए उसका स्वाद लेना आवश्यक है, कहने में असमर्थता है। या उसका अनुभव प्रेमी के प्रेम के समान है, जिसको समझने के लिए प्रेमी होना आवश्यक है। इसीलिए इन अनुभवों के विषय में कहा गया है—'यतो वाचो निवर्तन्ते' प्रो० रानाडे ने भी रहस्यवाद के लिए प्रातिभिकता और अनिर्वचनीयता इन दो तत्वों को माना है।[1]

---

१. **इण्डियन मिस्टिसिज्म, भूमिका, पृष्ठ १–२।**

रहस्यवाद मे बुद्धि पगु हो जाती है और तर्क निराश्रित। इसीलिए इसके अनुभव अनिर्वचनीय होते है। कल्पनाएं उनका वर्णन नही कर सकती, क्योंकि कल्पना की भाव-भूमि भी बुद्धि और तर्क ही है। वह चरम सत्ता चिह्नो और प्रतीकों से मुक्त है। ऐसा अन्तर्ज्ञान सदैव मौन ही रहता है। मौन के द्वारा हम 'बिना स्वीकार किए स्वीकार करते हैं', कि आध्यात्मिक जीवन की महत्ता अवर्णनीय है; वह मन और वचन की पहुँच के बाहर है। वह एक अथाह गहरा रहस्य है और शब्द उसका वर्णन करने में धोखा दे जाते हैं।[1] प्रश्न उठता है कि जब रहस्यवाद 'अवाङ्॰ मनस गोचर' है तो उसका अनुभव तथा ज्ञान कैसे सम्भव है? इसके लिए हमने पहले ही बतलाया है कि यह प्रातिभिक होता है। यह अन्तर्ज्ञान के रूप मे होता है। इसकी अनुभूति के लिए कोई विशिष्ट इन्द्रिय नहीं है वरन् भारतीय भाषा मे इस माध्यम का अन्तर्दृष्टि, अन्तश्चक्षु या प्रातिमज्ञान कहते हैं। अंग्रेजी मे इसे 'इन्ट्यूशन' कहते है। इसी के द्वारा रहस्यवाद के अनुभवों का प्रत्यक्ष तथा स्पष्टतम अनुभव होता है।

प्रश्न पुनः है कि जब 'इन्ट्यूशन' द्वारा प्राप्त अनुभव इतना स्पष्ट और प्रत्यक्ष होता है तो उसका शब्दों में वर्णन क्यों नही किया जा सकता? वह अनिर्वचनीय क्यों है? क्या रहस्यवादी ऐसे प्रत्यक्ष को भलीभाँति हृदयगम नही कर पाता या सहसा चरम सत्ता का साक्षात् सान्निध्य प्राप्त कर चकित रह जाता है और कुछ कह नहीं पाता? या ऐसा अनुभव इतना वैयक्तिक है कि सप्रेषण होना सम्भव नही? यदि यही बात है तो इसके सम्बन्ध मे बहुत से भ्रमात्मक निष्कर्ष निकाले जा सकते है और सरलतापूर्वक कहा जा सकता है कि रहस्यवादी कुछ चमत्कारो से ही चकित होकर अपने अनुभव सत्य मानने लगता है। और उसी मे बिना पूर्ण बोध किए ही विश्वास स्थापित कर लेता है। उस सत्य के विषय में यह भी हो सकता है कि साधक उन अनुभवो की दुरूहता के कारण जिसे न समझ सकता हो उसे आवश्यकता से अधिक महत्त्व प्रदान करने लगता हो, तथा कल्पना और बिम्बो द्वारा श्रेष्ठ गुणो को आरोपित करने लगता हो। कभी-कभी देखा जाता है कि किसी महत् शक्ति के प्रति या किसी मान्य व्यक्ति या मान्यता के प्रति सद्-विवेक के अभाव मे हम आवश्यकता से अधिक महानता या गौरव प्रदान कर देते हैं, स्पष्ट है कि हमारी अल्पज्ञता ही इसके लिए उत्तरदायी है।

---

१ , जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि, पृ० सं० ९४, १८ ९९।

हो सकता है कि रहस्यवादी भी इसी प्रकार की अल्पज्ञता का भाजन बनता हो और अल्पज्ञान के कारण कुछ कहने में असमर्थ होता हो। ऐसा भी होता है कि हमें जीवन में जिस तथ्य या वस्तु की पूर्ण धारणा नहीं होती उसके प्रति भी हम उच्च भाव बना लेते हैं। परन्तु अनुभव-गम्य होने पर वह उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं रह जाती। यह भी देखा जाता है कि यदि किसी वस्तु के विषय में पूर्वानुभव नहीं रहता तो उसका हमारे लिए अद्भुत महत्त्व होता है और हम अपनी उच्च भावनाएँ उसके प्रति प्रकट करते हैं। तो हो सकता है कि ऐसी ही बात रहस्यवादियों के विषय में भी हो। इन धारणाओं पर अब वृहत् रूप में विचार करना आवश्यक है।

परन्तु इस प्रकार के उठाए गये सभी प्रश्न अनावश्यक और निराधार तब लगते हैं जब हमें साधकों या सन्तों के कथन प्राप्त होते हैं और उनका दिव्य जीवन देखने को मिलता है। सन्तों का जीवन और कथन एकदेशीय और विशिष्ट न होकर सामान्य एवं सार्वभौमिक होते हैं। इसमें कभी दो मत नहीं हो सकते। रहस्यवादी चाहे ईसाई हो, सूफी या वैष्णव, सभी आध्यात्मिक अनुभवों से सम्पन्न होते हैं। इनसे ही प्रमाण मिलता है कि रहस्यवाद के अनुभव कुछ भिन्न ही प्रकार के होते है। जो प्रश्न उठाये गये हैं वे सभी एकांगी हैं। ऐसी धारणाओं का वहाँ सर्वथा लोप है। संसार की किसी वस्तु के एक ही अंश से प्रभावित होकर हम बहुधा अपनी श्रद्धा या गौरव उसके प्रति प्रदान कर बैठते हैं। परन्तु रहस्यवादियों के अनुभवों से यही प्रकट होता है कि वे सत्ता के किसी अंश मात्र को प्रकट करते नहीं जान पड़ते। वे इस विषय का पूर्ण अनुभव करते हैं। यहाँ तक कि वह इनके जीवन का अभिन्न अंग होता है। इसके लिए प्रमाण यह है कि वही सत्ता भावमात्र भी रहती है, फिर अगम अगोचर तथा अनन्त भी तथा पुनः निर्वैयक्तिक से वैयक्तिक भी हो जाती है। वह अलौकिक सत्ता अलौकिक व्यक्तित्व बन कर उस साधक की आत्मीय बन जाती है। इसीलिए वह निर्भय बन जाता है। वही सत्ता नियन्ता के रूप में कोमल और मृदुल स्वभाव की होती है जिसके प्रति साधक आत्म-समर्पण कर स्वतन्त्र हो जाता है और तदाकार भी।

अनिर्वचनीयता के कारण को मनोवैज्ञानिक ढंग से भी देखने का प्रयास किया गया है,[1] जिसके अनुसार रहस्यवाद के अनुभवों को संवेगों के रूप

१. स्टेस, मिस्टिसिज्म एण्ड फिलासफी, पृष्ठ २८२।

मे माना जाता है। ऐसे मत के पोषण करने वालो का कहना है कि संवेग की स्थिति गम्भीर और जटिल होती है। इसीलिए रहस्यवाद के अनुभवों को अभिव्यक्त नही किया जा सकता। हम सामान्य जीवन में भी यह देखते है कि भय या अतीव प्रेम की अवस्था में प्रायः हम स्तब्ध रह जाते हैं और भावों को प्रकट कर सकने में असमर्थ रह जाते है। परन्तु रहस्यवाद के अनुभव संवेग जैसे सिद्ध ही नहीं किए जा सकते। इनका तो प्रत्यक्ष अनुभव होता है और अनुभव के पश्चात् प्रसन्नता का नहीं आनन्द का, अशान्ति का नही शान्ति का, व्याकुलता और असन्तोष का नही पूर्ण तृप्ति का बोध होता है। भला इसको हम केवल संवेग के अनुभव बतला कर कैसे टाल सकते हैं ? हॉ, संवेग की स्थिति उनके लिए मान ली जा सकती है जो उन्माद के रोगी होते है। मनोवैज्ञानिको की कल्पना वही सिद्ध की जा सकती है। इस सच्चिदानन्द की स्थिति को संवेग की स्थिति कभी नही कह सकते।

अनिर्वचनीयता की कठिनाई के लिए एक तीसरा कारण माध्यम का अभाव बतलाया जाता है। क्योंकि लौकिक भाषा के माध्यम द्वारा पारलौकिक अनुभवों की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं होती। कारण यह है कि लौकिक भाषा या व्यवहार के साथ हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ भी सम्मिलित रहती हैं। इससे अनुभवों को प्रकट करने में सरलता हो जाती है। परन्तु रहस्यवाद के अनुभव इन्द्रियातीत होते है। वहाँ इस भाषा का उपयोग सम्भव नहीं। उसके आनन्द को प्राप्त कर लौकिक भाषा के द्वारा प्रकट करने मे असमर्थता आ जाती है। रहस्यानुभूति की अनिर्वचनीयता सम्बन्धी इस समाधान के विषय मे हम इस प्रकार कह सकते हैं कि "अपनी साधारण अनुभूतियों की दशा में हम अधिकतर अपनी बुद्धि से काम लिया करते है और उसी के अनुसार हमारी भाषा की रचना भी हो जाती है। किन्तु इस अनुभव की विचित्र दशा कभी उसकी अपेक्षा नही किया करती, प्रत्युत वह प्रधानतः प्रातिभज्ञान या अन्तर्ज्ञान का रूप धारण कर लिया करती है।"[१]

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अनिर्वचनीयता का कारण उसके मूल में ही है। रहस्यानुभूति के समय इस ज्ञान-शक्ति (इन्ट्यूशन या अन्तर्ज्ञान) से ही काम होता है। इसीलिए प्रकटीकरण में कठिनाई भी होती है। जैसे काव्यानन्द के अनुभव में भी यही कठिनाई पड़ती है। काव्यानुभूति इसी ज्ञान-शक्ति से प्राप्त होती है। हम काव्य से आनन्द भले ही प्राप्त कर लें

१ परशुराम चतुर्वेदी, रहस्यवाद पृष्ठ ६५।

परन्तु कवि से उसकी अनुभूतियों के विषय मे पूछने पर कुछ भी उत्तर न मिलेगा। वह जानता है परन्तु प्रकट नहीं कर सकता। यही बात सौन्दर्य द्रष्टा के प्रति भी है। सौन्दर्य को वाह्य चक्षु से देखते अवश्य है, परन्तु अन्तर्ज्ञान (इन्ट्यूशन) के द्वारा ही। जो सौन्दर्य बोध होता है उसका अनुभव ही किया जा सकता है, व्यक्त नही किया जा सकता।

इस विषय मे अरविन्द का मत अधिक समीचीन लगता है। उनके विचार से दार्शनिक विषय के प्रतिपादन मे यह कठिनाई और अनिश्चितता सदा रहती ही है कि बात तो होती है असीम अपरिच्छिन्न की पर उसे कहना होता है बुद्धि ग्राह्य होने के लिए परिच्छिन्न करके, यह एक ऐसा प्रयास है जो करना तो पड़ता है पर जो कभी पूर्ण रूप से सन्तोषजनक नही हो सकता, उसके विषय मे कभी 'इदमित्थं' नही कहा जा सकता। परम आध्यात्मिक सत्य को जीवन में उतारा जा सकता है, उसका साक्षात्कार किया जा सकता है, पर उसका वर्णन केवल अंशत. ही हो सकता है। उपनिषदों की पद्धति और भाषा इससे अधिक गम्भीर है, उसमें प्रतीक और रूपक का स्वच्छंदता से उपयोग किया गया है जो कुछ कहा गया है वह अन्तर्ज्ञान का ही स्वच्छन्द प्रवाह है। जिसमे बौद्धिक वाणी का कठोर पारिभाषिक बन्धन टूट गया है और शब्दों के गर्भित अर्थों में से संकेत का एक अपार तरंग-प्रवाह निकल आया है। आध्यात्म के इस क्षेत्र में यही पद्धति और भाषा ठीक होती है।[1]

रहस्यवाद के लक्षणों पर विचार कर लेने के बाद उसकी परिभाषाओं तथा स्वरूप पर भी कुछ विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। क्योंकि समग्र परिभाषाओं मे व्यक्तिगत दृष्टिकोण की ही प्रधानता प्रतिबिम्बित होती है। अब तक मनोवैज्ञानिक व्यावहारिक, साधनात्मक, जीवन-पद्धति अथवा अनुशासन के रूप में परिभाषाओं की व्याख्या की गई है। इनको दृष्टि मे रखते हुए, रहस्यवाद के सामान्य लक्षणों के आधार पर, इसकी परिभाषा निश्चित की जा सकती है।

रहस्यवाद की मनोवैज्ञानिक ढग पर की गई परिभाषाओं मे भी अनेक-रूपता पाई जाती है। कुछ विचारकों ने इसे एक 'चेतना' के रूप में तथा कुछ लोगो ने अनुभूति एव मनोवृत्ति के रूप में देखने का प्रयास किया है।

---

१. श्री अरविन्द, गीता प्रबन्ध (द्वितीय भाग) (प्रथम खण्ड) पृष्ठ ११।

इस सम्बन्ध में आर० एस० नेटलशिप तथा वाल्टर टी० स्टेस को उदाहृत किया जा सकता है।[1] उपर्युक्त लेखकों की परिभाषाओं में ज्ञान तत्त्व की ही प्रधानता है, इसलिए उन्हें एकांगी कहा जा सकता है। परन्तु रहस्यवाद अनुभूति की भी सर्वोच्च भावभूमि है। "रहस्यवाद ईश्वर के साथ अपनी एकता की स्पष्ट अनुभूति है।" इन्ज ने अपनी पुस्तक में फ्लेडरर की उक्त परिभाषा को ही दृष्टि में रखकर रहस्यवाद को समझने का प्रयास किया है।[2] बर्ट्रेण्ड रसेल ने भी अनुभूति के आधार पर रहस्यवाद की परिभाषा की है।[3]

इन दोनों लेखकों की परिभाषाओं को देखने से यही लगता है कि रसेल की परिभाषा पूर्ण रूप से वैज्ञानिक और दार्शनिक है। जब कि फ्लेडरर की परिभाषा धार्मिकता के अधिक निकट है। फिर भी विचारणीय यह है कि रहस्यवाद को विशुद्ध 'चेतना' मान लेने वालों की भाँति इन दोनों लेखकों ने भी रहस्यवाद को केवल अनुभूति तक ही सीमित रखा है। इस दृष्टि से इन लेखकों ने रहस्यवाद को केवल मनोवैज्ञानिक तत्त्व तक ही सीमित रखा है। ज्ञात होता है कि इनका लक्ष्य रहस्यवाद में वर्णित मनोदशा का अध्ययन मात्र ही है।

रहस्यवाद को 'अनुभव' के रूप में स्वीकार करने वालों में जेम्स तथा अनागरिक गोविन्द है। इनकी परिभाषाओं का लक्ष्य तो एक ही ज्ञात होता है पर जेम्स ने जहाँ अनुभवों के आनन्दातिरेक और उसके असंप्रेषणीयता का वर्णन किया है,[4] वहाँ अनागरिक गोविन्द ने केवल प्रातिभिक अनुभव कह कर छोड़ दिया है।[5]

यद्यपि इन लेखकों ने रहस्यवाद के जिन तत्त्वों को प्रकट किया है वे सत्य ही ज्ञात होते है, परन्तु इन परिभाषाओं के प्रति दो आक्षेप किए जा सकते है—प्रथम यह कि रहस्यवाद मात्र अनुभव ही नहीं कहा जा सकता।

---

१. इन्ज द्वारा उद्धृत, मिस्टिसिज्म इन रिलीजन, पृष्ठ २५।
   वाल्टर टी० स्टेस, दि टीचिंग ऑफ द मिस्टिक्स पृष्ठ १२, २३८।
२. इन्ज, मिस्टिसिज्म इन रिलीजन, पृष्ठ २५ पर उद्धृत।
३. सेलेक्टेड पेपर्स ऑफ बर्ट्रेण्ड रसेल, पृष्ठ १७।
४. जेम्स, दि वैराइटीज ऑफ रिलीजस एक्सपीरिएन्स, पृष्ठ ३४८–४२९
५. लामा अनागरिक गोविन्द, फाउण्डेशन्स ऑफ तिब्बतन मिस्टिसिज्म पृष्ठ ७७

दूसरे इन परिभाषाओं से रहस्यवाद के स्थायी महत्त्व, चिर नवीनता एवं जीवन के साथ सार्थकता आदि बातें नही प्रकट होती। साथ ही ये परिभाषायें मनोवैज्ञानिक रूप मे ही रह गई है।

रहस्यवाद को 'मनोवृत्ति' के रूप मे स्वीकार करने वालों मे डॉ० रानाडे, श्री पी० एन० श्रीनिवासचारी तथा केयर्ड आते है।[1] यदि इनकी परिभाषाओं को आलोचनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो इनसे मात्र मनोवैज्ञानिक दशा ही प्रकट होती है। चेतना, अनुभूति, तथा अनुभव की भांति 'मनोवृत्ति' मे भी मनोवैज्ञानिक दशा एव प्रक्रिया के विचार निहित है। दूसरे, व्यापकता और सार्थकता की दृष्टि से यह कह सकते है कि इन परिभाषाओं से रहस्यवाद के सम्पूर्ण क्षेत्र पर प्रकाश नहीं पडता। अतः हमारे दृष्टिकोण मे उक्त सभी परिभाषाएँ एकांगी ही प्रतीत होती है।

व्यापकता, सार्थकता, क्रियात्मकता और व्यावहारिकता की दृष्टि से रहस्यवाद को परिभाषित करने वालों में कुमारी अडरहिल, प्रिंगल पेटिसन तथा अलबर्ट स्वीजर को लिया जा सकता है।[2] अंडरहिल तथा पेटिसन की परिभाषाओ में क्रियात्मक क्षेत्र पर बल दिया गया है। साथ ही यह भी बताया गया है कि इसके सभी उपाय आदर्श प्राप्ति के लिए भी है। परन्तु इनमें दार्शनिक पक्ष को इंगित करते हुए तर्क पद्धति को अधिक महत्त्व दिया गया जान पड़ता है। परन्तु वास्तविक दृष्टि से तो रहस्यवाद में प्रातिभिक ज्ञान को ही महत्त्व देना चाहिए। दार्शनिक पद्धति तो सामान्य जीवन तक ही सीमित है। स्वीजर ने दार्शनिकता को उतना महत्त्व न देकर साधना, व्यावहारिकता तथा प्रतिभज्ञान को ही श्रेयस्कर माना है।[3]

रहस्यवाद को समझने का एक तीसरा आधार साधन या कला को भी अपनाया गया है। इसके अन्तर्गत हाकिंग, महेन्द्रनाथ सरकार तथा

---

१. रानाडे, इण्डियन मिस्टिसिज्म, भूमिका, पृष्ठ १।
पी० एन० श्रीनिवासचारी, मिस्टिक ऐण्ड मिस्टिसिज्म, पृष्ठ ४४।
इन्ज, मिस्टिसिज्म इन रिलीजन, पृष्ठ २५ पर उद्धृत।

२. अण्डरहिल, मिस्टिसिज्म, पृष्ठ ९३।
डॉ० इन्ज, मिस्टिसिज्म इन रिलीजन, पृष्ठ २५ पर उद्धृत।

३. अलबर्ट स्वीजर, इण्डियन थाट ऐण्ड इट्स डेवलपमेण्ट, पृष्ठ ७७।

राधाकमल मुकर्जी के नाम उल्लेखनीय हैं।[1] हार्किंग ने रहस्यवाद को ईश्वरानुभूति का मार्ग माना है। सरकार ने एक माध्यम तथा मुकर्जी साहब ने आन्तरिक समायोजना की एक कला के रूप में स्वीकार किया है। इन परिभाषाओं के प्रति कुछ आक्षेप किए जा सकते है। प्रथम यह कि रहस्यवाद को केवल साधन मात्र ही मान लेना उसके प्रति न्याय नही है। दूसरे इन परिभाषाओं से यह प्रकट नही होता कि अन्ततोगत्वा समाज और जीवन के साथ इसका क्या सम्बन्ध है।

उक्त प्रश्नों का समाधान डॉ० राधाकृष्णन् तथा बासुदेव जगन्नाथ कीर्तिकर की परिभाषाओं द्वारा हो सकता है जिन्होंने रहस्यवाद को जीवन पद्धति या अनुशासन के रूप में परिभाषित किया है। राधाकृष्णन् के अनुसार "रहस्यवाद एक अनुशासन है जिसके द्वारा आध्यात्मिक तत्त्व की उपलब्धि होती है।"[2] कीर्तिकर के अनुसार रहस्यवाद एक आचार-प्रधान अनुशासन है जिसका लक्ष्य उस दशा को प्राप्त कर लेने का होता है जिसे किसी रहस्यवादी के अनुसार "मनुष्य का ईश्वर के साथ मिलन या अपने भीतर आत्मानुभूति कर लेना कहा जाता है। यह मूलत एक वैज्ञानिक आस्था है और सभी प्रकार से व्यावहारिक भी है।"[3]

कीर्तिकर की परिभाषा के आधार पर हम अभीष्ट अर्थ तक पहुँच सकते है, परन्तु रहस्यवाद को केवल आचार प्रधान कह देने से वह दैनिक जीवन की नियमावली ही बन कर रह जाता है।

उपर्युक्त समस्त कठिनाइयों को दूर करने तथा रहस्यवाद को और भी अधिक स्पष्ट तथा व्यापक स्वरूप प्रदान करने के लिए चार्ल्स ए० बेनेट तथा डॉ० एस० एन० गुप्त की परिभाषाओं को देखा जा सकता है।[4] इन दोनों

---

१. डब्ल्यू ई० हार्किंग, मीनिंग ऑफ गॉड इन ह्यूमन एक्सपरियन्स, पृष्ठ ३५५।
डॉ० महेन्द्रनाथ सरकार, मिस्टिसिज्म इन भगवत् गीता, पृष्ठ १ भूमिका।
डॉ० राधाकमल मुकर्जी, द थिअरी एण्ड आर्ट ऑफ मिस्टिसिज्म, पृष्ठ १२ भूमिका।

२. सी० ई० एम० जोड, काउण्टर एटैक फ्राम द ईस्ट, पृष्ठ १४९ पर उनका कथन उद्धृत।

३. बासुदेव कीर्तिकर, स्टडीज इन वेदान्त, पृष्ठ १५०–१६०।

४. बेनेट, फिलॉसफिकल स्टडी ऑफ मिस्टिसिज्म, पृष्ठ ७।
एस० एन० दास गुप्त हिन्दू मिस्टिसिज्म, पृष्ठ ६ भूमिका

विद्वानों ने रहस्यवाद को केवल बौद्धिक या दार्शनिक 'वाद' न मान कर सत्ता के साथ अव्यवहृत अनुभव के रूप में स्वीकार किया है, और साथ ही रहस्यवाद को विकासोन्मुख जीवन, आध्यात्मिक मूल्य, अनुभव तथा आदर्शों के अनुसार प्रगति करते जाने के रूप में भी स्वीकार किया है। गुप्त जी के अनुसार तो इस दृष्टि से रहस्यवाद सब धर्मों का मूल है और यह रहस्यवादी में स्पष्ट रूप से देखा भी जा सकता है।

इस दृष्टि से तो इन लेखकों की रहस्यवाद की परिभाषाएँ अवश्य समीचीन ज्ञात होती है, परन्तु रहस्यवाद या गुह्यवाद का वह अर्थ पूर्णरूपेण चरितार्थ होता नहीं जान पड़ता जिस पर हमने पहले विचार किया है। हम एक ऐसी परिभाषा पर पहुँचना चाहते हैं जो समन्वयात्मक रूप में सभी परिभाषाओं को ग्रहण करते हुए रहस्यवाद को स्पष्ट कर सके। अधिकाश रूप में अब तक रहस्यवाद की केवल मनोवैज्ञानिक समीक्षा ही की गई है। साथ ही साथ रहस्यवाद को धर्म विशेष में ही केन्द्रित करने का प्रयास होता आया है। यहाँ हमारा लक्ष्य इन सबसे भिन्न है। रहस्यवाद विशेष धर्म के क्षेत्र से परे मनोविज्ञान और दर्शन से भिन्न एक परम चिर नवीन स्थिति है जिसका व्यापक प्रभाव है। यह जीवन-दर्शन और व्यापक सत्ता का समागम है। परशुराम चतुर्वेदी ने इसी दृष्टिकोण के आधार पर इस प्रकार की परिभाषा की है—"रहस्यवाद एक ऐसा जीवन-दर्शन है जिसका मूल आधार, किसी व्यक्ति के लिए उसकी विश्वात्मक सत्ता की अनिर्दिष्ट व निर्विशेष एकता व परमात्म-तत्त्व की प्रत्यक्ष एवं अनिवर्चनीय अनुभूति में निहित रहा करता है और जिसके अनुसार किए जाने वाले उसके व्यवहार का स्वरूप स्वभावतः विश्वजनीन एवं विकासोन्मुख भी हो जा सकता है।"[1] के० यस० रामस्वामी शास्त्री ने रहस्यवाद के वास्तविक अर्थ को ग्रहण करते हुए व्यावहारिकता के आलोक में इस प्रकार की परिभाषा दी है— रहस्यवाद वह मुख्य प्रवेश द्वार है जो 'पवित्रता से' 'आनन्द' की स्थिति तक ले जाता है। अतः रहस्यवाद को व्यक्तिपरक मानना भूल है। यद्यपि इसमें ध्यान के हेतु एकान्तता की अवश्य खोज होती है परन्तु ध्यान की पूर्णता के पश्चात् आत्मा ईश्वर तक पहुँच जाती है और पुन वही आत्मा पूर्णत्व को प्राप्त कर नवीन शक्ति तथा दशा में संसार में लौट आती है।[2] यही है

१. परशुराम चतुर्वेदी, रहस्यवाद, पृष्ठ २५।

२. रामस्वामी शास्त्री, द इवल्यूशन ऑफ इण्डियन मिस्टिसिज्म, पृष्ठ ७१।

मानवीय सत्ता का दैवीकरण तथा दैवी सत्ता का मानवीयकरण और इसी से रहस्यवाद की व्यावहारिकता की भी पुष्टि हो जाती है। उक्त परिभाषा मे ईश्वर शब्द का उपयोग अवश्य है परन्तु इसमें धर्म की गन्ध नही है। यहाँ ईश्वर का व्यापक स्वरूप लिया जा सकता है, तभी अनीश्वरवादी मत वाले भी रहस्यवाद की कोटि में आ सकते है। इसी तत्त्व को चतुर्वेदी जी ने 'विश्वात्मक सत्ता' के रूप में कहा है। अतः यहाँ इन परिभाषाओं मे सकीर्णता को स्थान नही। इस प्रकार रहस्यवाद विश्वात्मक सत्ता की सनातन एव चिरनवीन अनुभूति है जो व्यक्ति से समाज तक, अनुभूति से विचार तक एकदेशीय से सर्वदेशीय, काल विशेष से सार्वकालिक तथा व्यापक है। परन्तु रहस्यवाद के अन्तर्गत विभिन्न मत-मतान्तर अब भी प्रचलित हैं, जिससे इसके स्वरूप को स्पष्ट रूप मे नही समझा गया है। भ्रामक विचारो तथा धारणाओं को रहस्यवाद से विलग करना अत्यन्त ही आवश्यक है। अन्यथा रहस्यवाद को उसके वास्तविक आकार में नही देखा जा सकता।

रहस्यवाद को मिथ्या अर्थ मे ग्रहण करने वाले हैं, विज्ञान के चमत्कारो से चमत्कृत वैज्ञानिक तथा ऐसे लोग जो इसकी वास्तविकता अनुभूतियो से अभिभूत नही हो पाये हैं और ऊपरी अलौकिकता को ग्रहण कर उसी को रहस्यवाद मान बैठे हैं। इन लोगों ने रहस्यवाद को निर्दिष्ट करने के जो भी प्रयास किये है वे रहस्यवाद की वास्तविक विशेषताओ से सर्वथा भिन्न और अनर्गल है। ऐसे मतो को हम निम्नलिखित भागो में बाँट सकते हैं—

१—ऐसे लोग जो औषधियो का प्रयोग करके रहस्यपूर्ण स्थिति उत्पन्न करते है और उसका नाम औषधिक रहस्यवाद रखते है।

२—ऐसे मिथ्या रहस्यवादी जो मनमवाद, अलौकिकवाद और तन्त्र तथा सिद्धिवाद में विश्वास रखते है।

३—कुछ ऐसे है जो रहस्यवाद को स्थानापन्न रूप में देखने का प्रयास करते है। जैसे प्रकृति रहस्यवाद, आध्यात्मवाद, तथा संवेगवाद-प्रेमोन्माद-कामुकता आदि।

४—बौद्धिकवादी दृष्टिकोण से ईश्वरीय शास्त्र को महत्त्व देने वाले हैं।

इन मतो के निराकरण के लिए एक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने की आवश्यकता है अत. यहाँ स्थानाभाव के कारण इनको छोडना ही उपयुक्त जान पड़ता है।

यद्यपि सम्पूर्ण रूप में रहस्यवादात्मक अनुभूति की सत्यता को सि॰ करने के लिए कसौटियों की दार्शनिक मीमासा सम्भव नही है। परन्तु रहस्यवादियो के जीवन तथा अनुभूतियों के आधार पर रहस्यवाद की कुछ

कसौटियों पर विचार किया जा सकता है—जिनके आधार पर हम स्थानापन्न रहस्यवाद को विलग कर सकते है।

१. **विश्वजनीनता**—पाश्चात्य या प्राच्य रहस्यवादियों के एकत्रित रहस्यात्मक अनुभूतियों में प्रभूत रूप में विश्वजनीनता के तत्व प्राप्त है। परम सत्ता के नाम के विषय मे, भक्ति और आत्मज्ञान के विषय मे उनकी एक ही प्रकार की शिक्षाएँ हैं। किसी देश या सम्प्रदाय विशेष के रहस्यवादी को दूसरे देश या सम्प्रदाय के रहस्यवादियों से भिन्न और अलग नहीं माना जाना चाहिए।

२. **बौद्धिकता**—रहस्यवाद, अनुशासन तथा जीवन-पद्धति पर बल देना है। इसके द्वारा शुद्ध-बुद्धि, उन्नत संवेग तथा प्रोत्साहित संकल्प प्रदान किया जाता है। अर्थात् यह जीवन के तीन मूल्यो को सन्तोष प्रदान करता है—प्रज्ञा, आनन्द तथा पवित्रता। यह बुद्धि संवेग तथा संकल्प के दोषो से मुक्त है।[1] कुछ आलोचकों का कहना है कि रहस्यात्मक अनुभूति में बौद्धिकता नही रहती, परन्तु उनकी यह धारणा समीचीन प्रतीत नही होती। वास्तविक रहस्यवादात्मक अनुभूतियाँ किसी मादक द्रव्य के सेवन से नहीं उत्पन्न होती और न तो प्रेमोन्माद की विक्षिप्तावस्था या किसी अलौकिक पैशाचिक सिद्धि अथवा साधना द्वारा ही प्राप्त होती है। इसका मूलाधार तो प्रतिभिक्ता इन्ट्यूशन) है जो बौद्धिकता के क्षेत्र मे सबसे उच्च शक्ति है। जो मतिभ्रम के कारण है या जो स्नायु रोगी है वह कभी वास्तविक रहस्यवादात्मक स्थिति को नहीं प्राप्त कर सकता। वास्तविक रहस्यवादियों की कल्पनाए व्यामोही की भाँति निरर्थक न होकर सशक्त एव सार्थक होती हैं। उसकी बुद्धि मर्मभेदी, स्थिर एव यथार्थ होती है।

३. **संवेगात्मक पक्ष**—रहस्यवाद के आलोचकों द्वारा यह भी तर्क प्रेषित किया जाता है कि रहस्यवाद का सम्बन्ध संवेगपूर्ण जीवन से नहीं होता। यदि संवेगपूर्ण जीवन का अर्थ उदासी, अवसाद या प्रचण्ड स्थायी भाव के रूप मे माना जाता है तो यह तर्क स्वीकार करने योग्य है कि रहस्यवादात्मक स्थिति में ऐसे सवेग को स्थान नहीं। रहस्यवाद की स्थिति में प्राप्त सवेग बुद्धि के प्रकाश से प्रदीप्त होने हैं। संवेगों का उपयोग ईश्वरानुभूति मे होने लगता है। उसमें मानसिक रूप मे विकृत व्यक्ति की भाँति सवेग न होकर,

---

१. श्री पी० एन० श्रीनिवासचारी, मिस्टिक्स ऐण्ड मिस्टिसिज्म, पृष्ठ ४६।

ुद्धि निर्देशित[1] होते है। रहस्यवादी समाहित चित्त होता है। सभी संवेग सभी भाव परमात्मा शक्ति के समागम के लिए सन्तुलित एवं संगठित रूप में ायुक्त होते हैं।

४. नैतिकता—यह कहा जाता है कि रहस्यवादी मे नैतिकता का लोप होता है। वह निष्क्रिय होता है। रहस्यवाद के मर्मज्ञ इन्ज ने भी इसी मत का पोषण किया है।[2] परन्तु वास्तविक रहस्यवाद में समाज और व्यक्ति दोनों के लिए उच्च नैतिकता की शिक्षाएँ मिलती है। वास्तव मे वहीं तो पूर्ण नैतिकता का विकास पाया जाता है।[3] सत्-असत् का ज्ञान विवेकपूर्ण जीवन, विचारों की दृढता, विवेचनात्मक बुद्धि, जन सेवा की यथार्थता एवं लोक संग्रह की भावना रहस्यवादी जीवन मे ही सम्भव है। उसका जीवन वासनाओं एव कालुष्य से दूर होता है। वह परम शुद्ध होता है। उसकी भावनाएँ पवित्र एवं दृढ होती हैं। जीवन में व्याप्त सत्ता का वह सच्चा सेवक है। उसकी जन-सेवा ही ईश्वर या सत्ता की सेवा है। उनकी पूर्णता का लक्ष्य शून्य की पूर्णता नही है; यह ऐसी प्रकृति की पूर्णता नही है जिसका मस्तिष्क अनुर्वर और हृदय-स्रोत शुष्क है। रहस्यवादी महान् आशावादी होते हैं और महत् शक्ति में उनका अगाध विश्वास होता है। उनमें शिथिलता, निष्क्रियता या निराशावादिता का होना वाछनीय नहीं, ऐसा होना उनके अन्दर विद्यमान प्रकाश के साथ धोखा होना है।[4] रहस्यवादी का जीवन जडता या उदासीनता का जीवन नहीं है, बल्कि आलोक, मुक्ति, शान्ति और शक्ति का है।[5]

५. प्रतिभिकता—रहस्यवाद की सबसे महत्त्वपूर्ण कसौटी है रहस्यवादियो द्वारा स्वय की अनुभूति प्रमाणिकता। उसकी अनुभूति अपनी निज की और अव्यवहित होती है। किसी दूसरे के माध्यम से नहीं प्राप्त होती। वह अपनी कसौटी स्वय होता है। इसके लिए उसके कथन ही पर्याप्त हैं।[6] प्रश्न है कि उसका स्वय का अनुभव कैसे प्राप्त होता है, जिसको वही जान सकता है

---

१. गीता, १२, १३–१५, १७–१६, २, ५४–६७।

२. इन्ज-स्टडीज ऑफ इंगलिश मिस्टिक्स, पृष्ठ २१।

३. प्रो० रानाडे, इण्डियन मिस्टिसिज्म, भूमिका पृष्ठ २७–२६।

४. राधाकृष्णन्, जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि, पृष्ठ ११४–११५।

५. राधाकृष्णन्, जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि, पृष्ठ २२२।

६ डॉ० रानाडे, इण्डियन मिस्टिसिज्म, भूमिका पृष्ठ ३०।

दूसरा नहीं ? यदि बौद्धिक प्रक्रिया होती तो सब के लिए सुलभ होती और एक से दूसरे तक पहुँचने में कोई बाधा न होती। वैज्ञानिक ज्ञान बौद्धिक है। इसीलिए सर्वत्र सम्भव है। परन्तु रहस्यवाद में ऐसी बात नहीं है। इसकी अनुभूति तो अनुभव करने वालों को ही हो सकती है। वर्गसा ने ठीक ही कहा है कि वस्तुओं को जानने के लिए दो पूर्णतः भिन्न मार्ग है। प्रथम मे किसी वस्तु की अपेक्षा होती है जिसके आधार पर हम अपने विचार प्रकट करते है और दूसरे मे न तो हम किसी वस्तु पर आश्रित होने है या किसी प्रतीक (चिह्न) पर निर्भर होते है और न किसी विचार-धारा का ही आश्रय लेते है। प्रथम प्रकार का ज्ञान सापेक्ष होता है और दूसरा निरपेक्ष। अर्थात् दूसरे प्रकार का ज्ञान 'पूर्ण' (आब्सोल्यूट) को प्राप्त करने मे ही सम्भव है।[१] इस दूसरे प्रकार के ज्ञान को वर्गसा इन्ट्यूशन कहता है। इन्ट्यूशन को परिभाषित करते हुए कहता है कि "यह एक प्रकार की बौद्धिक सहानुभूति है जिसके द्वारा हम किसी वस्तु के अन्तस्तल तक पहुँच जाते है और इस प्रकार उसकी विशिष्टता के साथ किसी अनिर्वचनीय आनुगुण्य की दशा का अनुभव करने लगते है।" उदाहरण के लिए वह आत्मज्ञान के विषय में कहता है कि एक ही सत्य है, जिसको अन्तर्तम से ही पकड़ा जा सकता है। इसको इन्ट्यूशन से ही ग्रहण कर सकते है, न कि विश्लेषण के द्वारा। इस प्रकार के ज्ञान के लिए अंग्रेजी मे इन्ट्यूशन शब्द ही रखा गया है जिसका प्रयोग वैज्ञानिक प्रतिभा, कवि की अन्तर्दृष्टि, नैतिक अन्तःकरण और धार्मिक विश्वास इन सभी के लिए होता है। यद्यपि ये सभी गतियाँ मन की अखण्ड क्रियाएँ है तो भी उनमे से कुछ का सम्बन्ध ज्ञान से होता है और कुछ का, आनन्दोपयोग या सृजन से। हमारे यहाँ अभी तक इसके लिए सदा अन्तर्दृष्टि, अन्तश्चक्षु अथवा प्रातिभज्ञान जैसे नामों के ही प्रयोग होते आये हैं। अरविंद ने भी मनस् को पाँच भागों मे विभाजित किया है। उच्चतर मानस, प्रदीप्त मानस, प्रातिभमानस, ऊर्ध्व मानस और अति मानस। इनमें से प्रातिभ मानस ही प्रातिभ ज्ञान का आधार कहा जा सकता है।

६. **वैयक्तिक स्वतन्त्रता**—यहाँ वैयक्तिक स्वतन्त्रता से हमारा तात्पर्य रहस्यवाद की उस कसौटी से है जो रहस्यवादी में जन सामान्य की अपेक्षा विशिष्ट रूप में है। वैसे तो समाज का कोई भी अग्रद्रष्टा, वैज्ञानिक, कवि या कलाकार इस गुण से विभूषित होता है परन्तु रहस्यवादी की वैयक्तिक

१. वर्गसा, इन्ट्रोडक्शन टू मेटाफिजिक्स, पृष्ठ १।

स्वतन्त्रता सर्वोपरि होती है। अन्य प्रकार के महापुरुषों में हो सकता है कि कोई मनोकांक्षा, दीर्घाशा, और श्लाघा विद्यमान हो परन्तु रहस्यवादी में इस प्रकार की कोई मनोभावना सम्भव नहीं। उसकी सभी इच्छाएं, मनोभावनाएँ अर्पित होती हैं महत् के समक्ष।

यहाँ हमारा वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अर्थ पूर्ण रूप में वैयक्तिक है। ऐसी स्वतन्त्रता समाज से स्वतन्त्रता या उच्छृखलता भी नहीं। वरन् व्यक्ति रूप में व्यक्ति अपनी मानसिक धारणाओं से प्रतिबद्ध नहीं रहता। उसका दृष्टिकोण निरपेक्ष होता है। वह किसी जाति, मत या सम्प्रदाय से आबद्ध नहीं रहता। हो सकता है कि हम उसे किसी मत या सम्प्रदाय में रख छोड़ें परन्तु वह तो स्वतन्त्र द्रष्टा होता है—समाज का, अपने मन का, अपने परिवेश का। वह अपने मन और शरीर तथा बाह्य और आन्तरिक बन्धनों से परे होता है। तभी उसकी वैयक्तिक स्वतन्त्रता अक्षुण्ण बनी रहती है। "आत्मज्ञ व्यक्ति का अन्य किसी भी वस्तु में मन नहीं। प्रीति भी नहीं; इसलिए आत्मरति, आत्म क्रीडा या व्यापार नहीं इसलिए आत्म क्रीडा, आत्मा के साथ रमण, सयोग, इसीलिए आत्म मिथुन, और फिर आत्मा को छोड़ अन्य विषयों में आनन्द ग्रहण नहीं करता, सीलिए वे आत्मानन्द होते है। स्वराट् अर्थात् सम्राट् होते है। तैत्तिरीय उपनिषद् में भी कहा गया है—'आप्नोति स्वराज्यमे्' अर्थात् जो स्वराज्य लाभ करते हैं, किसी के भी अधीन नहीं, ब्रह्मस्वरूप होते है। ब्रह्म को जानते है वे भी 'ब्रह्म'। गीता में भी कहा गया है 'ज्ञानी' आत्मस्वरूप होते हैं, इसीलिए सम्राट्। सांसारिक सम्राट् को फिर भी कुछ भय रहता ही है—रोग, शोक, मृत्यु-भय। भगवद्द्रष्टा अभय पद का लाभ करते है। क्राइस्ट, बुद्ध, रामकृष्ण प्रभृति ने इसी को कहा है "अमृतत्त्वम्"।[1] यही नहीं इन लोगों ने समाज के विभिन्न झंझावातों को अपनी वैयक्तिक स्वतन्त्रता और अमरता के आगे कुछ भी नहीं समझा। ऐसे व्यक्ति व्यक्तिवादी धर्म में विश्वास रखते है और स्वतन्त्रता तथा स्वतः स्फूर्ति प्रवृत्ति पर बल देते है। 'स्वतन्त्रता आध्यात्मिक जीवन का सर्वोच्च नियम है।'"[2]

इस प्रकार रहस्यवाद की सामान्य विशेषताओं और कसौटियों को देखते हुए हममे से कोई ऐसा नहीं होगा जो रहस्यवाद को एक गोपनीय विद्या

१. स्वामी नित्यात्मानन्द, श्री 'म' दर्शन, पृष्ठ ४६–५०।
२ , ओषम की दृष्टि, पृष्ठ १२०।

सिद्धि या मानसिक विक्षिप्तावस्था या धर्म विशेष के रूप में माने। रहस्यवाद विश्वात्मक सत्ता के प्रति प्रातिभरूप में प्राप्त चिर नवीन अनुभूति और जीवन-दर्शन है। कभी-कभी रहस्यवाद को धर्म के रूप में भी देखा जाता है। इसके विषय मे भी बड़े विकल्प हैं। क्योंकि धर्म या मत के आधार पर ही रहस्यवादियों को भी बाँटा जाता है। परन्तु रहस्यवाद के बृहत् विवेचन से यह ज्ञात होता है कि रहस्यवाद एक धर्म विशेष है। साथ ही यह भी विचारणीय है कि क्या रहस्यवादात्मक अनुभूतियों को धार्मिक भी कहते है? अथवा धार्मिक अनुभवों का क्या तात्पर्य है? यदि रहस्यवाद को धार्मिक अनुभव कह सकते है तो किस अर्थ में? इन प्रश्नो का उत्तर हम 'धर्म और रहस्यवाद' शीर्षक में प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे।

धर्म और रहस्यवाद

'धर्म' शब्द को अंग्रेजी मे 'रिलीजन' कहते है। 'रिलीजन' का—हिन्दी भाषा में कोई एक अर्थ नही मिलता।[1]

इसमें सन्देह नही कि धर्म के विभिन्न अर्थों को विभिन्न रूपों मे लिया गया है। इसलिए कोई धर्म को आचार नीति तक ही सीमित करता है, कोई परम्परा या रीति रिवाज या कर्म काण्ड को निर्धारित क्रिया-विधि तक ही धर्म को मानता है या कुछ लोग व्यक्तिगत जीवन के चरित्र और व्यवहार से सम्बन्धित गुणों को ही मानवतावादी दृष्टिकोण से सर्वोपरि धर्म मानते हैं। स्पष्ट है कि आध्यात्मिक अर्थ में जिसे हम धर्म कहते हैं उसका इन

१. शब्दकोष में अंग्रेजी शब्द रिलीजन के कई अर्थ प्राप्त होते हैं। उदाहरण के लिए किसी जाति, मत, पंथ या सम्प्रदाय की रीति अथवा आचार-कर्म को 'रिलीजन' के अर्थ में लिया जाता है। नियम, प्रयोग (व्यवहार) रीति-रिवाज, अधिनियम, धार्मिक या नैतिक गुण, पवित्रता, अच्छे कार्य, कर्तव्य, व्यवहार के लिए निर्धारित क्रिया विधि, षष्ठांस वृत्तिरेपि धर्मएवः। सत्य, न्याय, अपक्षपात, समदर्शिता, ईश्वरभक्ति, पुण्यात्मा होने का गुण, मर्यादा या शिष्टाचार, नैतिकता, नीतिशास्त्र, स्वभाव, चरित्र, आवश्यक गुण, विशेषता, लक्षण उपाधि विशेषण, ढंग और भक्ति आदि को 'रिलीजन' का शाब्दिक अर्थ बताया गया है। वमन शिवराम आप्टे, द स्टूडेन्ट्स संस्कृत, इंगलिश डिक्शनरी पृष्ठ २६८।

मान्यताओं से कोई भी सम्बन्ध नही है । नृतत्व विज्ञान के मर्मज्ञ, विकासवादी दृष्टिकोण से जो धर्म की रूपरेखा खीचते है उससे भी हमारा अर्थ नही है। हाँ, आध्यात्मिक अर्थ मे धर्म का अर्थ जो ईश्वर-भक्ति से लिया गया है वही हमे अभिप्रेत हो सकता है। चरमसत्ता या जीवन में सन्निहित सत्ता के सान्निध्य को ही धर्म का वास्तविक रूप दिया जा सकता है । इतना अवश्य है कि यदि इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए इन सभी अर्थों को साधन के रूप में लिया जाय तो हमे कोई आपत्ति नही है । जब हम मुख्य तत्व को छोड़ कर सहायक तत्वो को ही मुख्य मानने लगते है तो पथ से हट जाते है । इससे सत्य का लोप होना स्वाभाविक है । हो सकता है कि इसी से धर्म के विभिन्न विकल्पों का निर्माण हुआ हो । और इसी से धर्म का वास्तविक अर्थ आछन्न हो गया हो ।[1] कदाचित् इसी दृष्टिकोण से अरविन्द ने कहा है कि "भारतीय धारणा के हिसाब से धर्म केवल शुभ, उचित, सदाचार, न्याय और आचार नीति ही नहीं है, बल्कि अन्य प्राणियों के साथ, प्रकृति और ईश्वर के साथ मनुष्यो के जितने भी मम्बन्ध है उन सब का सम्पूर्ण नियमन है और यह नियामक तत्त्व ही वह दिव्य धर्म तत्त्व है जो जगत् के सब रूपों और कर्मों के द्वारा, आन्तर और बाह्य जीवन के विविध आकारों के द्वारा तथा जगत् मे जितने प्रकार के भी परस्पर सम्बन्ध हैं उनकी व्यवस्था के द्वारा अपने आप को सिद्ध करता रहता है" ।[2] श्री तिलक का पारलौकिक धर्म आध्यात्मिक अर्थ में ही है, जिसका अर्थ मोक्ष धर्म ही माना गया है ।[3] अन्य लेखको ने भी धर्म के विभिन्न प्रपंचो में न पड कर उसके वास्तविक अर्थ को 'मोक्ष धर्म' के ही रूप मे स्वीकार किया है । व्यावहारिक धर्म, नीति धर्म या समाज धर्म को इससे भिन्न माना है क्योकि जो जीवन मोक्ष अथवा पूर्णत्व की खोज करता है, वह कर्तव्य-पालन-रूप नैतिकता से उदासीन भी हो सकता है। इसीलिए आध्यात्मिक जीवन के इस पहलू को 'मोक्ष धर्म' कह सकते हैं। हमारी भाषा में आध्यात्मिक शब्द का प्रयोग प्रायः मोक्षान्वेषी जीवन के लिए होता है ।[4] यद्यपि मोक्ष शब्द विवादास्पद अवश्य है परन्तु यहाँ इसका अर्थ

---

१. हृदय नारायण मिश्र—धर्म के विकल्प, साधना, मार्च १९६६, पृष्ठ ११-१४ मई १९६६, पृष्ठ ७३-७६ ।
२. अरविन्द—गीता प्रबन्ध, प्रथम भाग, पृष्ठ ३०८ ।
३. तिलक—गीता रहस्य, पृ० ६५-६६, ६९, ५०७ ।
४. देवराज—संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, पृष्ठ ३१८ ।

पूर्णत्व प्राप्त करने या चरम सत्ता से सान्निध्य प्राप्त करने से ही है। इसमे किसी आपत्ति को स्थान नही होना चाहिए। जेम्स ने जीवन पर सम्पूर्ण के रूप मे की गई प्रतिक्रिया को धर्म कहा है।[१] जेम्स के भी विचारो से धर्म एक व्यक्ति के जीवन-दर्शन के समान ही प्रकट हो रहा है। धर्म मे व्यक्ति की सभी क्रियाएँ एक दृष्टि प्राप्त कर लेती है, जो उसके जीवन के प्रति होती रहती हैं। इसी प्रकार जब व्हाइट हैड कहते हैं कि धर्म वह क्रिया है जो व्यक्ति अपनी एकान्तता के साथ करता है।[२] तो यह स्पष्ट हो जाता है कि जेम्स की भाँति ये भी धर्म को व्यक्तिगत अनुभव के रूप मे ही मानते है। क्योकि मनुष्य केवल सामाजिक प्रपच मात्र ही नही है। वास्तविक रूप में धर्म का सम्बन्ध व्यक्ति से है। धर्म व्यक्ति को, सनातन सत्य की अनुभूति के लिए योग्य बनाता है। इसका मुख्य तत्त्व यही है कि यह व्यक्ति को अव्यवहित रूप मे सत्य का व्यक्तिगत अनुभव कराता है। धार्मिक सस्थाएँ और सम्प्रदाय तो धार्मिक अनुभूति के पश्चात् ही आविर्भूत होते हैं। धार्मिक अनुभूतियो का जो महत्त्व है वह उनका नही।[३] इसी प्रसग में डा० राधाकृष्णन् का मत उल्लेखनीय है। धर्म एक अभ्यान्तर और व्यक्तिगत चीज है जो सब मूल्यो का एकीकरण और सब अनुभवो का संगठन करती है। यह समग्र यथार्थ सत्ता के प्रति समग्र मानव की प्रतिक्रिया है। हम धार्मिक विषय की अपनी समग्र शक्तियों और ऊर्जाओ से खोजते हैं। समग्र मानव की यह क्रिया आध्यात्मिक जीवन कही जा सकती है, जो मात्र बौद्धिक या नैतिक या उन सब के सम्मिश्रण से एक सर्वथा भिन्न क्रिया है। एक स्थल पर उन्होने यह भी कहा है कि भावना, सवेग और भाव, नैसर्गिक वृत्ति, पूजा और कर्म काण्ड, प्रत्यक्षानुभव और विश्वास, इन सब को धर्म कहा जाता रहा है और अपने भावात्मक अर्थ मे ये सब विचार ठीक भी है। परन्तु अपने अभावात्मक या निषेधात्मक अर्थ में वे गलत है। ये विचार जहाँ किसी वस्तु को धर्म कहते हैं वहाँ तक वे सही है, किन्तु जहाँ ये अपने सिवाय बाकी सब को अधर्म कहते हैं वहाँ ये सही नही है।[४]

---

१. वैराइटीज ऑफ रिलीजस एक्सपीरियन्स, पृष्ठ ३१-३५।
२. व्हाइटहैड—रिलीजन इन द मेकिंग, पृष्ठ ६।
३. के० एस० रामस्वामी शास्त्री—ईवल्यूशन ऑफ इण्डियन मिस्टिसिज्म, पृष्ठ ७।
४. राधाकृष्णन्—जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि, पृष्ठ ८५-८६।

यदि हम काण्ट की तरह धार्मिक अनुभव और नैतिक चेतना को एक बताने का प्रयत्न करते हैं तो स्पष्ट है कि इन दोनो क्रियाओ के भिन्न-भिन्न लक्षणो की उपेक्षा करते है। धर्म केवल नैतिक मूल्यो की चेतना ही नही है। तो फिर अन्तर क्या है?

अन्तर स्पष्ट है। धर्म मे कुछ रहस्यात्मक तत्त्व है, वास्तविक सत्ता का एक निरपेक्ष बोध और उसका निरपेक्ष आनन्द है, जो नैतिक चेतना में नही होता।[1] इस अर्थ मे धर्म रहस्यवाद के समकक्ष ही है। या इस प्रकार कहे कि ऐसा धर्म रहस्यवाद ही है। जैसा हम देख चुके हैं कि रहस्यवाद एक अनिवर्चनीय सत्ता का अव्यवहित प्रातिभ अनुभव है, एक जीवन-दर्शन है, उसी प्रकार धर्म भी सत्ता का प्रत्यक्ष अव्यवहित, गहन और अन्तरग अनुभूति है। रहस्यवादात्मक अनुभूति की ही भाँति यह एक ऐसा अनुभव है जिसमें कर्त्ता कर्म का स्पष्ट भेद नही होता, यह एक अखण्ड पूर्ण और अविक्त चेतना है जिसमे मनुष्य की प्रकृति का यह या वह पक्ष नही, बल्कि उसकी समस्त सत्ता अपने को पाती है। यह चेतना की ऐसी स्थिति है जिसमे भावनाएँ मिल कर एकाकार हो जाती है, प्रत्यय परस्पर मिल कर अभिन्न हो जाते हैं, सीमाएँ टूट जाती है और सामान्य भेद समाप्त हो जाते हैं। एक कालातीत सत्ता की अनुभूति मे वर्तमान और अतीत का लोप हो जाता है। वहाँ चित् और सत् मे कोई भेद नहीं। समस्त सत्ता चेतना और समस्त चेतना सत्ता है।[2] चिर शान्ति, चिर सत् और आनन्द का अनिवर्चनीय बोध होता है। इसमें सुनिश्चितता होती है और होता है एक महान् जीवन। ऐसे ही धर्म और धार्मिक अनुभूतियों को कुछ लोगों ने 'रहस्यवादात्मक धर्म' तक की भी सज्ञा दे डाली है। और सास्थिक धर्म तथा रहस्यात्मक धर्म में अन्तर बतलाते हुए कहा है कि जहाँ एक कर्म काण्ड, उत्सव, और संस्थाओ पर निर्भर करता है वहाँ दूसरा आभ्यान्तरिक दृष्टि पर। उनके अनुसार रहस्यात्मक अनुभूति धार्मिक अनुभूति ही हैं, जो प्रत्यक्ष अव्यवहित और अन्तरग रूप में होती

---

१. राधाकृष्णन्—जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि, पृष्ठ ८५।

२. डा० राधाकृष्णन्—जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि, पृष्ठ ८९।

• तथा डब्ल्यू० बी० सेल्बी, द साइकलाजी ऑफ रिलीजन, पृष्ठ २४५ पर उद्धृत, हेनरी डिलाक्रोक्स की पुस्तक ला रिलीजन ऐट ला कोई में पृष्ठ २४७ पर रहस्यवाद क विवेचन।

हैं ।[1] इसी प्रकार डब्ल्यू० टी० स्टेस ने भी धर्म रहस्यवाद के सम्बन्ध मे दो प्रकार से उत्तर देने का प्रयास किया है । उनके अनुसार यदि धर्म का अर्थ मास्थिक मत, सम्प्रदाय या सिद्धान्त के रूप में लिया जाता है तो रहस्यवाद का धर्म से कोई सम्बन्ध नही है । दूसरे रूप में यदि धर्म का अर्थ बौद्धिक मतों और सिद्धान्तो की अपेक्षा अनुभूति के रूप मे लिया जाता है, जो पवित्र तथा दैवी होती है, तो वह अवश्य रहस्यात्मक अनुभूति रूप में मानी जा सकती है । इस धारणा के अनुसार निरीश्वरवादी समझे जाने वाले धर्म [बौद्ध] भी इसके अन्तर्गत आ जाते है, जैसा कि जेम्स ने भी इसे स्वीकार किया है । स्टेस ने सारांश मे अपना निर्णय रहस्यवाद और धर्म के सम्बन्ध मे यह दिया है कि रहस्यवाद पूर्णतः स्वतन्त्र है—इस अर्थ मे कि इसका अस्तित्व बिना किसी धर्म या मत के ही है । परन्तु धर्म और रहस्यवाद इस अर्थ मे एक दूसरे मे सम्बन्धित और अभिन्न हैं कि दोनों लौकिक क्षितिज के परे अनन्त और सनातन की ओर दृष्टि रखते है और इसलिए भी कि दोनों मे दैवी एव पवित्र भाव निहित है ।[2]

यहाँ एक विवादात्मक प्रश्न और भी खडा हो सकता है कि धर्म और रहस्यवाद के सम्बन्धो को स्वीकारात्मक रूप मे तो बहुत मे लेखक मानते है परन्तु उनका दृष्टिकोण भिन्न है । वे रहस्यवाद को धर्म या सम्प्रदाय विशेष से भिन्न नही ठहरा सकते । तो क्या उनका ऐसा, दोनो के सम्बन्ध को बतलाना मान्य हो सकता है ? स्पष्ट है कि हमे इस रूप मे धर्म और रहस्यवाद का सम्बन्ध स्वीकार नही । यद्यपि ऐसे लोग यह तर्क देते हैं कि किसी धर्म का उद्देश्य ईश्वर की प्राप्ति और आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करना है जैसा कि रहस्यवाद में भी यही स्वीकार्य है । परन्तु उनका यह तर्क समीचीन नहीं ज्ञात होता, क्योकि धर्म शब्द का प्रयोग उनकी दृष्टि मे धर्म के रूप में न होकर, 'मत', मजहब, या पथ के साथ सम्बद्ध कहा जा सकता है और ऐसा धर्म ईश्वरीय शास्त्र के साथ चलता है ।

अतः रहस्यवाद को यदि धर्म के रूप में देखने का प्रयास करते है तो केवल इसी रूप में कि यह मानव के मौलिक एवं स्वाभाविक धर्म का प्रतिनिधित्व करता है । परन्तु उस रूप में नही स्वीकार कर सकते जो धर्म,

---

१. के० एस० रामस्वामी शास्त्री—इवोल्यूशन ऑफ इण्डियन मिस्टिसिज्म, पृष्ठ ७ ।

२. स्टेस—मिस्टिसिज्म ऐण्ड फिलॉसफी, पृष्ठ ३४१-३४३ ।

मजहब, पंथ या सम्प्रदाय विशेष का स्वरूप ग्रहण करता है, क्योकि इनमे ऐसे तत्त्व सन्निहित होते है जिनका सम्बन्ध रहस्यवाद मे बिल्कुल नही है। उदाहरणार्थ कर्मकाण्ड, सृष्टि शास्त्र, ईश्वरीय शास्त्र आदि ऐसे अनेक अग है, जो रहस्यवाद के लिए महत्त्वहीन है। इनसे केवल मजहबी और साम्प्रदायिक विप्लव ही हुआ करते हैं। विज्ञान के साथ भी ऐसे धर्म का कोई मेल नही है। रहस्यवाद से विलग धर्म की धारणा के आधार पर हम बौद्ध धर्म को धर्म की सज्ञा नही प्रदान कर सकते, क्योकि वह तो इसके सदा विपरीत है। अतः हम अपने मान्य धर्म की धारणा से ही सहमत हो सकते है और इस प्रकार जब हम धर्म का अर्थ व्यापक कर दें तो बौद्ध धर्म को भी मान्य धारणा के अनुसार धर्म की संज्ञा प्रदान कर सकते हैं। इस अर्थ मे स्वीकार करने पर बौद्ध धर्म रहस्यवाद और धर्म दोनो की कोटि मे आ जाता है। इसी तथ्य को स्टेस ने भी स्वीकार किया है। इन दोनों मे आन्तरिक अनुभूति को ही महत्त्व प्रदान किया जाना चाहिए।[1] स्टेस ने रहस्यवादी एन० एम० की अनुभूतियों का उद्धरण दिया है जिससे यही प्रकट होता है कि रहस्यात्मक अनुभूतियाँ धार्मिक ही हैं। परन्तु इस धर्म-कोटि की नही जो मजहबी रूप मे है।" मुझे यह कहना चाहिए कि मेरा यह अनुभव 'धार्मिक' कोटि का है, किन्तु फिर भी मैं इसका सम्बन्ध किसी ऐसे धर्म या सम्प्रदाय के साथ जोडना असंगत समझता हूँ जिनकी सस्थाएँ चल रही है। मेरी तो यहाँ तक धारणा है कि जितने सुव्यवस्थित धर्म व सम्प्रदाय दीख पडते है वे स्वभावत. रहस्यवादी भावना के विरुद्ध पड़ते हैं"।[2]

साराश यह कि हम रहस्यात्मक अनुभूति को धार्मिक अनुभूति की सज्ञा प्रदान कर सकते है। आचार्य चतुर्वेदी जी के शब्दों में रहस्यवाद एवं धर्म का सम्बन्ध बराबर घनिष्ठ रहता आया है—यदि धर्म शब्द को मौलिक अर्थ मे लिया जाय और तदनुसार उसे किसी एक जीवन-दर्शन के रूप मे स्वीकार कर लिया जाय तो इसमे सन्देह नही कि ये दोनो वस्तुतः एक और अभिन्न से भी प्रतीत होने लगते है।[3]

इसीलिए धार्मिक जीवन को रहस्यात्मक जीवन की ही मान्यता प्रदान की जाती है। डा० राधाकृष्णन् के मतानुसार धार्मिक जीवन निवर्तन [पीछे

---

१. परशुराम चतुर्वेदी—रहस्यवाद, पृष्ठ १०० ।
२. स्टेस—मिस्टिसिज्म ऐण्ड फिलॉसफी, पृष्ठ ७३-७४ पर उद्धृत ।
३ परशुराम चतुर्वेदी—रहस्यवाद, पृष्ठ १३० ।

हटना] और पुनरावर्तन की एक लयबद्ध गति है—व्यक्तिगत एकान्त मे निवर्तन, जो विचार और चिन्तन की आवश्यकता का द्योतक है, और समाज के जीवन मे पुनरावर्तन। एकान्त की गतिविधि दो रूप धारण करती है—बौद्धिक, जो दर्शन और धर्म विज्ञान की ओर ले जाती है, और भावात्मक, जो रहस्यवाद में परिणत होती है।[1] ये दोनों धार्मिक जीवन के अवयव भूत अंग हैं। व्यक्ति की स्वतन्त्र गतिविधियाँ नही है।[2] जेम्स भी रहस्यवादी और धार्मिक व्यक्ति को जो बहुधा एक ही कहे जाते है, समान ही समझते हुए ज्ञात होते है। उन्होंने व्यक्त किया है कि धार्मिक व्यक्ति जिस विशिष्ट ढग मे सत्य का साक्षात्कार करता है, वह ढग विशेष रहस्यवाद है। अतः स्पष्ट है कि दोनों में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है।[3] डा० राधाकृष्णन् की परिकल्पना के अनुसार तो भारत का रहस्यवादी धर्म ही नये विश्व का धर्म बनने वाला है।[4]

इस रहस्यवादी धर्म का कथन है कि आध्यात्मिक वस्तुएँ वैयक्तिक हैं और हमे उन्हें अपने जीवन मे प्रतिबिम्बित करना चाहिए। ससार में ऐसे साधक हुए हैं जिन्होने वास्तविकता को प्राप्त करने के लिए सांसारिक विषयों से विमुख होकर साधना की कसौटी पर खरे उतर कर, नई ऊर्जा तथा संकल्प और सत्य की ज्योति लेकर सम्पूर्ण जगत् को द्युतिमान् कर दिया है। ऐसे महापुरुष प्रत्येक युग मे समय-समय पर होते रहे हैं। और जिन्हें देवदूत, पैगम्बर तथा अवतार की सज्ञा प्रदान की जाती रही है। अब यहाँ एक नया प्रश्न हो सकता है कि क्या देवदूत और अवतार रहस्यवादी हैं?

देवदूत और अवतार : क्या ये रहस्यवादी हैं—

बहुधा लोगों की यह धारणा बन जाती है कि देवदूत और अवतार समझे जाने वाले महान् व्यक्तित्व रहस्यवादियो की श्रेणी मे नही आ सकते, क्योंकि वे स्वतः परमात्मस्वरूप होते है। हमारी समझ में इस धारणा का भ्रम यही हो सकता है कि रहस्यवादियो को लोग अवतार या देवदूत से कम महत्त्व देते है। उन्हें एक निरा सासारिक व्यक्ति की परिकल्पना मे बाँध कर

---

१. डा० राधाकृष्णन्—ईस्टर्न रिलीजन ऐण्ड वेस्टर्न थाट, पृष्ठ ६१।
२. डा० राधाकृष्णन्—धर्म और समाज, पृष्ठ ८८।
३. जेम्स—द वैराइटीज ऑफ रिलीजस एक्सपीरिएन्स, पृष्ठ ३६१।
४. राधाकृष्णन्—धर्म और समाज, पृष्ठ ५३।

सीमित करने का प्रयास करते है। यह भी हो सकता है कि रहस्यवादियों को अब तक कुछ लोग विकृत मस्तिष्क के प्रकाश में देखते रहे हैं इसलिए उनका महत्व उस रूप में स्वीकार न कर पाते हो। ऐसा होता भी है कि कुछ विक्षिप्तावस्था के व्यक्ति अपने को रहस्यवादी या देवदूत और अवतार घोषित करके अनाचरण को प्रश्रय देते हैं। अतः यदि इस प्रकार का भ्रम हो भी तो अत्युक्ति नही। परन्तु कुछ विशिष्ट उदाहरणो के आधार पर सामान्यीकरण करना सत्य का गला घोंटना ही है। अभी तक अवतारो की धारणा पौराणिक सत्यो पर ही आधारित थी और देवदूतो का होना उससे थोड़ा आगे उन महान् उच्चादर्श-सम्पन्न व्यक्तियो तक सीमित रही है जो ससार को अतिमानवीय सन्देश देते रहे है। ईसा तथा मुहम्मद साहब देव-दूतों की ही श्रेणी मे माने जाते है। परन्तु अवतार न तो केवल पौराणिक सत्य है और न एक मानव की उच्च परिकल्पना ही। देवदूत या अवतार समझे जाने वाली सत्ता॰केवल एजेन्ट नही हैं और न तो प्रचारक मात्र, यह अवश्य कह सकते हैं कि 'गुरू' के रूप में यही नही उर्ध्वचेती मानव और उच्चस्तर के रहस्यवादी के रूप मे वही सत्ता अवतरित होती है, क्योकि अवतारी पुरुष ईश्वर की भाँति नित्य-शुद्ध-बुद्ध मुक्त स्वभाव होते है। जीव की तरह वे कभी कर्म के बन्धन मे आबद्ध नही होते; क्योकि जन्म से आत्मराम होने के कारण पार्थिव भोग-सुख के लिए जीव की तरह उनमें स्वार्थमय प्रयास कभी भी उपस्थित होते नही देखे गए। शरीर धारण कर उनकी सारी चेष्टाएँ दूसरे के कल्याण के निमित्त होती रहती हैं। भूत और भविष्य उनमें समाहित रहते हैं। वे सभी कालों के निरपेक्ष द्रष्टा होते हैं। यही है उच्चस्तर के रहस्यवादियो का भी जीवन और कार्य। अन्तर्मुखी अथवा बहिर्मुखी दोनो वृत्ति वाले रहस्यवादियो का जीवन अवतार की ही श्रेणी मे है। ईसा, बुद्ध, मुहम्मद, जरथुस्त्र प्रभृति जितने भी अवतार या देव-दूत कहे जाने वाले महान् व्यक्तित्व हैं, वे उच्चस्तर के रहस्यवादियो की कोटि मे ही हैं। हो सकता है कि सभी रहस्यवादी की श्रेणी में आने वाले महापुरुष अवतार की कोटि मे चाहे न आएँ परन्तु सभी अवतार और देव-दूत, रहस्यवादी की ही श्रेणी मे आते है। क्योकि शक्ति का अवतरण मानव के रूप में होता है। उसे सभी मानवीय क्रतियों को सम्पन्न करना पड़ता है। उसका आचरण मानवीय रूप मे ही होता है। उसका आदर्श जागतिक रूप मे प्रतिष्ठित होता है। इसलिए रहस्यवादियों की भाँति उस 'मानव' को भी साधना करनी पड़ती है। रहस्यात्मक अनुभूतियों को हृदयंगम करना पड़ता

है। कष्ट, परिताप और प्रतारणा सहन करनी पडती है, परन्तु उसका समागम सदैव अतीन्द्रिय शक्ति मे ही होता है। अवतार अपने कालातीत जीवन-दर्शन को रहस्यवादी के रूप मे प्रकट करता है। स्वयं आचरण करते हुए दूसरों से आचरण कराता है। अधर्म के स्थान पर धर्म की संस्थापना करता है। आसुरी शक्तियो पर विजय प्राप्त कर दैवी शक्ति का प्रसरण करता है। यही लक्ष्य है अवतार, देवदूत या रहस्यवादी का।

हम यहाँ स्पष्ट कर देना चाहते है कि चाहे सभी रहस्यवादी अवतार या देवदूत न माने जाते हो परन्तु सभी अवतार या देवदूत समझे जाने वाले, महान् व्यक्तित्व रहस्यवादियो की कोटि मे ही आते है। यहाँ हमारा लक्ष्य यह नही है कि अवतार क्यो होते है, कैसे सम्भव है ? या इनकी क्या सत्यता है ? हमे तो यही देखना है कि अवतार या देवदूत कहे जाने वाले महान् व्यक्तित्व रहस्यवादी की श्रेणी मे कैसे है ? वैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से हम अवतार या देव-दूत जैसे शब्द को लेकर भ्रम या विवाद मे न पड कर मात्र यही निश्चित कर लेना चाहते है कि उनमे रहस्यात्मक स्थिति किस रूप मे होती है और उनको रहस्यवादी कैसे कह सकते हैं ?

श्री अरविन्द का कहना है कि अवतार होना तो तब कहा जा सकता है जब कि अपने परमेश्वर और परमात्मा होने का आन्तरिक ज्ञान हो और यह ज्ञान हो कि हम अपनी भागवत् सत्ता से मानव प्रकृति का शासन कर रहे है।[1] हम श्री अरविन्द के इस विचार से सहमत नही हो पा रहे है। क्योंकि जहाँ तक भगवान् को अपनी भगवत्ता के विषय मे ज्ञान का प्रश्न है, वह तो निर्वैयक्तिक या निर्गुण रूप मे अर्थात् बिना अवतार लिए ही रहता है। वह तो जगत् नियन्ता, कर्ता, पालक, जो कुछ भी हो सब जानता ही है। मानवीय रूप मे अवतरित होकर तो उसे मानवीय कृति करनी ही पडती है। साधना का प्रश्रय लेना पड़ता है। जागतिक माया और प्रपंच मे पड़ना पडता है। क्योंकि अपनी माया को लेकर अवतरित होता है। वह जीव की ही भाँति कार्य करता है। वह मानव के रूप में जब भी होगा अंश का ही रूप होगा। और फिर अंश को पूर्ण में मिलना होगा, मानव चैतन्य का भागवत् चैतन्य में संवर्द्धन करना होगा। और यही है रहस्यवाद। अवतार मानव बनता है, अतः वह रहस्यवादी बनता है। रहस्यवाद के विस्तृत अध्ययन से यही ज्ञात होता है कि अवतार में रहस्यवाद की सभी विशेषताएँ

१. अरविन्द—गीता प्रबन्ध, प्रथम भाग, पृष्ठ २८८

सहज ही प्राप्त होती हैं। अतः अवतार या देवदूत को रहस्यवादी कहने मे कोई आपत्ति नहीं है।

और दूसरी ओर कभी-कभी कुछ उच्च स्तर के रहस्यवादियो को महत् सत्ता की ओर आरोहण के अनुसार अवतार भी माना जा सकता है। ऐतिहासिक रूप मे ईसा, बुद्ध तथा महाप्रभु चैतन्य आदि उच्च स्तर के रहस्यवादियो को अवतार के रूप मे माना भी जाता है। क्योंकि जब रहस्यवादी 'मै' 'तू' और 'तू' 'मैं' की स्थिति मे पहुँच जाता है तो फिर अन्तर कहाँ। श्री अरविन्द जी ने संकेत करते हुए कहा भी है कि यह भी सम्भव है कि परमपुरुष पुरुषोत्तम का उच्चतर भागवत चैतन्य स्वयं भी मनुष्य के अन्दर उतर आए और जीव चैतन्य का उसमें लय हो जाय। श्री चैतन्य के समकालीन लोग यह बतला गए है कि वे अपनी साधारण चेतना मे भगवान के केवल एक प्रेमी और भक्त थे और यह नहीं चाहते थे कि कोई उन्हे भगवान् कह कर पूजे, किन्तु कभी-कभी वे एक ऐसे विलक्षण भाव मे आ जाते थे कि उस अवस्था मे वे स्वयं भगवान् ही हो जाते तथा भगवद् भाव से ही भाषण और कर्माचरण करते थे, और ऐसे समय उनके अन्दर से भगवत् सत्ता के प्रकाश, प्रेम और भक्ति का अबाध प्रवाह उमड पडता था। अब मान लीजिए कि जीवन की यदि सामान्य अवस्था हो जाय और मनुष्य इस भागवत्-सत्ता और भागवत् चैतन्य का केवल एक पात्र ही बना रहे तो अवतार सम्बन्धी इस मध्यवर्ती भावना के अनुसार ऐसे पुरुष को अवतार कहने में क्या आपत्ति हो सकती है? क्योकि यदि मानव प्राणी अपनी प्रकृति को इतना उन्नत करले कि उसे भागवत-सत्ता के साथ एकत्व अनुभव हो और वह भगवान के चैतन्य, प्रकाश, शक्ति और प्रेम का एक स्रोत-मार्ग सा बन जाय, उसका अपना संकल्प और व्यक्तित्व भगवान् के ही संकल्प और भाव मे घुल-मिल कर अपना पृथकत्व खो दे—क्योकि यह भी एक मानी हुई आध्यात्मिक अवस्था है—तो मानव जीव के अन्दर उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को अधिकृत कर के, भगवान् का ही संकल्प, भगवान् की ही सत्ता, और शक्ति, उन्ही के प्रेम, प्रकाश और चैतन्य प्रतिबिम्बित हो सकते हैं, और यह जरा भी असंभव नहीं है, बल्कि उसमे दिव्य पुरुष का उतर आना भी है, यह एक अवतार ही है।[1]

अतः कुछ अर्थों मे उच्चस्तर के रहस्यवादी अवतार के रूप में भी माने

---

१. अरविन्द—गीता प्रबन्ध, प्रथम भाग, पृष्ठ २९१-२९२।

जा सकते हैं। यदि वैज्ञानिक तथा निरपेक्ष दृष्टिकोण से देखा जाय तो उच्च स्तर के रहस्यवादियो मे तथा अवतारो मे अन्तर नही है। प्रश्न है उच्चस्तर के रहस्यवादी का क्या अर्थ है? इनकी क्या वस्तुगत कसौटियाँ है?

उच्चस्तर के रहस्यवादियों की वस्तुगत कसौटियाँ :

यद्यपि धार्मिक अनुभूतियाँ एक ही कोटि की होती हैं परन्तु उनको अनुभूत करने के स्तर भिन्न-भिन्न रूपो में हो सकते है। हो सकता है कि कोई साधक इन धार्मिक या रहस्यात्मक अनुभूतियो से पूर्ण रूपेण ओतप्रोत हो और कोई उस अनुभूति के आंशिक रूप को ही ग्रहण कर सका हो। अतः पूर्ण रूप से सत्ता से समागम करने वाला, उसी प्रकाश से प्रकाशित तथा सत्-चित्-आनन्द का स्वरूप प्राप्त कर लेने वाला साधक उन रहस्यवादियो से उच्च कहा जा सकता है जो उस पवित्र तथा दैवी अनुभूति की अर्ध प्राप्ति मे ही रह जाते हैं। इसके अतिरिक्त उच्च स्तर के रहस्यवादियों को उनकी उपलब्धियो के आधार पर भी निम्न स्तर के रहस्यवादियो से भिन्न किया जा सकता है। इसका सबसे बड़ा कारण उनकी उपलब्धियो की सार्वभौमिकता ही है जिनको इनकी सबसे बडी कसौटी कह सकते है।

उच्चस्तर तथा निम्नस्तर के रहस्यवादियो को अलग करने का कारण यह भी हो सकता है कि बहुत से ऐसे मानसिक रूप से विक्षिप्त व्यक्ति जो अपने को मतिभ्रम के कारण देव-दूत या अवतार अथवा साधक तथा रहस्यवादी कह कर घोषित करते हैं और उनके शिष्य उनकी ख्याति प्रयत्न पूर्वक जन-जीवन में फैला देते हैं और कुछ समय तक उस स्थिति का ढोंग करते हुए वे अन्त मे पथ-भ्रष्ट से ज्ञात हो जाते है या उनकी उपलब्धियाँ नाम-मात्र को भी नही हो पाती, तो ऐसे रहस्यवादी वास्तव मे रहस्यवादियो की कोटि मे तो पहले आते ही नही, यदि उनको मान्यता प्रदान भी कर दी जाय तो वे थोडे समय मे ही लुप्त हो जाते है। अतः ऐसे रहस्यवादी निम्न स्तर के ही माने जाएँगे। कुछ वस्तुगत कसौटियाँ उच्च स्तर के रहस्यवादियों मे पर्याप्त रूप मे प्राप्त हैं। उनके लक्ष्य की व्यापकता, उत्तम विचार, मानवता, जीवन में सामंजस्य, सकल्प की दृढता, संकीर्णता से मुक्ति आदि को ही रहस्यवादियों की वस्तुगत कसौटियो के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

१—**लक्ष्य की व्यापकता :**—विश्वात्मक सत्ता की निर्विशेष एकता मे सभी कुछ अन्तर्हित रहने से रहस्यवादी का लक्ष्य व्यापक होता है जागतिक

वस्तुओं तक ही उनका जीवन सीमित नहीं रहता। स्थायित्व में ही व्यापकता निहित है। रहस्यवादी ही स्थायित्व और अस्थायित्व की विभेदक दृष्टि रखता है। वह सत्य का निरपेक्ष द्रष्टा होता है, इसीलिए वर्तमान और भविष्य को देखते हुए अपने आध्यात्मिक जीवन के आधार पर ही जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे अपना लक्ष्य व्यापक रखता है। बहुधा लोग उसकी एकांगी साधना को देख कर यह मत प्रकट कर देते है कि रहस्यवादियो मे एकान्तिक जीवन की अभीप्सा होती है। वह समाज तथा लौकिक जीवन से विरत होता है, परन्तु यह धारणा निरर्थक है; क्योंकि वह अपनी व्यापक दृष्टि के ही कारण केवल सासारिक जीवन को महत्त्व नही देता। आन्तरिक जीवन सबल होने पर ही वह नैतिकता और अनैतिकता के ऊपर उठ कर अत्याचार तथा दुराचार का प्रतिरोध करता है। विभेदों मे सामंजस्य उत्पन्न करना उसी का कार्य है। ईसा, बुद्ध, और हजरत मुहम्मद का व्यापक लक्ष्य प्रकट है। उनके उपदेश जिस व्यापकता से भरे पड़े हैं, वे क्या संसार को आज भी आलोकित नही कर रहे हैं ?

२—**उत्तम विचार** :—कौन सा ऐसा देश नही है जहाँ कि उनकी प्रत्येक उत्तम विचारधारा का अजस्र स्रोत न प्रवाहित होता हो। उनकी साधना से प्राप्त, विचार धाराएँ, जीवन-दर्शन तथा उनकी आध्यात्मिक शक्ति-सम्पन्नता हमारे जीवन को आलोकित करती है। वे दुनियाँ के शोर-गुल से दूर, इन्ही शक्तियो को प्राप्त करने के लिए ही रहते हैं, जिसे हम लोगों में से कुछ ऐसे हैं जो पलायनवाद कहते है। यह हम भूल जाते हैं कि उनकी विचार धाराएँ मानव जीवन की नींव के रूप में हैं अन्यथा आज मानव, मानव न रह जाता। आज ईसा के प्रेम, और बुद्ध के 'पचशील' से विश्व प्रभावित है। वेदो और उपनिषदों के ऋषियों द्वारा प्रदत्त विचार धाराएँ विश्व-जीवन की आधार-शिला हैं। उनका सत्य सतत आलोकित है।

३—**मानवता** :—उनकी मानव के प्रति उदारता, सहिष्णुता, पवित्रता तथा जीवन की सरलता आदि गुण समाज की दृष्टि से कम महत्त्वपूर्ण नही है। उनका चरित्र, प्रसून का वह सौरभ है, जिस पर जन-जीवन मँडराता है और जीवन का व्यावहारिक आनन्द उनके जीवन-पथ पर चल कर प्राप्त करता है। उनकी तटस्थता तथा वैराग्य नकारात्मक नही भावात्मक हैं। उदारता, सहिष्णुता, मधुरता, सरलता, परोपकारिता और मैत्री आदि गुणों से वे युक्त होते हैं। कुछ लोगों का मत है कि उनमें रागात्मक तत्त्व होते ही नही परन्तु ईसा चैतन्य एव रामकृष्ण परमहस के जीवन को देखते हुए यह

आक्षेप पूर्णतया निराधार प्रतीत होता है। रहस्यवादियों मे तो दूसरो के सुख में मैत्रीपूर्ण सन्तोष होता है। दुखियो के प्रति अपार करुणा होती है। वे उनका कष्ट स्वय ले लेते हैं। पापियों या अत्याचारो के प्रति उनकी उपेक्षा होती है।[१]

४—**जीवन में सामंजस्य तथा संकल्प की दृढ़ता**:—उच्चस्तर के रहस्य-वादियों की वस्तुगत कसौटी यह भी है कि उनके 'कहने' और 'करने' मे पूर्ण सामजस्य होता है। उनमे संकल्प की दृढता होती है। इन दोनो तत्त्वो मे समानता है। बिना सकल्प की दृढता के किसी की वाणी तथा आचरण मे सामंजस्य नही हो सकता। यही कारण है कि रहस्यवादी की सकल्प-वृत्ति लोकोपकार मे ही चरितार्थ होती है। ईसा ने अपनी मरुस्थल की साधना मे और बुद्ध ने बोधिसत्व के मार्ग मे जो सकल्प की दृढता दिखलाई, और सहस्र बाधाओं को तुच्छ समझते हुए साधना-लब्ध उस सत्य का जो मुक्तहस्त वितरण किया, उसे देखते हुए इसमे कोई सन्देह नही रहता कि रहस्यवादियों में संकल्प की दृढता होती है तथा 'कहने' और 'करने' मे सामजस्य भी होता है।

५—**संकीर्णता से मुक्त** :—अन्त मे महत्त्वपूर्ण वस्तुगत कसौटी है किसी भी प्रकार की संकीर्णता का न होना। उच्च स्तर के रहस्यवादी सकीर्णताओं से मुक्त रहते हैं। उनमे वैयक्तिक स्वतन्त्रता रहती है। उनकी वैयक्तिक स्वतन्त्रता से हमारा तात्पर्य यह नही है कि वे व्यक्तिगत जीवन को स्वतन्त्र रूप से समाज और परिवार से अलग होकर व्यतीत करते हैं, जैसा कि बहुत से लोग समझा करते है, वैयक्तिक स्वतन्त्रता से हमारा तात्पर्य यह है कि वे व्यक्तित्व को किन्ही मानसिक धारणाओ या तुच्छ विचारों से बद्ध नही करते। उनमे पूर्वाग्रह नहीं होते, वर्ग भेद नही होता, और न तो उनमें किसी विशेष प्रकार का ऐसा विश्वास ही होता है, जो विनाशकारी माना जाता हो, बल्कि वे नपे-तुले सिद्धान्तों और सीमाओ से परे होते हैं। उनकी स्वतन्त्रता केवल दैवी स्वतन्त्रता का वाहक होती है। इसीलिए उनमें विश्व-बन्धुत्व, भ्रातृत्व की भावना और लोक कल्याण की इच्छा होती है। कुछ लोगो का कहना है कि रहस्यवादी तो निवृत्ति मार्ग पर ही बल देते हैं। परन्तु उनके कथन मे सत्यता नही जान पडती। ईसा के उपदेश क्या प्रवृत्ति मार्ग की शिक्षा नही देते? बुद्ध का दुःख निरोध का उपाय क्या इसका

१. योग सूत्र, १-३३।

उदाहरण नही है ? गुरु नानक देव ने जो सामाजिक कुरीतियो के खण्डन का प्रयास किया और भक्ति मार्ग मे व्याप्त बुराइयो को दूर किया, यह उनकी प्रवृत्ति मार्ग ही तो है।[1]

यह हो सकता है कि निवृत्ति के द्वारा प्रवृत्ति पर चलने को कहें। श्री रामकृष्ण कहते थे 'हाथ मे तेल लगाकर कटहल काटो' इसका यही तात्पर्य है कि निवृत्ति के बाद ही प्रवृत्ति मार्ग पर चलना श्रेयस्कर है। इसमें व्यक्ति बँधता नही। दुखों और चिन्ताओ से आक्रान्त नही होता।

ऐसे उच्चस्तर के रहस्यवादी ही जीवन को दिव्य दृष्टिकोण प्रदान करते हैं। यह उनकी ससार के लिए अमूल्य देन है। अब यह आवश्यक है कि ऐसे उच्चस्तर के रहस्यवादियो के विषय मे कुछ जानकारी प्राप्त की जाय और उनके विषय में प्राप्त सामग्रियो की विश्वसनीयता भी सिद्ध की जाय।



---

१ डा० मिश्र—श्री गुरु ग्रन्थ दर्शन, पृष्ठ ५४ ५६।

2

कुछ उच्चस्तर के रहस्यवादी

यहाँ हम उच्चस्तर के रहस्यवादियो के साथ श्री रामकृष्ण परमहस के जीवन तथा धार्मिक अनुभूतियों का वैज्ञानिक अध्ययन करना चाहते है। परन्तु उसके पहले हमें यह निश्चित कर लेना आवश्यक होगा कि बुद्ध, जेसस, मोहम्मद, नानक, चैतन्य तथा श्री रामकृष्ण के विषय मे जो सामग्री प्राप्त है, क्या वह पर्याप्त मात्रा में विश्वसनीय है ?

वैज्ञानिक अध्ययन के लिए किसी भी विषय का अध्ययन मात्र जनश्रुति पर आधारित नही हो सकता। वास्तव मे वैज्ञानिक अध्ययन के लिए तथ्यो की विश्वसनीयता एवं यथार्थता का बहुत ही महत्त्व है। वैज्ञानिक अध्ययन की एक विशेषता है कि वह निर्विवाद हो। इसमें द्विधा या शका को स्थान नहीं होना चाहिए। जो वस्तु प्रमाणित सिद्ध कर दी जाती है उसमे आन्तरिक तथा बाह्य सामंजस्य प्राप्त होता है। निष्कर्ष विश्वासोत्पादक होता है और उसे सर्वव्यापी मान्यता प्राप्त होती है। विज्ञान के निर्णय इसी प्रकार के होते हैं। भौतिक, और रसायन विज्ञान की आधुनिक मान्यताएँ इसीलिए अकाट्य होती हैं। वैज्ञानिक अध्ययनों के तथ्य इस प्रकार से प्राप्त किए जाते हैं कि उनमे सन्देह करने का अवसर नही मिलता, क्योकि उनके तथ्यों की यथार्थता और विश्वसनीयता पूर्ण होती है। यदि तथ्य कही भी अशुद्ध हुआ तो निष्कर्ष निकलेगा ही नहीं। यदि निकला भी तो अशुद्ध, जिस पर विश्वास नही किया जा सकता। माना कि कुछ सीमा तक विज्ञान को परिकल्पनाओं की भी शरण लेनी पड़ती है, परन्तु तथ्यों की यथार्थता तथा विश्वसनीयता निर्धारित करने के लिए ही परिकल्पनाएँ होती है। यदि तथ्य विश्वसनीय नही सिद्ध होते तो उस परिकल्पना को तत्काल ही त्याग देना पड़ता है। वैज्ञानिक उसी परिकल्पना को सत्य सिद्ध कर पाता है जिसके तथ्य अन्त में यथार्थ होते है और वही तथ्य विश्वसनीय भी होता है, जिसकी परिकल्पना सत्य सिद्ध होती है।

यह रही बात वैज्ञानिक विषयों के के सम्बन्ध में ठीक यही

प्रक्रिया अन्य विषयो में भी प्रयुक्त की जाती है। किसी भी विषय का ज्ञान बहुधा दो ढंग से प्राप्त किया जाता है एक सामान्य, द्वितीय वैज्ञानिक। सामान्य रूप में प्राप्त किए हुए ज्ञान के तथ्यों की विश्वसनीयता उतनी नही होती जितनी कि वैज्ञानिक रूप मे प्राप्त किए गए ज्ञान के तथ्यों की। क्योंकि एक में जहाँ ज्ञान का क्षेत्र विस्तृत एवं व्यापक रूप में ग्रहण किया जाता है, वहाँ दूसरे मे सीमित तथा गहन। विज्ञान के क्षेत्र में जिस प्रकार यन्त्रो और उपकरणों का विश्वसनीयता के लिए उपयोग किया जाता है, उसी प्रकार अन्य विषयों मे तथ्यो के सकलन के लिए प्रत्यक्ष रूप मे प्राप्त विषयो, आधिकारिक व्यक्तियो के कथनो, निश्चित तिथियो के प्राप्त अभिलेखो आदि का उपयोग किया जाता है।

वैज्ञानिक अध्ययन के लिए बहुधा दो प्रकार से तथ्यों की वास्तविकता निश्चित की जाती है। प्रथम आत्मगत, द्वितीय वस्तुगत। आत्मगत विधि मे व्यक्ति का अपना प्रभाव पड़े बिना नही रहता। इससे तथ्यो मे एक नया मोड़ उत्पन्न हो सकता है। विचारों की हठवादिता होने से उनका सर्वदेशीय या सार्वलौकिक होना सम्भव नही रहता। फिर भी इसमे बहुत कुछ सत्याश प्राप्त किया जा सकता है, परन्तु इसके लिए आवश्यक है कि उस विषय मे जीते-जागते या प्रभावकारी तथ्य स्पष्ट रूप मे प्राप्त हों। ऐसी दशा मे व्यक्ति का अपना दृष्टिकोण कभी बाधक नही हो सकता। न कोई मनमाना अर्थ ही निकाला जा सकता है और न तो अपनी अलग से व्याख्या ही की जा सकती है। उदाहरणार्थ किसी बुद्धिवादी आधिकारिक व्यक्ति द्वारा प्रदत्त तथ्यों के आधार पर यदि किसी विषय का विवरण और प्रस्तुतीकरण किया जाय तो आत्मगत विषय भी वैज्ञानिक अध्ययन के लिए कार्यकारी हो सकता है। अधिकांश रूप मे साहित्यिक, ऐतिहासिक एव धार्मिक विषयो मे यही प्रक्रिया काम मे आती है। यदि किसी महापुरुष के समय का कोई मान्य व्यक्ति जीवित है तो उसके द्वारा प्राप्त सूचनाओ के आधार पर किया हुआ अध्ययन पूर्ण ही माना जा सकता है। परन्तु शर्त यह है कि उसमें अपनी ओर से कुछ नवीनता न लाई जाय और मूल सूचना से भिन्न न प्रस्तुत किया जाय। साथ ही उस व्यक्ति का विश्वासपात्र होना भी आवश्यक है।

• जहाँ तक विषयगत तथ्यो की सत्यता का सम्बन्ध है, यह पूर्णरूपेण वैज्ञानिक है। प्राप्त तथ्यो को जैसा का तैसा रख कर उनका अध्ययन करना उसकी विषयगत वास्तविकता को सिद्ध करना है। इसमे हम अपने विचारो इच्छाओ मनोवृत्तियो और प्रेरणाओ से परे होते हैं व्यक्तिगत

गुणो तथा अवगुणो का आरोप हम इसमे कदापि नही कर सकते । अत: इससे तथ्य यथार्थ एवं विश्वसनीय भी रहते हैं और उनसे प्राप्त निष्कर्ष भी मान्य होते हैं । विज्ञान के अतिरिक्त अन्य विषयो मे भी विषय-गत तथ्य जैसे—आँकडो, जीवित आख्यानो, ग्रथो और अभिलेखो आदि के रूप मे प्राप्त होते हैं, जिनके आधार पर वैज्ञानिक अध्ययन सुलभ, सहज तथा सत्य होता है। इन तथ्यो का उपयोग भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। तथ्यों का इतना महत्त्व है कि यदि विज्ञान तथ्यो को ऐसे सिद्धान्तो में जबरदस्ती बैठाने का आग्रह करे, जो उनके साथ अनुकूल नही है तो वह अन्धविश्वास बन जाता है।[1] परन्तु उचित रूप से प्रयुक्त तथ्य अवश्य विश्वसनीय होते है और उनको सर्वदेशीय तथा सार्वकालिक मान्यता भी प्राप्त होती है। इसीलिए ऐसा अध्ययन वैज्ञानिक भी होता है। वैज्ञानिक इसलिए कि, वह सुसम्बद्ध निश्चित तथा क्रमबद्ध ज्ञान होता है। उदाहरण के लिए इतिहास मे बहुत से ऐसे विषय हैं जिनका वैज्ञानिक महत्त्व उतना नही है जितना कि अन्य विषयो का, क्योकि उनके तथ्य दूसरे विषयो की अपेक्षा उतने विश्वसनीय नही होते। तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो इतिहास का एक युग दूसरे युग की अपेक्षा तथ्यो की यथार्थता तथा विश्वसनीयता के आधार पर अधिक मान्य है। क्योंकि किसी युग के अभिलेख, साहित्य तथा अन्य विवरण पूर्ण रूप से यथार्थ रूप मे प्राप्त होते हैं, और किसी युग के तथ्यो के विषय मे केवल अनुमान तथा अन्दाज से ही काम लिया जाता है। यद्यपि अनुमान भी वैज्ञानिक रूप से ज्ञान प्राप्त करने का एक तार्किक रूप और विधि है परन्तु इसका उतना महत्त्वपूर्ण स्थान नही है जितना कि लिखित या साक्षात् तथा प्रत्यक्ष रूप मे प्राप्त विषयों का। अत: सिद्ध है कि वैज्ञानिक अध्ययन के लिए तथ्यों की यथार्थता एवं विश्वसनीयता का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है।

परन्तु यहाँ दूसरा प्रश्न आता है कि क्या विश्वसनीयता की मात्रा की सीमा निश्चित की जा सकती है। इसमे सन्देह नही कि प्रायोगिक विषयों के लिए तो इसकी मात्रा की सीमा निश्चित है,[2] परन्तु साहित्यिक एवं अन्य

---

१. राधाकृष्णन्—जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि, पृष्ठ २३३।

२. परन्तु जीव विज्ञान तथा अन्य प्राकृतिक विज्ञानों में विश्वसनीयता की निश्चित सीमा नहीं प्राप्त कर सकते, क्योंकि वैज्ञानिक, जीवों के व्यवहार, उनकी शारीरिक दशा, विकास आदि के कुछ ऐसे तथ्य हैं, जिनसे पूर्ण विश्वसनीयता का दावा नहीं कर सकते। इसके लिए उनको

विषयो में इसको पूर्ण रूप से चरितार्थ नहीं कर सकते। इसीलिए विश्वसनीयता प्राप्त करने के लिए स्तरों मे विभाजन करना आवश्यक हो जाता है। यदि ऐसा नही करें तो ऐतिहासिक तथ्य विश्वसनीय कहे ही नहीं जा सकते। वैज्ञानिक विधियो को लागू करके यदि उन्हें हम देखते हैं तो यथार्थ अवश्य जान पड़ते हैं, परन्तु उनकी विश्वसनीयता वैज्ञानिक विषयों की भाँति तो नही कही जा सकती। तो क्या इतिहास झूठा है ?

इसीलिए तो प्रामाणिकता या विश्वसनीयता के भी स्तर है। यदि इन स्तरों के आधार पर देखा जाय तो १—कुछ तथ्य पूर्ण रूप में प्रामाणिक ज्ञात होते हैं, २—कुछ अर्द्ध रूप में और ३—कुछ उससे कम।

मुख्य रूप से हम यहाँ ऐतिहासिक तथ्यो की विश्वसनीयता की चर्चा करना चाहते हैं। क्योकि हमने जिन धार्मिक महापुरुषो को अपने अध्ययन-क्षेत्र के अन्तर्गत लिया है उनका सम्बन्ध अतीत से ही है। उनके जीवन सम्बन्धी ऐतिहासिक तथ्य और उनके विषय मे प्राप्त सामग्री कितनी विश्वसनीय हो सकती है, यह देखना है।

एक बात यहाँ और भी है। यह प्राचीन कथन है कि वर्तमान का ज्ञान प्राप्त करने के लिए अतीत आवश्यक है। परन्तु यह कथन पूर्णरूपेण सत्य प्रतीत नही होता। भूत का कोई अध्ययन उन वस्तुओ से प्रारम्भ होना चाहिए जो उसके तात्कालिक समय मे अस्तित्व मे होती हैं। अतीत कोई मौलिक तत्व नही है। इतिहासकार भूत को वर्तमान के ही आधार पर जानता है। यह कोई विरोधाभास नही है। क्योकि भूत की कोई घटना, जिसकी इतिहासकार व्याख्या करता है, उसका वह प्रत्यक्ष रूप में अवलोकन नही कर सकता। अतः भूत तक इतिहासकार दो रूपो मे पहुँच सकता है। १—अपनी स्मृति द्वारा—इस रूप मे वह अपनी वर्तमान की स्मृति से ही प्रारम्भ करता है और उसकी यथार्थता का मूल्याकन करता है। २—भूत की घटनाओ से सम्बन्धित अवशिष्ट वस्तुओ की व्याख्या द्वारा और अवशिष्ट वही होते है जो वर्तमान मे ही पाए जाते है। उदाहरण के रूप मे

विश्वसनीयता की श्रेणी निर्धारित करना आवश्यक है। प्रकृति के नियम में एकरूपता होते हुए भी कभी-कभी विज्ञान के नियम उल्लंघित मालूम पड़ते है। अंकेक्षण शास्त्र को विश्वसनीयता प्राप्त करने का एक साधन अवश्य माना जाता है, परन्तु उसका नियम भी कभी-कभी विचलित होता हुआ मालूम पड़ता है।

ऐतिहासिक वृत्त, जीवन-चरित्र, मौखिक परम्परा से प्राप्त स्मृतियाँ (जैसे गीत और कहानियाँ), भवन और चित्र-कला आदि । अतः यह कथन कि वर्तमान का ज्ञान भूत से होता है, पूर्णतः सत्य नही है । कुछ वस्तुओं की प्रकृति भूत के अध्ययन के पहले ही, वर्तमान मे अवश्य ज्ञात होनी चाहिए । इतिहास अतीत का ज्ञान है । तब तो इसका ज्ञान अनुमान पर भी निर्भर है ।

जहाँ तक धार्मिक महापुरुषो के विषय में प्राप्त सामग्री के विषय का सम्बन्ध है, वे वर्तमान मे हमारे लिए सुरक्षित है । हम इन्हीं तथ्यो द्वारा ही अतीत में उन पुरुषों के होने (अस्तित्व) का अनुमान कर सकते है । हम यह भी देखते हैं कि उनके जीवन-काल में उन महान् पुरुषों की कुछ बाते उनके बाद भी कुछ मौखिक रूप में जन-जीवन मे व्याप्त रहती है, और बाद मे उनका संकलन कर लिया जाता है और उनको यथार्थ मानते है । इसी आधार पर और अतीत के महापुरुषों के जीवन के विषय में प्राप्त सामग्री के आधार पर भी यह अनुमान घटित किया जा सकता है कि बुद्ध या ईसा या मुहम्मद या नानक अथवा चैतन्य के उपदेश प्रामाणिक हो सकते हैं ।

प्रश्न है प्रामाणिकता की मात्रा कितनी है ? सर्वांश रूप में या आंशिक रूप में । इसके लिए दूसरी विधि परिकल्पना की है । इतिहास मे परिकल्पना का उपयोग निम्नलिखित प्रश्नो में किया जा सकता है ।[1] १—क्या स्रोत यथार्थ है ?

इस प्रश्न के विषय में परिकल्पना द्वारा और लेख प्रमाण कहाँ तक यथार्थ है, इसे देख कर उत्तर निकाला जा सकता है ।

२—उन स्रोतो के अर्थ क्या हैं ? अवशिष्ट क्या सूचित करते हैं ? आदि ।

इन प्रश्नो के उत्तर पाने के लिए भाषा और उद्देश्य आदि की परीक्षा करनी होती है ।

३—प्राचीन घटनाओं की व्याख्या क्या है ? और उनके बीच सम्बन्ध क्या है ?

इसका तत्कालीन घटनाओ से व्याख्या करने तथा सम्बन्ध का पता लगाने से उत्तर मिलता है । यदि हम इन तीनो प्रश्नों का उपयोग धार्मिक महापुरुषो के विषय मे प्राप्त सामग्री के लिए करें तो उनके लेख प्रमाण ही इसके लिए

---

१. मोरिस आर० कोहेन तथा अर्नेस्ट नेगल—ऐन इन्ट्रोडक्शन टू लाजिक ऐण्ड साइन्टिफिक मेथड, पृष्ठ ३२५-३२६ ।

पर्याप्त उपादेय सिद्ध हो सकते हैं। जैसे इतिहास की किसी घटना के विषय मे लेख प्रमाण मिलते है वैसे ही इनके बारे मे भी उनके उपदेश और वचन जो संग्रहीत या मौखिक परम्परा से प्राप्त हुए रहते हैं, लेख प्रमाण के रूप मे होते है। और उनको हम साक्षी के रूप मे ग्रहण कर सकते है। इनके पीछे जो उद्देश्य रहते हैं वे सामान्य रूप से मान्य ही होते है और तत्कालीन भाषा का प्रयोग भी उनकी प्रामाणिकता को सिद्ध करता है। तीसरी बात जो इन पुरुषो के अस्तित्व और वचनो की प्रामाणिकता के लिए प्रमाणस्वरूप मानी जा सकती है, वह है उस समय की अन्य घटनाओ से सम्बन्ध स्थापित करना। इस दृष्टि से हम देखे तो इन सभी ऐतिहासिक पुरुषो के जीवन की घटनाओ का सम्बन्ध इतिहास की अन्य घटनाओ से प्राप्त होता है। कहने का अर्थ है कि अन्य घटनाओ से प्राप्त होता है। अर्थात् अन्य घटनाओ से भी इनकी व्याख्या सरल हो जा सकती है। वे भी इनके प्रमाण-स्वरूप है। जैसे बुद्ध के जीवन मे राजा बिम्बसार की उनसे भेंट, यष्टिवन, लट्ठिवन मे जाना, सारनाथ मे उपदेश आदि उस समय की घटनाएँ और स्थान भी तो सम्बन्ध बतलाकर प्रमाणित करते है। उसी प्रकार ईसा के समय मे 'यरूशलम' के मन्दिर तथा शहर का रोमनो द्वारा विनष्ट करना, हेरोदेस, तिविरियस का राजा होना, गैलिली और बैतलहम आदि स्थान भी तो प्रमाण के रूप मे है।

अब रही बात प्रामाणिकता की मात्रा की। ऐतिहासिकता की उपर्युक्त मान्य कसौटी की दृष्टि से हो सकता है कि विश्वसनीयता की मात्रा कम या अधिक हो। उदाहरणार्थ यह तो स्वीकार ही करना पड़ता है कि जो विषय-सामग्री किसी व्यक्ति के जीवन-काल मे उसी के द्वारा या उसके साक्षात् शिष्यो द्वारा प्रत्यक्ष रूप मे लिखी हुई मिलती है, वह सर्वांश रूप मे प्रामाणिक होगी। परन्तु इसके साथ ही साथ यह भी है कि ज्यों-ज्यो समय व्यतीत होता जाता है त्यो-त्यो उसकी विश्वसनीयता भी कम होती जाती है। क्योंकि बीच-बीच मे भक्तों द्वारा इतनी अधिक मात्रा में प्रशसा होने लगती है कि अतिशयोक्ति तथा बनावटी विचार धाराओ से सत्य पर परदा पडने लगता है, अन्ध-विश्वास की जड़ें जमने लगती है। यही नही चमत्कारिक बातों का उद्भव होने लगना और अलौकिकता का जुडने लगना भी सम्भव हो जाता है। अब भी गान्धी तथा नेहरू को साक्षात ईश्वर मानने लगने की बात असंभव नही है। जन-मानस में इस प्रकार के मत का प्रचार बड़ा सरल बन जाता है और भी मिलने

लगती है ।[1] परन्तु ये रही ऊपरी बाते । यदि उनके मौलिक रूप को देखा जाय तो वह प्रामाणिक ही होता है ।

दूसरी श्रेणी की विश्वसनीयता वह मानी जा सकती है जब कि व्यक्ति स्वय कुछ न लिखे और न तो उसके विषय मे दूसरे ही लिखे, वरन उनके उपदेश या वचन उनके साक्षात् शिष्यो द्वारा परम्परागत रूप मे स्मृति के आधार पर चले आएँ और बाद मे उनका सकलन हो जाय । यद्यपि यह सकलन प्रामाणिक ही माना जा सकता है, परन्तु इसमे विश्वसनीयता की उतनी मात्रा नही मानी जा सकती जितनी कि स्वय व्यक्ति द्वारा अपने विषय मे या उसके जीवन-काल मे साक्षात् शिष्यो द्वारा लिखित सामग्री मे होती है । क्योंकि हो सकता है कि परम्परा से प्राप्त विषय जिसका आधार स्मृति है, बाद मे चल कर कुछ छूट जाय या तो अपनी ओर से भी कुछ जोड़ दिया जाय । यदि हम ऐतिहासिक परम्परा को देखें तो ऐसे उदाहरण अधिकाश रूप मे हैं, जो स्मृति परम्परा से ही सुरक्षित है । क्योंकि उस समय लिखने का साधन नही था या था तो बहुत कम, या यो भी कह सकते है कि स्मृति की परम्परा ही रही है । अतः श्रुति ही मुख्य आधार रहा है । यदि यह साधन अपने में पूर्ण और मुख्य रहा है तो उसमे अविश्वास करना आवश्यक नही । इतने उच्च कोटि के विपुल धार्मिक साहित्य इसी परम्परा से तो सुरक्षित है, जिनका प्रणयन अब होना कठिन ही प्रतीत होता है । इतने साधन होते हुए भी क्या इस प्रकार के ग्रंथ लिखे जा सकते है ? अतः इस प्रकार के उच्च कोटि के ग्रथ स्मृति परम्परा पर ही निर्भर रहे हैं । चाहे वह त्रिपिटक, बाइबिल, कुरान या जरथुस्तियो का अवेस्ता ही क्यो न हो ।

तीसरी कोटि मे विश्वसनीयता की ऐसी मात्रा मानी जा सकती है जिसमें अल्पांश रूप में वैज्ञानिक अध्ययन के लिए विश्वसनीयता प्राप्त की जा सकती है । दूसरी कोटि मे तथा इसमे अन्तर यह है कि एक मे उपदेश तथा शिष्यो के नाम उनकी सस्था या वर्ग अथवा परम्पराएँ ज्ञात रहती है, स्थान विशेष का पता रहता है—जहाँ उपदेश दिए जाते हैं, परन्तु दूसरे मे

---

१. इण्डियन नेशन—२६-२-६२ के एक विवरण के अनुसार एक ईसाई वृद्धा जब वोट डालने गई, तो उसने पोलिंग आफिसर से कहा कि मैं नेहरू को वोट दूंगी । क्योंकि वह ईसा का अवतार है ।
डा० कपिलदेव पाण्डेय—मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, पृष्ठ ७८५ पर उद्धृत टिप्पणी ।

किसी स्रोत का पता नही चलता। वे एकान्तिक रूप में ईश्वरीय माने जाते है, जिनका सबसे बड़ा आधार विश्वास कहा जा सकता है। विश्वास कर लेने पर या श्रद्धा से मान लेने पर तो यह विश्वसनीय ही है अन्यथा कोई ठोस प्रमाण लक्षित नही होता। पौराणिक कथाएँ आदि इसी रूप मे है।

अन्ततोगत्वा धार्मिक ग्रथ तो इसलिए भी विश्वसनीय माने जा सकते है कि उनमे मानवता का सर्वस्व निहित होता है। यह एक आदर्शात्मक कसौटी है। वैज्ञानिक अध्ययन के लिए तो यह पूर्ण रूप से आधार नही बनाया जा सकता, परन्तु अपने मे इसका महत्त्व हो सकता है।

उपर्युक्त कसौटियो के आधार पर हम अपने अध्ययन-क्षेत्र युग-पुरुषो के विषय में प्राप्त सामग्रियों की विश्वसनीयता निर्धारित करने का प्रयास करेंगे।

बुद्ध का व्यक्तित्व ऐतिहासिक है और इनके विषय में पूर्ण ज्ञान हमे त्रिपिटक द्वारा प्राप्त होता है। परन्तु वह कहाँ तक यथार्थ और विश्वसनीय है यह देखना हमारा लक्ष्य है। हमने जिन महापुरुषो को अपने अध्ययन-क्षेत्र के अन्तर्गत लिया है श्री रामकृष्ण को छोडकर अन्य पुरुषों के विषय मे प्राप्त सामग्री उनके जीवन-काल मे लिपिबद्ध न होकर बाद में हुई। यह भी कहा जाता है कि स्मृति के आधार पर उनको सचित किया गया और कुछ समय पश्चात् ही उनका सग्रह-कार्य हुआ।

बुद्ध के विषय में भी यही बात दृष्टिगोचर होती है। एडवर्ड कोन्जे का ठीक ही कहना है कि "ऐतिहासिक विवेचन के विषय मे जब हम वर्तमान विचारधारा से दृष्टिपात करते है तो 'लागलायस' और 'सिगनोबोस' के शब्दो मे यही कहना पड़ता है कि 'वह अभिलेख जिसके लेखक, जिसकी तिथि और जिसके उत्पत्ति स्थान के विषय मे निश्चय नही किया जा सकता वह अच्छा होते हुए भी निरर्थक है।" दुर्भाग्यवश बुद्ध धर्म के ग्रथो के विषय मे यही उक्ति अधिकांश रूप में लागू होती है, जिनके आधार पर हम बुद्ध धर्म के इतिहास का निर्माण करते है। हिन्दुओ ने ऐतिहासिक तिथियों की पूर्णरूप से उपेक्षा की है। वे ऐतिहासिक परिवर्तन को अपरिवर्तनीय सत्य की तुलना में बिल्कुल महत्त्वहीन समझते थे। भारतीय बौद्ध धर्मावलम्बियो ने इसी प्रवृत्ति को अपना लिया। यहाँ तक कि गौतम बुद्ध के जीवन की महत्त्वपूर्ण तिथियो के विषय मे भी विभिन्न अनुमान है। गौतम बुद्ध की मृत्यु आधुनिक विद्वानों के अनुसार ४८३ ई० पूर्व है। भारत मे बौद्ध परम्परा के अनुसार बुद्ध की निर्वाण तिथियाँ ई० पूर्व ८५२, ६५२, ५५२, ३५३ और

यहाँ तक कि २५२ आदि तक हैं।[1] उसने बुद्ध के विषय में ऐतिहासिक विश्वसनीयता और प्रामाणिकता पर प्रकाश डालते हुए पुनः कहा है कि "बुद्ध के बारे मे इतिहास अशतः मिलता है। लगभग ४०० वर्षो तक उनकी परम्परा का मौखिक रूप से ही विद्वानो में आदान-प्रदान होता रहा। मौखिक आदान-प्रदान की परम्परा के कारण बहुत से प्राचीन तथ्य अब नष्ट हो गए हैं। लिखित रूप से ग्रथो के विषय में हम अन्धकार में ही हैं"।[2]

मूल बुद्ध दर्शन या बुद्ध-जीवनी और उनकी धार्मिक अनुभूतियो का ज्ञान उन महाग्रथ समूहो मे निहित है जिनको सामूहिक रूप मे त्रिपिटक की सज्ञा प्रदान की जाती है और जिनकी रचना पालि भाषा में हुयी है। त्रिपिटक का अर्थ है, तीन पिटारियाँ। यह तीन महाग्रथों का समूह है और इसी ने बुद्ध-वचन संचित है। ये तीन पिटक इस प्रकार है—सूत्र पिटक, विनय पिटक और अभिधर्म पिटक। बुद्ध-जीवनी तथा दर्शन का ज्ञान इन्ही पिटको द्वारा सम्भव है। कहा जाता है कि पालि भाषा मे लिखित ये तीन पिटक ही बुद्धानुशासन को जानने के लिए सर्वथा एकमात्र मार्ग है।

कोन्जे का मत है कि अत्यन्त प्राचीन काल से लेकर आगे के समय तक धर्म-ग्रथ, 'धर्म' और 'विनय' दो भागो मे बाटे गए थे। विनय के अन्तर्गत विहार के नियमों का उल्लेख है और धर्म के अन्तर्गत सिद्धान्तो का विवेचन किया गया है। दूसरा महत्त्वपूर्ण विभाजन सूत्र और शास्त्र के बीच है। सूत्र वह प्रामाणिक मूल ग्रथ कहा जाता है जो स्वय बुद्ध द्वारा कहा गया है उनके वर्णन का प्रारम्भ इस प्रकार है "इस प्रकार मैने एक बार सुना" यहां 'मैं' का तात्पर्य गौतम बुद्ध के शिष्य आनन्द से है, जिन्होने बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् ही उनके सम्पूर्ण शब्दो को कहा। यहा कोन्जे सूत्रो की प्रामाणिकता पर सन्देह प्रकट करते हुए कि सूत्र वास्तविक बुद्ध-वचन हैं या किसी के द्वारा बाद मे जोडे गए, कहता है कि "बहुत से सूत्र बुद्ध की मृत्यु के सैकड़ो वर्ष पश्चात् बनाए गए। सूत्रो के वास्तविक निर्माता जिनका वर्णन स्वयं ऐतिहासिक बुद्ध ने भी नहीं किया है, वास्तव मे अज्ञात है। बौद्ध धर्म के अनुयायी बाद के सूत्रो के महत्व के आधार पर ही परस्पर विभाजित हो गए जिसमे एक हीनयान से प्रसिद्ध हुआ—जिसके अनुसार सूत्रो को बुद्ध की मृत्यु के बाद [४८० ई० पूर्व ही नही कहा गया, इसलिए वे वास्तविक नहीं

१. एडवर्ड कोन्जे—बुद्धिज्म, पृ० ३०।
२. एडवर्ड कोन्जे—बुद्धिज्म, पृ० २९।

है और उन्हे गौतमबुद्ध का कथन नही कहा जा सकता। वे कविता अथवा परियो की कहानियो से अधिक नही है। दूसरा विभाजन महायान सम्प्रदाय कहलाया, जिसकी सम्मति है कि बाद के सूत्र भी गौतम बुद्ध के मुख से ही निकले हुए है। कोन्जे का मत है कि काल-क्रम की दृष्टि से इसे स्वीकार करने में बड़ी कठिनाइयाँ हैं। महायानियो ने उसके [समय] निराकरण के लिए कई प्रमाण अपनाए। उदाहरणार्थं एक प्रसिद्ध कथा है कि 'प्रज्ञापरिमिता' सूत्र का भी प्रकाश स्वय गौतम बुद्ध को ही हुआ था परन्तु उस समय के लोगों के लिए वे [सूत्र] बहुत कठिन थे, लोगो की समझ के बाहर की वस्तु थी। फलस्वरूप वे नागों के महलों में [नाग लोक मे] सुरक्षित रख दिए गए और जब उपयुक्त समय आया तो महान् विद्वान नागार्जुन पाताल लोक गए और उसे नरलोक मे ले आए। कोन्जे का कहना है कि इस कथन मे भला कौन विश्वास करेगा।

अधिकाश आधुनिक विद्वानो का मत है कि त्रिपिटक मे प्राप्त, वास्तविक रूप में, बुद्ध-वचन नही है, यदि कुछ हैं भी तो उनकी प्रामाणिकता पूर्णरूपेण सिद्ध नही होती। ई० जे० टामस ने 'फ्रैंके' का मत देते हुए कहा है कि "फ्रैंक का कथन है कि बौद्ध धर्म-ग्रथ सम्पूर्ण रूप में प्रामाणिक नहीं है और वे एक ही समय तथा एक ही बार मे नही सम्पादित किए गए। यहां तक कि पहले दो पिटक भी प्रथम अथवा द्वितीय सगीतियों के समय तक पूर्ण नही हुए थे।" गौतम बुद्ध की बात-चीत का शाब्दिक विवरण इतना सदिग्ध है कि उसके कथन का उल्लेख अनावश्यक है। हमे यह पता है कि बुद्ध के शब्द शताब्दियों तक स्मृतियो में ही सुरक्षित रहे। पालि-ग्रथो का यह कथन है कि बौद्ध ग्रंथो को पहली बार लंका में वित्तागामनी [२१ से १७ ई० पू०] के शासन काल मे लिपिबद्ध किया गया। यह हो सकता है कि उस समय में ही मूल ग्रथ को शुद्ध करके लिखा गया हो, परन्तु यह सम्भव है कि अधिकाश भाग इसके पहले ही लिखा जा चुका था। तथ्य जो कुछ भी हो इतना सही है कि बहुत समय तक बुद्ध के उपदेश स्मृति-परम्परा में ही सुरक्षित रहे। अस्तु, उनके उपदेशों के निश्चित क्रमों की सुरक्षा का साधन नही था। अथवा यह भी नही माना जा सकता कि कोई परम्परा द्वारा सुरक्षित कथन वास्तव मे गौतम बुद्ध के ही शब्द हैं।[1]

टामस अन्यत्र यह विचार भी प्रस्तुत करता है कि बुद्ध-वचन में व्याख्या-

---

१. ई० जे० टामस—हिस्ट्री आफ बुद्धिस्ट थाट- पृ० २६५-२६६।

कारों का योग है। वे सामान्यत: बुद्ध के शब्द नही है। दो प्रसिद्ध व्याख्याकारो के वर्ग 'दीघ' और 'मज्झिम' के है। और यह सरलतापूर्वक देखा जा सकता है कि उनमे परम्परा का परिनिर्वहण किया गया है, जो कभी-कभी मूल ग्रंथ मे मिलाए गए है। यही नही परम्पराओ मे विभिन्नता भी मिलती है।

यह बात मुख्य रूप से सभाषणो के विवरणो से प्रत्यक्ष है कि वे कहाँ और किस समय दिए गए हैं। टामस यह भी कहता है कि इनमे से हो सकता है कि कुछ लेख-प्रमाण सत्य हो, परन्तु वास्तविकता यह है कि प्रत्येक सभाषण के विषय मे दिया हुआ उसी प्रकार का विवरण यह सम्भव बनाता है कि उनमे से बहुत सन्देह पर ही आधारित हैं।

यही नही इन औपचारिक कथनो के अतिरिक्त हम बहुधा उपाख्यान तथा अलौकिक कहानियों का भी समावेश पाते है। यह बात अधिकतर 'विनय' मे हैं और उसी प्रकार के उपाख्यान सूत्र में भी है।[1]

कहना न होगा कि इन अलौकिक कहानियो और उपाख्यानो से किसी ग्रंथ की विश्वसनीयता और प्रामाणिकता वैज्ञानिक दृष्टि-कोण मे अवश्य नष्ट हो जाती है। परन्तु उनको सर्वांश रूप मे अस्वीकार करने का हमारे पास कोई आधार भी नही है।

कभी-कभी यह भी कहा जाता है कि ससार के प्रमुख धर्म ग्रंथो का संरक्षण स्मृति के द्वारा हुआ है और इससे बढ़कर कोई दूसरा साधन विश्वसनीय नही हो सकता। क्योंकि जो बात प्रत्यक्ष रूप में सुनी गई है और स्मृति के आधार पर सुरक्षित है, उसमे सन्देह का अवसर नही होना चाहिए। परन्तु हमने पहले यह देखा कि स्मृति से रक्षित बातें भविष्य मे अवश्य सन्देह को आश्रय देती है। परम्परागत भी होने के कारण उनकी विश्वसनीयता कम हो जाती है। क्योकि प्रथम व्यक्ति से सुना और याद किया हुआ विषय, दूसरी पीढ़ी मे चलकर कुछ न कुछ क्षीण अवश्य हो जाया करता है। इसीलिए सामग्री का अक्षरश: लिखित रूप ही अधिक विश्वसनीय होता है। स्मृति के आधार पर रक्षित विषयो की कमियों की ओर सकेत करते हुए टामस ने लिखा है कि 'स्मृति द्वारा याद किया हुआ ज्ञात-प्रमाण लिखित से अधिक कभी-कभी विश्वसनीय विधि मानी जाती है, परन्तु इससे गलती होने के खतरे भी बहुत होते है। इस प्रकार की भिन्नता और भेद वेदो मे भी प्राप्त होते है। और यही बात पालि और सस्कृत में सचित किए गए

१. ई० जे० टामस—हिस्ट्री आफ बुद्धिस्ट थाट, पृष्ठ १३३-१३४।

लेखो मे भी पाई जाती है। याद करने की विधि से दूसरी कठिनाई यह होती है कि इससे उस लेख के विशिष्ट लेखक तथा स्रोत का पता नही चलता।[1]

कुछ लोगो का तो मत है कि लेखन कला का आविष्कार भारत मे बुद्ध-युग के बहुत पहले ही हो चुका था, फिर भी बुद्ध-उपदेश बुद्ध के समय मे ही लेख बद्ध कर लिए गए हो, इसका कोई प्रमाण नही मिलता। अतः यह सिद्ध है कि बुद्ध के सभी उपदेश मौखिक थे।[2]

कुछ अन्य पाश्चात्य विद्वानों ने भी त्रिपिटक की प्रामाणिकता मे सन्देह प्रकट किया है। उदाहरण स्वरूप मिनएफ, स्मिथ, वार्थ, और कीथ आदि के नाम उल्लेखनीय है।[3]

उपर्युक्त सभी आलोचको के आक्षेपो का कुछ अशो में निराकरण करते हुए भरत सिंह उपाध्याय ने यह बताने का प्रयास किया है कि त्रिपिटक मे बुद्ध-वचन मौलिक रूप मे ही सचित है क्योकि उस समय की परम्परा स्मृति के रूप मे उपदेशों को ग्रहण करने के ही रूप मे थी। इसके लिए 'पिटकधर' होते थे, जो सूत्रधर, विनयधर और मात्रिकाधर आदि के नाम से अपने द्वारा स्मृत त्रिपिटक के भागों के अनुसार पुकारे भी जाते थे। और माणवारो मे जो दीघ निकाय आदि ग्रंथो का विभाजन उपलब्ध होता है, वह भी इसी परम्परा को सूचित करता है। अतः इनकी तीव्र स्मृति मे सन्देह करके त्रिपिटक की प्रामाणिकता नष्ट नही की जा सकती।

इसके अतिरिक्त उन्होने सगीतियों द्वारा बुद्ध-वचन के किए गए सगायन के आधार पर भी यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि त्रिपिटक प्रामाणिक है। क्योकि प्रथम सगीति जो बुद्ध-निर्वाण के तीन मास बाद ही हुई थी, ये स्मृतियाँ अति नवीन रही होगी और उनको विकृत करने का पूर्वाचार्य संगीतकारों के पास कोई कारण न रहा होगा। अत. सभी परमार्थ प्रिय अर्हतो की इस समिति के द्वारा संगायन किए हुए

---

१. वही—इण्ट्रोडक्शन, पृष्ठ १८–२१।

२. भरत सिंह उपाध्याय—पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ७४–७५।

३. विंटरनित्ज—हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, जिल्द २ पृष्ठ १ पद संकेत १, तथा गायगर—पालि लिटरेचर ऐण्ड लेंग्वेज पृष्ठ ९, पद संकेत ८ में इनके विचारों का उल्लेख मिलता है।

धर्म-विनय की प्रमाणवत्ता के विषय में सन्देह करने का हमारे पास कोई कारण नही है।[1]

यह भी सिद्ध है कि जो पालि-त्रिपिटक उपलब्ध हैं वह स्मृति की परम्परा से प्राप्त है और जिसको लका मे ही ईसा की प्रथम शताब्दी मे लेखबद्ध किया गया।[2]

इस दृष्टि से त्रिपिटक की ऐतिहासिकता और प्रामाणिकता मान्य हो सकती है। फिर भी हम यह दावा नही कर सकते कि भगवान् बुद्ध ने जो कुछ भी अपने जीवनकाल मे कहा या सोचा, वह सभी त्रिपटक मे सग्रहीत है। अथवा सहस्रों ने जो कुछ सुना उन सबने ही आ-आकर त्रिपिटक मे उसे सग्रहीत करवा दिया हो, ऐसा भी नही माना जा सकता। अत. ऐतिहासिक दृष्टि से बुद्ध के मुख से निकले हुए अनेक ऐसे वचन हो सकते है जो त्रिपिटक मे हमे न मिलते हों और जिन्हे अन्यत्र हम कही पा भी नही सकते। उपाध्याय जी ने यह भी शका उत्पन्न की है कि त्रिपिटक में जो कुछ भी सुरक्षित है वह सभी बिना किसी अपवाद के बुद्ध-वचन है, ऐसा भी नही माना जा सकता। हाँ इतना अवश्य कहा जा सकता है कि त्रिपिटक में विश्वस्तरूप में बुद्ध-वचन अपने मौलिक रूप मे सुरक्षित हैं।[3]

इस प्रकार टामस, कोजे, या अन्य आलोचकों के कथन कुछ अशो मे अपने स्थान पर सत्य हो भी सकते हैं, परन्तु त्रिपिटक की प्रामाणिकता, बुद्ध-वचन के रूप मे मानी जा सकती है। स्मृति-परम्परा मे प्राप्त सामग्री के विषय मे इन आलोचकों के सन्देहो का उठना स्वाभाविक कहा जा सकता है। इसीलिए इसकी प्रामाणिकता हम दूसरी कोटि में रख सकते है।

क्राइस्ट-ईसाई धर्म तथा न्यू टेस्टामेंट

विभिन्न लेखकों के अनुसार हम भी यह स्वीकार कर सकते हैं कि क्राइस्ट एक महान् युग-पुरुष थे और अन्य महापुरुषो की भाँति जो कुछ भी उन्होंने कहा है उसको उनके शिष्यो ने सग्रह कर लिया है। यही हमारे ज्ञान के आधार हैं जिनसे हम आज उनके विषय मे कुछ जानते हैं।

---

१. भरत सिह उपाध्याय—बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, प्रथम भाग, पृष्ठ २९९-३००।
२. राहुल सांकृत्यायन—बुद्धचर्य्या, पृष्ठ ७। भूमिका।
३ भरत सिह उपाध्याय—पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ७४।

इतना तो निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि क्राइस्ट ने अपने जीवनकाल में कुछ लिखित प्रमाण नहीं छोड़ा था। उनकी मृत्यु के कुछ वर्षों पश्चात् तक उनके शिष्यों का विश्वास था कि वर्तमान युग के बाद उनका पुन. आविर्भाव होगा और यह धारणा प्रथम शताब्दी के अन्त तक बनी रही। कुछ लोगो के अनुसार, ऐसा होता न देखकर शिष्यों मे यह विचार उत्पन्न हुआ कि ईसा के जीवन तथा वाणी का एक विश्वसनीय लेखा सम्पादित किया जाय। सम्भव है कि शिष्यो की ऐसी धारणा द्वितीय शताब्दी मे हुयी। यह उसी प्रकार से सम्भव दीखता है जिस प्रकार कि बुद्ध के शिष्यो मे उपदेशो मे असंगतता उत्पन्न होने के कारण वचनो को संग्रह करने की भावना उत्पन्न हुई थी।[1] यदि मान लें द्वितीय शताब्दी में ही उनके उपदेश संकलित किए गए तो स्मृति-परम्परा के द्वारा सत्य ही रहे होंगे। क्योंकि प्राचीन समय मे स्मृति ही ज्ञान प्राप्ति का मुख्य स्रोत रही है। भारत की श्रुति-परम्परा इसी को प्रमाणित करती है। मुसलमानों की परम्परा इससे भिन्न नहीं हैं। प्राचीन सभी धर्मों में लगभग यही विधि प्राप्त होती है। कुछ लोगो ने तो यहा तक मत प्रकट किया है कि न्यूटेस्टामेण्ट का विकास लम्बा है। द्वितीय शताब्दी इसके विकास का मुख्य स्तर है और इसके अन्त का समय पांचवी शती या बाद तक का समय बतलाया जाता है।[2] अत: उसकी प्रामाणिकता मे सन्देह किया जा सकता है।

इसके सम्बन्ध मे राधाकृष्णन् ने अपनी टिप्पणी देते हुए यह बतलाया है कि न्यूटेस्टामेण्ट की ऐतिहासिकता के विषय मे आलोचक एकमत नही है। स्वतन्त्र रूप से प्रत्येक आलोचक ऐतिहासिक बीज तत्वो को अपनी पसन्द के अनुसार ग्रहण करता है। यह उसका अपना दृष्टिकोण होता है।[3] अतः मात्र वैयक्तिक दृष्टिकोण के अन्तर के कारण ही तथ्य को अप्रामाणिक नही कहा जाना चाहिए।

वर्तमान आलोचकों मे एफ० एफ० ब्रूस का नाम प्रसिद्ध है। उन्होने

---

१ राधाकृष्णन—ईस्टर्न रिलीजन ऐण्ड वेस्टर्न थाट, पृष्ठ १६३।

२. मार्टिन डिबोलियस—ए फ्रेश एप्रोच टू द न्यूटेस्टामेण्ट ऐण्ड अर्ली क्रिश्चियन लिट्रेचर पृष्ठ २० तथा आर० एच० लाइट फुट—हिस्ट्री ऐण्ड इण्टरप्रेटेशन इन द गास्पेल्स ९५३ पृष्ठ १।

राधाकृष्णन—ईस्टर्न रिलीजन ऐण्ड वस्टर्न थाट, पृष्ठ १६४ पर उद्धृत।

३ वही, पृष्ठ ३८८।

न्यूटेस्टामेण्ट के विषय मे यह बताने का पर्याप्त प्रयास किया है कि वह विश्वसनीय है ।[१] इसके विषय मे सन्देह नही किया जा सकता । उनका कहना है कि ईसाइयत दावा करती है कि न्यू टेस्टामेण्ट ऐतिहासिक दैवी प्रकाशन का प्रतीक है । यह आवश्यक नही है कि उसके मूल लेखों को ऐतिहासिक आलोचना की दृष्टि से देखे । उनके मतानुसार ईसाईयत के मूल सिद्धान्त 'सर्मन आन द माउण्ट' अथवा न्यूटेस्टामेण्ट में निहित है । उनकी वैधता उनके वर्णन के साचे के सत्यासत्य से प्रभावित नही होती । वस्तुतः यह हो सकता है कि हम उस गुरु के बारे मे कुछ भी न जानें जिसके मुख से सिद्धान्त कहलाए गए । जेसस की कहानी जैसी कि वह मुझे उपलब्ध है, उपाख्यानीय पुराण-पन्थी हो सकती है, परन्तु जो उपदेश उसमे दिए गए है, उनके बारे मे ईसा वास्तव मे उत्तरदायी है कि नही, अपने स्वयं का मूल्य रखती है और एक व्यक्ति जो उसे स्वीकार [या अनुसरण] करता है, सच्चा ईसाई हो सकता है । यहाँ तक कि चाहे वह यह विश्वास करे कि ईसा कभी नही रहे हैं ।[२]

ब्रूस का यह तर्क ठोस रूप मे है और इसका उपयोग अन्य धर्मो के विषय मे भी कर सकते हैं । जहाँ तक न्यू टेस्टामेण्ट का सम्बन्ध है वह ईसा के द्वारा प्रदत्त 'सुसमाचार' से अधिक सम्बन्धित है । ब्रूस के मतानुसार 'सुसमाचार' ऐतिहासिक व्यवस्था से अभिन्न रूपेण सम्बद्ध है । क्योंकि वह बताती है कि किस प्रकार विश्व कल्याणार्थ ईसा इतिहास मे अवतरित हुए । वह नित्य तत्व कालगत हुआ । स्वर्ग के साम्राज्य ने धरती की सम्पदा पर आक्रमण किया । यह सब जेसस क्राइस्ट के 'अवतरण' 'क्रूसीफिकेशन' तथा 'रेसरेक्शन' के महान क्षणों मे हुआ । गैलेली मे प्रभु के लोकोपदेश करते हुए ये सबसे पहले उल्लिखित शब्द हैं कि समय परिपक्व हो गया है । ईश्वरीय साम्राज्य निकट आ गया है । पश्चात्ताप करो और सुसमाचार में विश्वास लाओ । [मरकुस १, १५]

ब्रूस का यह भी कहना है कि ईसाइयत इतिहास मे गहरी जड़ें रखता है । यह बात चर्च के 'पहले मत' मे जोर देकर कही गई है, जो कि ईश्वर का सर्वोच्च आत्म प्रकाशन एक विशिष्ट क्षण मे निश्चित करता है । जेसस ईश्वर का एकमात्र पुत्र 'पोन्टियस पाइलेट' मे पीडित हुआ, ईसाइयत की यह

---

१. एफ० एफ० ब्रूस—द न्यू टेस्टामेण्ट डाकूमेन्ट्स, पृष्ठ ५-२० ।
२ वही, पृष्ठ १५ ।

ऐतिहासिक घटना उसे दूसरे धर्मों और दर्शनों से अलग करती है और जिससे लेखों की विश्वसनीयता निर्मित होती है, जिससे ईश्वरीय आत्म प्रकाशन का उल्लेख सर्वोच्च महत्व का प्रश्न बन जाता है।

न्यू टेस्टामेण्ट का सत्य शुद्धतः ऐतिहासिक आधार पर भी बड़ा महत्वपूर्ण प्रश्न है। इस सम्बन्ध मे इतिहासकार 'लेकी' का मत प्रायः दिया जाता है वह कहता है, जेमस का चरित्र न केवल सद्गुण का सर्वोच्च प्रतिमान रहा है वरन सद्गुणो को व्यवहार मे लाने का तीव्रतम प्रेरक भी रहा है। और उसने इतना अधिक प्रभाव डाला है कि यह सच ही कहा जा सकता है कि सक्रिय जीवन के तीन छोटे वर्षों का साधारण लेख प्रमाण मानवता को विकसित और उदार बनाने मे अधिक उपादेय है अपेक्षाकृत दार्शनिको के सभी मतवादों और आचार शास्त्रियो के उपदेशो के।[1]

यह निश्चित है कि जेसस का चरित्र और उनके उपदेश केवल न्यू-टेस्टामेण्ट के लेख प्रमाण से ही ज्ञात होते हैं। अतः उनके चरित्र का प्रभाव न्यू टेस्टामेण्ट के प्रभाव के तुल्य ही हैं। यदि हम न्यू टेस्टामेण्ट को ऐतिहासिक नहीं मानते, तो क्राइसट की ऐतिहासिकता मे सन्देह होगा और यह भी सम्भव नही है कि ऐसे पुरुष के जीवन को ऐतिहासिक न मानें, जिसने कि प्राचीन समय से ही अखण्ड रूप मे सम्पूर्ण विश्व और मानव के इतिहास को प्रभावित किया है। न्यूटेस्टामेण्ट की विश्वसनीयता मे हमे मानवता के इतिहास को देख कर विश्वास करना पडेगा। इसके लिए यदि हम न्यू-टेस्टामेण्ट के लेख प्रमाण देखें तो पता चलेगा कि ईसा का जीवन और उनके वचन शिष्यो द्वारा सुरक्षित रखे गए। यही उसकी विश्वसनीयता के प्रमाण के रूप मे हैं।

न्यू टेस्टामेण्ट के लेख प्रमाण के रूप में सत्ताइस संक्षिप्त ग्रीक लेख मिलते हैं, जिनसे न्यू टेस्टामेण्ट बना है। इसमे चार सामान्य वचनामृत कहे जाते है। शेष प्रेरितो के कामो का वर्णन है। इसके बाद तेरह पौलुस प्रेरित की पत्री हैं। एक इब्रानियो के नाम पत्री, एक याकूब की पत्री, पतरस की दो पत्री, यूहन्ना की तीन पत्री, एक यहूदा की पत्री और अन्त में एक यूहन्ना का प्रकाशित वाक्य है।

इसमें से चार सुसमाचार—मती, मरकुस, लूका, तथा यूहन्ना द्वारा रचित,

---

१. डब्ल्यू० ई० एच० लेकी—हिस्ट्री ऑफ यूरोपियन मारेल्स, पृष्ठ ८८। एफ० एफ० ब्रूस द्वारा उद्धृत द न्यू टेस्टामेण्ट डाकूमेन्ट्स, पृष्ठ ८ पर।

अधिक महत्वपूर्ण माने जाते हैं। ब्रूस का मत है कि चार सुसमाचारों तथा पौलुस की पत्री का ऐतिहासिक महत्त्व है।

इन लेख-प्रमाणो के विषय मे ब्रूस ने तिथियों का निर्धारण करते हुए बतलाया है कि लगभग १०० ई० तक इनकी रचना पूर्ण हो गई थी। प्रमाण यह है कि अधिकतर सामान्य रूप से लोग इस पर सहमत है कि ईसा की मृत्यु ३० ई० में हुई। लूका के अनुसार यूहन्ना[1] [जॉन] की चर्चा तिबिरियुस कैसर के पन्द्रहवें वर्ष में मिलती है। तिबिरियुस अगस्त १४ ई० में राजा हुआ। सीरिया की प्रचलित गणना-विधि के अनुसार, जिसका कि लूका ने अनुसरण किया होगा, उसका पन्द्रहवा वर्ष सितम्बर या अक्टूबर २७ ई० होता है।[2] और यूहन्ना द्वारा रचित सुसमाचार मे इस समय के बाद तीन फसह के पर्व की चर्चा मिलती है। [यूहन्ना २-१३, ५, ४, ११, ५५] इस प्रकार उस तिथि से तीसरा फसह का पर्व ३० ई० को हुआ होगा। इसी समय यह सम्भव है कि ईसा की मृत्यु हुई। इसी समय अन्य स्रोतो से हमे यह भी ज्ञात होता है कि पाइलेट रोमन गवर्नर था, हेराड एन्टीयास की चर्चा गैलीली में मिलती है।[3]

इस प्रकार हम निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि न्यूटेस्टामेण्ट सम्पूर्ण रूप से लगभग १०० ई० के पूर्ण हो चुका था। ब्रूस के अनुसार तो यह भी कहा जा सकता है कि लिखने का अधिकाश भाग इसके २० या ४० वर्ष पहले ही प्रारम्भ हुआ होगा। बहुत से आधुनिक विद्वान्[4] चारो धर्म ग्रंथो की तिथि इस प्रकार निश्चित करने के पक्ष मे है—मती लगभग ८५-९०, मरकुस

---

१. लूका—३, १-३ तिबिरियुस कैसर के राज्य के पन्द्रहवें वर्ष में जब पुन्तियुस पीलातुस यहूदिया का हाकिम था, और गलील में हेरोदेस नाम चौथाई का इतरैया, और त्रखोनीतिस में उसका भाई फिलुप्पुस, और अबिलेने में लिसानियास चौथाई के राजा थे। और जब हन्ना और कैफा महायाजक थे, उस समय परमेश्वर का वचन जंगल में जाकर याह के पुत्र युहन्ना के पास पहुँचा। धर्मशास्त्र-अर्थात् पुराना और धर्म नियम, पृष्ठ ४९-५०।

२. ब्रूस—न्यू टेस्टामेण्ट डाकूमेण्ट्स, पृष्ठ १२।

३. एफ० एफ० ब्रूस—न्यू टेस्टामेण्ट डाकूमेण्ट्स, पृष्ठ १२, १००-१२०।

४. बी० एच० स्ट्रीटर—द फोर गास्पेल्स १९२४, बी० टाइलर, द गास्पेल्स १९३०।

लगभग ६५, लूका लगभग ८०-८५, और युहन्ना लगभग ९०-१०० । ब्रूस प्रथम तीन धर्म-ग्रंथों को और भी पहले का लिखा हुआ मानने के पक्ष मे हैं। मरकुस ६० ई० के शीघ्र बाद, लूका ६० और ७० के बीच और मत्ती ७० के पश्चात् लिखा हुआ मानते है। इसका सबसे बडा आधार है ७० ई० मे रोमन द्वारा जेरुसलम के शहर और मन्दिर को नष्ट करना, जिनकी चर्चा इन लेखों मे मिलती है। ब्रूस का मत है कि मरकुस और लूका की रचना इस घटना के पहले घटित हुई और मत्ती इसके बहुत बाद का नहीं है।[1]

ऐतिहासिकता की दृष्टि से यह बात बडी महत्त्वपूर्ण है कि प्रथम तीन धर्म-ग्रंथों की रचना तब हुई जब कि बहुत से लोग जीवित थे, जिन्हे ईसा के कथन और कृतित्व याद रहे। और कुछ तो तब तक जीवित रहे होंगे जब कि चौथा धर्म-ग्रंथ लिखा गया।[2]

प्रेरितों के काम भी तीसरे धर्म-ग्रंथ की तिथि पर निर्भर हैं। पौलुस की पत्री की ऐतिहासिकता भी ब्रूस ने सिद्ध करने का प्रयास किया है।[3]

जो भी हो प्रथम चार धर्म ग्रन्थो का, जिनका कि ईसा के जीवन और वचनों से विशिष्ट सम्बन्ध है, निश्चित रूप से ईसा की मृत्यु के बाद ही लिखे गए और उनकी विश्वसनीयता में विश्वास किया जा सकता है।

उपर्युक्त तथ्यों से यह निर्विवाद रूप मे सिद्ध होता है कि न्यूटेस्टामेण्ट विश्वसनीय माना जा सकता है, परन्तु इस प्रकार की विश्वसनीयता को हम द्वितीय श्रेणी मे रख सकते हैं। क्योकि ईसा के मौखिक उपदेशो और वचनो का स्मृति के आधार पर ही सकलन हुआ है।

मुहम्मद साहब तथा कुरान

मुहम्मद साहब के जीवन तथा उनकी धार्मिक अनुभूतियो के विषय मे 'क़ुरान' तथा 'हदीस' द्वारा ही ज्ञान प्राप्त होता है। कहा जाता है कि कुरान सम्पूर्ण रूप मे दैवी प्रकाशन [रेवेलेशन] है।[4] यदि हम कुरान की यथार्थता

---

१. ब्रूस—न्यू टेस्टामेण्ट, डाकूमेण्ट्स, पृष्ठ १२ पर उद्धृत।

२. वही, पृष्ठ १२।

३. वही, पृष्ठ १२-१४।

४. दैवी प्रकाशन का अर्थ कुरान के सम्बन्ध में यह है कि ईश्वर के द्वारा ही कुरान की आयतें मुहम्मद साहब से कहलाई गई हैं। परन्तु रहस्यवाद की दृष्टि से हमारे अर्थ में ———— अनुभूति है।

तथा विश्वसनीयता पर विचार करे तो देखेंगे कि विश्वसनीयता के स्तर के अनुसार कुरान भी कुछ अशो मे विश्वसनीय ही है। यद्यपि कुरान मुहम्मद साहब के जीवन-काल मे लिपिबद्ध नही हुआ परन्तु इसके विषय मे एक विशेषता यह है कि मुहम्मद साहब ने अपनी उपस्थिति मे ही इसको याद करने या लिखने का आदेश दिया था।[१] यद्यपि मुहम्मद साहब लिखे-पढे न थे परन्तु उनके शिष्यो को लिखने की कला ज्ञात थी। इतना अवश्य कहा जाता है कि पैगम्बर के समय तक कुरान का उचित रूप में संग्रह नही हुआ था वरन् जैसे-जैसे उसकी आयते [पद] प्रकट होती थी, पैगम्बर उन्हे लेखक को बुला कर लिखवा देते थे। या शिष्य उनके पास सदैव रहते थे, लिख लिया करते थे। इस प्रकार सम्पूर्ण कुरान हड्डियो, कपड़ो या खजूर की टहनियो पर लिखा गया, क्योकि कागज उस समय तक प्राप्त नही हुआ था।[२]

कुछ उल्मा [विद्वानों] का ख्याल है कि पैगम्बर ने अपने जीवन मे ही तमाम सूरतों को संग्रह कर लिया था और नाम भी रख लिया था। हदीसो से पैगम्बर का नमाजों में सूरे बकरा, निसा और एराफ का पढ़ना भी साबित है, जिससे मालूम होता है कि सूरतों के नाम भी उन्होंने ही निश्चित कर दिये था।[३] कुछ लोगो के विचार मे कुरान का सम्पादन पैगम्बर के जमाने में हुआ क्योकि कुछ लेखको को इस बात का ध्यान था। अलहिलाल जजी जैदान मिस्र अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "तारीख तम्मुदुन इस्लामी" जिल्द तीन [अनुवादक असलम जैराजपुरी] मे कहते हैं कि पैगम्बर के जीवन-काल मे कुछ सहाबा को कुरान के संग्रह का ख्याल रहता था। इनमे खास-खास अलीबिन अबीतालिब, सादबिन उबेद, माजबिन जबल और अबीबिन काब थे।

परन्तु उनके जीवन-काल मे कुरान के सग्रह का कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता। इतना अवश्य प्रमाणित है कि मुहम्मद के जीवन-काल में कुरान कठस्थ भी किया गया और साथ ही साथ कुछ अश लिखे भी गए।[४] कुरान के लिखने के बारे मे हजरत उस्मान का कहना है कि पैगम्बर के ऊपर जब

---

१. कुरान—९६:४, तर्जुमा कुरानशरीफ, मौलवी अहमद बशीर।
२. अब्दुल वहीद खाँ—तारीख अफकारोसयासियाते इस्लामी, पृष्ठ १३५।
३. वही, पृष्ठ १३५।
४. मुहम्मद जफरुल्ला खाँ—रिलीजस परस्पेक्टिव वालूम सात, इस्लाम, इट्स मीनिंग फार माडर्न मैन, पृष्ठ ८४।

कोई आयत प्रकट होती थी तो वे तुरन्त किसी लेखक को बुलाकर लिखवाते और यह बतला देते थे कि यह आयत फला सूरत की है और इसके बाद और इसके पहले लिखो। कुरान मे भी आयतो के लिखने का सकेत मिलता है।[1] कुछ लोगो का कहना है कि लगभग ४२ व्यक्ति पैगम्बर के पास लेखक के रूप मे रहते थे।[2]

उपर्युक्त कथनो से यही सिद्ध होता है कि कुरान के अधिकाश भाग असगठित रूप मे लिखे हुए थे और कुछ अशो का सरक्षण स्मृति के रूप मे ही रहा है। वास्तव मे पैगम्बर के जीवन-काल मे ही कुरान को कठस्थ कर लिया गया था और वह उसी क्रम से कंठस्थ किया गया था जिस क्रम मे हम आज कुरान को देख रहे है।[3]

स्मृति से कुरान की सुरक्षा इसलिए भी अधिक सम्भव है कि मुहम्मद साहब ने स्वय इस बात के लिए बल दिया था। यही नही धार्मिक ग्रथ मान कर तथा ईश्वर द्वारा उतरी हुई जान कर इसको कठस्थ करना लोगो ने अपना धर्म मान लिया था। कुरान को याद कर लेना और लोगो को बताना भी आवश्यक समझा गया था, इसीलिए स्मृति द्वारा इसकी सुरक्षा रूप मे समझी जा सकती है। यह इसलिए भी सम्भव है कि कुरान का अवतरण या प्रकाशन तेईस वर्षो के अन्तर्गत क्रमशः हुआ था अतः लोगो को याद करने का समय पूर्ण रूप से प्राप्त हुआ होगा। स्वयं मुहम्मद साहब को कुरान याद था जिसमे उन्होने लोगो के समक्ष याद करने का उदाहरण उपस्थित कर दिया था। यह भी प्रमाण मिलता है कि प्रार्थना की दृष्टि से व्यक्तिगत और सामूहिक रूप मे कुरान का याद होना आवश्यक था। क्योकि कुरान पुस्तक के रूप मे न होने से कठस्थ करना ही आवश्यक था। बुखारी से पता चलता है कि अनेक व्यक्ति ऐसे थे जिन्हे कुरान पूर्ण रूप से कठस्थ था। कठस्थीकरण मे यह शका नही की जा सकती कि कुरान मे कुछ अपनी तरफ से जोड दिया गया हो। क्योकि स्वय पैगम्बर ने यह संकेत दे दिया था कि कौन सी आयत किस आयत के पहले और बाद मे होगी। और इसी के आधार पर कुरान का सम्पादन किया गया। यद्यपि इसमे काल-क्रम नही है

१. कुरान, २६ : ४६।
२. मौलाना मुहम्मद अली—अनुवादक, द होली कुरान, भूमिका, पृष्ठ ३७।
३ मुहम्मद जफरुल्ला खाँ—इस्लाम पृष्ठ ८३।

फिर भी कुछ अंशों में विश्वसनीय कहा जा सकता है ।[1] क्योंकि देखने से पता चलता है कि मुसलमानों की स्मृति-परम्परा किसी अर्थ में कम न थी। अधिकांश व्यक्तियों को कुरान कंठस्थ था। पूरा कुरान उतारने में यद्यपि अधिक समय लगा, परन्तु जो आयतें उतरती थी उन्हें लोग याद कर लिया करते थे और उसी के आधार पर बाद में कुरान का संकलन एवं सम्पादन हुआ ।[2]

हदीस

पैगम्बर के जीवन के विषय में जानने का दूसरा साधन हदीस है। इसमें उनके समय का पूरा इतिहास चित्रित है। हदीस में पैगम्बर की क्रियाओं और कथनों का चित्रण मिलता है। यद्यपि कुरान से मुहम्मद साहब की धार्मिक अनुभूतियों और चरित्र पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है परन्तु उनके जीवन की अन्य बातें हदीस से ही ज्ञात होती हैं।

हदीस इस दृष्टि से बड़ा ही महत्वपूर्ण है। परन्तु हदीस के संग्रह की ओर कई कारणोंवश दूसरी शती हिजरी तक ध्यान न दिया जा सका। हदीस और कुछ नहीं पैगम्बर तथा उनके शिष्यों का कथन है। पैगम्बर जब तक जीवित थे तो उनके चारों ओर उनके अनुगामी घेरे रहते थे और उनसे जो कुछ सुनते या करते देखते उसको दूसरों तक पहुँचाते। इस तरह उनके जीवन का प्रत्येक पक्ष लोगों के सामने रहता था। परन्तु बात यह थी कि हदीस का बहुत कम बयान किया जाता था। स्वतः पैगम्बर का आदेश था कि हदीस का बहुत कम बयान किया जाय ।[3] बहुत से अनुगामी इस भय से कहीं हदीस में गलती न हो जाय हदीसों के बयान से बचते थे। पैगम्बर ने हदीस को लिखने से सख्त मना कर दिया था और सचेत कर दिया था कि जिस किसी ने कुरान के अतिरिक्त कुछ लिखा हो उसे मिटा डाले। यद्यपि अबू होरैरा और अब्दुल्ला [अम्र के पुत्र] के विषय में यह प्रमाणित है कि वे जो कुछ

---

१. जेम्स हास्टिंग्स—एडीटर, एनसाक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन ऐण्ड एथिक्स, वाल्यूम ८, पृष्ठ ८७२।

२. ए० एम० ए० शास्त्री—आउटलाइंस ऑफ इस्लामिक कल्चर, पृष्ठ ४५४-४५६।

३. अब्दुल वहीद खाँ—तारीख अफकारो सयासियाते इस्लामी, पृष्ठ २३०।

उनसे सुनते थे लिख लिया करते थे। अबू शाह की प्रार्थना पर "खुदवएयमन"[1] को जरूर लिखवाया गया था। लेकिन इसके अतिरिक्त एक सामान्य आदेश यही था कि हदीस को न लिखा जाय। यदि ज़बानी किसी को सुनाया जाय तो आपत्ति नही। पैगम्बर के इस आदेश के सही होने में किसी को इनकार नही है। यह अवश्य है कि इसके मतलब मे लोगों मे मतभेद पाया जाता है। जिससे कोई इसे विश्वसनीय मानता है और कोई इसको अनर्गल और झूठा मानता है। कुछ भी हो पैगम्बर का हदीस को न लिखने का आदेश सम्भवत. इसीलिए रहा कि कही हदीस और कुरान एक दूसरे से मिल-जुल न जायँ।

कारण कुछ भी हो यह निश्चित है कि पैगम्बर की मृत्यु के समय मुसलमानों के निर्देशन के लिए सिर्फ कुरान एकमात्र पुस्तक थी और दूसरी ओर हदीस के रूप में पैगम्बर के कथन, जो पुस्तक के रूप मे संकलित नही थे। परन्तु ये कथन लोगों की स्मृति तथा व्यवहार मे अवश्य थे।[2]

हजरत उमर ने भी हदीस को बयान करने से मना किया था। 'सिवली' 'अन्नोमान' मे 'जहबी' का यह कथन लिखा है कि हजरत उमर इस डर से कि हदीस बयान करने वाला पैगम्बर के बारे मे कोई गलत बयान न कर दे, सहाबा को आदेश देते थे कि हदीस का कम से कम बयान किया करे।[3] उमर ने हदीस के बयान करने का विरोध यहाँ तक किया कि यदि कोई उनके पास लिखित रूप मे हदीस ले आए तो जलवा दिया करते थे।[4]

परन्तु अन्ततोगत्वा ऐसी दशा बहुत दिनों तक न चल सकी। बाद मे चलकर हदीसो का बयान करने मे अधिकता शुरू हो गई और "बनुउमैया" के काल मे हदीस की सख्या लाखो तक पहुच गई तथा लिखने का कार्य भी प्रारम्भ हो गया। "अब्बासिया" काल मे हदीस का सग्रह पूर्ण रूप मे होने लगा। और हदीस के सग्रह का क्रम बराबर शुरू रहा। ऐसा समझा जाता है कि पुस्तको की संख्या कई सौ तक पहुँची है। परन्तु इन सब मे मुख्य पुस्तके तीन है।

---

१. एक भाषण जो यमन के लोगो के सामने पैगम्बर ने दिया था।

२. वही, पृष्ठ २१७।

३. वही, पृष्ठ २१८।

४. तबकात इबनेसाद पांचवां भाग पृष्ठ १४०, तारीख अफकारों सयासियाते इस्लामी पृष्ठ २१६ पर उदृधत

१. अलमौता—लेखक मालिक इब्ने अनस।
२ सही बुखारी—मुहम्मद पुत्र इस्माइल बुखारी।
३ सही मुसलिम—मुसलिम पुत्र हज्जाज निसापुरी।

उपर्युक्त बयानों की दृष्टि से हदीस उतना विश्वसनीय नही कहा जा सकता, जितना कि कुरान, क्योंकि हदीस के बयान करने की आज्ञा न होने से उसका महत्व कम हो जाना स्वाभाविक कहा जा सकता है और जिन्हे उसकी स्मृति भी रही होगी, उसमे हेर-फेर होना भी स्वाभाविक था। इस दृष्टि से हदीस की विश्वसनीयता स्वल्प मात्रा मे ही जान पड़ती है। अत. इसमें सन्देह नही कि कुरान तथा हदीस विश्वसनीय तथा वैध माने जा सकते है, परन्तु मान्य श्रेणी के आधार पर इनकी विश्वसनीयता द्वितीय श्रेणी की ही मानी जा सकती है, क्योंकि अन्य धर्म-ग्रन्थो की भाँति इनका सकलन मुहम्मद साहब के जीवन-काल मे न हुआ। स्मृति के आधार पर ही इनको क्रम मे रखकर बाद में सकलित किया गया।[1]

गुरु नानक तथा गुरु ग्रन्थ साहिब

सिक्ख धर्म के सस्थापक—गुरु नानक जी की गणना महान् युग पुरुषो मे की जाती है। इनकी धार्मिक अनुभूतियाँ आदि श्री गुरु-ग्रथ साहिब जी मे संग्रहीत हैं। सिक्ख धर्म मे इस ग्रन्थ का वही स्थान है जो कि विभिन्न मतो में वेद, त्रिपिटक, बाईबिल तथा कुरान का है।

अन्य पूज्य ग्रन्थो की भाँति गुरु ग्रन्थ साहिब का भी सकलन किया गया। इसमे नानक जी की रचनाएँ है साथ ही साथ प्रथम नौ गुरुओ की वाणी का भी संग्रह है। यही नही इसमे कुछ अन्य सम्प्रदाय के हिन्दू सन्तो तथा भाटो के भी वचन सग्रहीत है। कहा जाता है कि इस ग्रन्थ का संग्रह सर्व प्रथम पाँचवे गुरु अर्जुन ने ही किया।[2]

---

१. यद्यपि सम्पूर्ण कुरान पैगम्बर के सहयोगियों और शिष्यों को क्रम तथा व्यवस्थित रूप में कंठस्थ था, परन्तु लिखित रूप मे उसका कोई संग्रह ऐसा नहीं था जो प्रामाणिक हो। मौलाना मुहम्मद अली—द होली कुरान, भूमिका पृष्ठ ५०।

२. मालकम स्केच—पृष्ठ ३०, परम्परा तथा लेखकों की धारणा के अनुसार प्रथम गुरु-ग्रन्थ अर्जुन द्वारा तैयार किया गया। यद्यपि नानक द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का रक्षण अंगद ने किया फारेस्टर ने (ट्रेवेल्स

प्रश्न है कि यह ग्रन्थ कहा तक प्रामाणिक या विश्वनोय है। हमने अभी तक देखा कि जितने धार्मिक महापुरुष हुए हैं उनके वचन स्मृति-परम्परा के अनुसार ही सुरक्षित किए गए और उनका बाद मे चलकर सग्रह किया गया। यही बात गुरु ग्रन्थ साहिब के विषय मे भी चरितार्थ होती है।

गुरु नानक जी यद्यपि पढे लिखे न थे परन्तु उनकी वाणी मे लोगो की हार्दिक तन्मयता होती है। उनकी अनुभूतियाँ उच्च कोटि की है जिसे देखकर अशाधारणता का बोध होता है। एक आकस्मिक लगाव पैदा होना है। इस प्रसिद्ध ग्रन्थ को आदि ग्रन्थ भी कहते है और जो सिक्खो की 'बाइबिल' के रूप मे है और यह उसी रूप मे अब भी हमारे सामने है जिस रूप में उसका सग्रह गुरु ने किया था।[1]

आदि ग्रंथ के शोधी विद्वान् डा० जयराम मिश्र ने अपने प्रबन्ध में ग्रन्थ के सकलन के विषय मे ट्रम्प, मैकाल्फि तथा साहिब सिह जी के मतो का उल्लेख करते हुए आदि ग्रन्थ की विश्वसनीयता पर पर्याप्त रूप मे प्रकाश डाला है। इनके दृष्टिकोण से गुरु नानक वाणी परम्परा के अनुसार गुरुओ के ही पास थी और अर्जुन जी ने उनका सकलन किया।

इस ग्रन्थ की अप्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए कुछ तर्क दिए जा सकते हैं, परन्तु यदि सूक्ष्म रूप मे देखा जाय तो इन तर्को का कोई आधार नही रह जाता। यह कहा जा सकता है कि गुरु नानक की वाणी सम्पूर्ण ग्रन्थो मे कहाँ तक है पता नही चलता। क्योकि सभी पदों में नानक शब्द लगा हुआ है। इससे यही ज्ञान होता है कि सम्पूर्ण ग्रन्थ नानक की वाणी से ही पूर्ण है, परन्तु कहा जाता है कि इसमे अन्य गुरुओ तथा सन्तो की भी वाणियाँ है। इस आधार पर ग्रन्थ के विषय में शुद्धता का दावा नही किया जा सकता।

इस तर्क के लिए दो उत्तर दिए जा सकते है जो समीचीन तथा स्वा-

भाग १ पृष्ठ २६७) लिखा है कि रामदास ने अपने पूर्ववर्तियों का इतिहास एवं उनके सिद्धान्तों को क्रमबद्ध कर गुरु ग्रन्थ की टिप्पणी प्रस्तुत की। उसी ने (ट्रैवेल्स भाग १ पृष्ठ २६६ में) यह भी स्वीकार किया है कि गुरु ग्रन्थ का संग्रह अंगद ने ही किया है।

जे० डी० कनिंघम—सिक्खो का इतिहास, पृष्ठ ४१ पर उद्धृत।

१. एम० मैकालिफ इत्यादि—द सिक्ख रिलीजन, ए सिम्पोजियम सिक्खिज्म पृष्ठ ७७-७६।

२. डा० जयराम मिश्र—श्री गुरु-ग्रन्थ दर्शन पृष्ठ ६-११।

भाविक भी ज्ञात होते हैं। गुरु नानक की वाणियों के अतिरिक्त जो पद नानक नाम से प्राप्त है वे उन सिक्ख गुरुओं के है, जो सीधे गुरु नानक देव की शिष्य परम्परा मे आते हैं तथा जिनमे क्रमश. उन्ही की "ज्योति का प्रतिरूप" रहने के कारण 'नानक' सज्ञा द्वारा अभिहित करने की परिपाटी भी चली आई है।[1]

दूसरा उत्तर यह कि गुरुओ की वाणी अलग करने के लिए सकलन कर्त्ता ने सोचा कि नानक नाम के प्रयोग के कारण अन्य गुरुओ की वाणी मे विभिन्नता लाना असम्भव होगा। इसलिए पहले गुरू के लिए 'महल्ला पहला', दूसरे गुरु के लिए 'महला दूजा', तीसरे गुरु के लिए 'महला तीजा', चौथे गुरु के लिए 'महला चौथा' और अपने लिए 'महला पजवा' का प्रयोग किया। भक्तो की वाणी को पृथक् करने के लिए उनके नाम लिख दिए गए। सभी वाणियों के संग्रह के पश्चात् गुरु अर्जुन देव ने समस्त सिक्ख मण्डली को यह आदेश दिया कि वे उस सग्रह को ही माने। बाहर की अन्य वाणियाँ चाहे नानक के ही नाम से क्यो न हों, अस्वीकृत कर दे।[2] इस प्रकार गुरु अर्जुन ने विश्वस्त होकर नानक की वाणियो का संग्रह किया।

इसके विषय मे ट्रम्प का भी यह मत है कि एक बार सिक्खो ने एकत्र होकर अपने पाँचवें गुरु अर्जुन देव से निवेदन किया कि गुरु नानक के पदो मे तन्मयता लाने की अपूर्व शक्ति है। आज कल स्वार्थी लोगो ने अपने स्वार्थ के निमित्त अनेक पद बाबा नानक के नाम पर प्रचलित कर दिए हैं। उन पदो मे अहंकार और सांसारिक भावो की प्रधानता है। अतएव यह आवश्यक है कि गुरु महाराज के पद ऐसे पदों से पृथक कर दिये जाय, ताकि उनकी पवित्रता अक्षुण्ण बनी रहे।[3]

इसी सम्बन्ध मे मैकालिफ का मत मिलता है कि गुरु अर्जुन को बिना किसी के कहे स्वतः इसकी अनुभूति हुई कि सिक्खो के नित्य धार्मिक कृत्यों के लिए गुरुओ की वाणियों का सग्रह आवश्यक है और इसलिए भी कि

---

१. डा० जयराम मिश्र, श्री गुरु ग्रन्थ दर्शन, भूमिका परशुराम चतुर्वेदी द्वारा, पृष्ठ ७८।

२ वही, (आदि ग्रन्थ) ट्रम्प (अर्नेस्ट) भूमिका, पृष्ठ ८०-८१ पृष्ठ ६-१० पर उद्धृत।

३. वही, पृष्ठ ६-१०।

'प्रीथिया' अपने पदो को गुरु नानक तथा उनके अन्य उत्तराधिकारी गुरुओं के नाम से संग्रह कर रहा था। इसलिए गुरु अर्जुन इस कार्य मे लीन हुए।[1]

यदि कहा जाय कि संग्रह का कार्य उचित रूप मे हुआ था कि नही तो इसका प्रमाण यह है कि स्वय गुरु अर्जुन ने ही जिन वाणियो को निश्चित कर दिया था उन्ही को भाई गुरु दास जी द्वारा लिखवाया गया और बाणियो को बोलने वाले गुरु अर्जुन ही थे। यह कार्य बड़े परिश्रम से हुआ। कहा जाता है कि यह कार्य सन् १६०४ ई० मे पूर्ण हुआ।[2]

"गुरु ग्रन्थ साहिब" के विश्वसनीय होने का सबसे प्रबल प्रमाण यह मिलता है कि गुरु नानक तथा अन्य गुरुओ की बाणियाँ कही अन्यत्र नही फैली हुई थी वरन् गुरु नानक को स्वय अपनी बाणियो के संग्रह का ध्यान था। उनकी बाणिया सचित रूप मे थी और उनकी मृत्यु के पश्चात् गुरु परम्परा से उनकी तथा अन्य गुरुओ की बाणियाँ बाबा मोहन [सिक्खों के तीसरे गुरु, अमरदास जी के पुत्र थे] के पास सुरक्षित थी।

यद्यपि मैकालिफ के अनुसार गुरु-बाणियाँ बाबा मोहन के पास थी परन्तु साहब सिंह जी के मतानुसार परम्परा मे सचित थी, ये दो मत मिलते हैं। परन्तु डा० जयराम मिश्र के शब्दों में साहब सिंह जी के मत मे अभी विद्वानो के परीक्षण की अधिक आवश्यकता है। अभी तक यह मत मान्य नही हो सका है। अतः इन दोनो के बीच हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि गुरु नानक की बाणियो को एकत्रित करने का कोई प्रलोभन नही रहा होगा। क्योकि इस प्रकार के उच्च कोटि के रहस्यवादियो के समक्ष शिष्य वर्ग सदैव उपस्थित रहता है और उसके उपदेश सुनकर ग्रहण कर लेता है। गुरु नानक ने, पढे लिखे न होने के कारण स्वय न लिखा होगा। शिष्यो ने ही संकलन किया होगा। हो सकता है कि कुछ सकलन मोहन दास के पास रहे हो और बाद मे अर्जुन ने सब को एक स्थान पर सकलित किया हो। अत. इतना तो निर्विवाद रूप से सिद्ध है कि गुरु ग्रन्थ मे नानक की बाणियाँ जो यत्र-तत्र बिखरी थी, सकलित है। साथ ही यह भी सिद्ध ही है कि उन बाणियो का पूर्ण सकलन गुरु अर्जुन ने बाद मे किया। अतः इस ग्रन्थ की विश्वसनीयता को हम अपनी मान्य कसौटी के आधार पर द्वितीय श्रेणी मे रख सकते हैं। क्योकि नानक की बाणियाँ उन्ही के जीवन-काल मे प्रत्यक्ष

---

१. वही, पृष्ठ १०।

२. मैकालिफ—द सिक्ख रिलीजन, भाग ३, पृष्ठ ६०-६१।

रूप मे सकलित नही जान पडती। कुछ समय बाद संकलन होने से ग्रन्थ की विश्वसनीयता हम मान्य कसौटी के आधार पर प्रथम कोटि मे नही रख सकते।

महाप्रभु चैतन्य—चैतन्य चरितामृत *

उच्च कोटि के रहस्यवादियो मे महाप्रभु **चैतन्य का दिव्योन्माद**, उनकी जीवनचर्या और उनका मन हमारे लिए तुलनात्मक अध्ययन का प्रधान आधार है। इनके जीवन और धार्मिक अनुभूतियो के अध्ययन के लिए उनसे सम्बन्धित विपुल साहित्य उनके अनुयायियो द्वारा ही प्रणीत, अब भी उपलब्ध है। प्रश्न होता है कि उनके विषय मे प्राप्त सामाग्रियाँ कहाँ तक प्रामाणिक है।

महाप्रभु स्वय पढे-लिखे महान् विद्वान् थे। उनकी स्वत की रचना के विषय मे कहा जाता है कि उनके कुछ श्लोक पाए जाते है जो 'शिक्षाष्टकम्' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य श्लोक भी है जिनमे उनकी शिक्षा का सार निहित है और जिन्हें उनके पार्षद और प्रिय भक्त रूप गोस्वामी ने पद्यावली मे सकलित किया है। उनके जीवन के विषय मे उनके साक्षात् शिष्यो ने कुछ ग्रन्थो की रचना की है और दूसरे लिखे गये ग्रन्थ भी उनके साक्षात् शिष्यो द्वारा सुनकर ही लिखे गए है।

महाप्रभु के जीवन-वृत्त के विषय मे प्राप्त साहित्यिक सामग्री की प्रामाणिकता के विषय मे श्री प्रभु दयाल मीत्तल ने अपने शोधपूर्ण ग्रन्थ में सत्य ही लिखा है कि 'यद्यपि चैतन्य-मत का जन्म बगाल मे और आरम्भिक प्रचार बगाल तथा उड़ीसा मे श्री चैतन्य महाप्रभु और उनके सहकारी नित्यानन्द, अद्वैताचार्य प्रभृति भक्तजनो द्वारा हुआ था, तथापि इसका शास्त्रीय एवं लोक-सम्मत स्वरूप ब्रज मण्डल मे निवास करने वाले गौडीय विद्वान् भक्तो ने निर्धारित किया था। उस विद्वत्समाज मे रूप गोस्वामी, सनातन गोस्वामी, गोपाल भट्ट, कृष्णदास कविराज, जीव गोस्वामी, विश्वनाथ चक्रवर्ती और बलदेव विद्याभूषण अधिक प्रसिद्ध है।

उन विद्वान् भक्तो द्वारा ब्रज मण्डल मे रचा हुआ ग्रन्थ-समूह ही चैतन्य-मत का सर्वमान्य प्रामाणिक साहित्य है। इसका महत्त्व समस्त भक्तों को सदा ही स्वीकृत रहा है। चैतन्य-मत के इतिहास मे ब्रज मण्डल का यह गौरव इसलिए और भी अधिक उल्लेखनीय है कि गौडादि प्रदेशो मे विविध स्थानो मे रचा हुआ चैतन्य-मत का साहित्य उन दिनो तभी प्रामाणिक माना जाता

था, जब उसे ब्रजस्थ विद्वत्समाज से मान्यता प्राप्त हो जाती थी। ब्रज के इस महत्त्व के कारण ही उस काल में बंगाल-उडीसा के अनेक उत्साही भक्तजन यातायात की असुविधाओ और मार्ग के सकटो को प्रसन्नतापूर्वक सहन करते हुए वहाँ पहुँचते थे। वे वृन्दावन के विद्वान् गौडीय भक्तों से भक्ति-ग्रन्थो की शिक्षा प्राप्त कर अपने-अपने स्थानो मे जाकर चैतन्य मत के भक्ति तत्त्व का प्रचार और प्रसार किया करते थे। ऐसे उत्साही भक्तजनो मे बगाल के श्रीनिवासाचार्य और नरोत्तमदास ठाकुर तथा उडीसा के श्यामानन्द जी का नाम चैतन्य मत के इतिहास मे अत्यन्त प्रसिद्ध है। उन्होने वृन्दावन मे जीव गोस्वामी से भक्ति सिद्धान्त की उच्च शिक्षा प्राप्त कर बगाल और उड़ीसा मे इस मत का व्यापक प्रचार किया था। वे लोग जब वृन्दावन से अपने-अपने प्रदेशो को वापिस गए, तब ब्रज मे निर्मित भक्ति ग्रन्थों की अनेक प्रतियाँ भी छकडो मे भर कर अपने साथ ले गए थे।[1]

श्री प्रभुदयाल मीत्तल के कथन से यह भी स्पष्ट हो रहा है कि चैतन्य मत का साहित्य ब्रज मण्डल से ही प्रस्फुटित हुआ। क्योंकि महाप्रभु के पार्षद रूप और सनातन गोस्वामी प्रभु की आज्ञा से ब्रज मे ही निवास करते थे और उनके सिद्धान्तो के अनुसार ही साहित्य का सृजन करते थे।

यहाँ यह देख लेना आवश्यक होगा कि यदि ब्रज मण्डल से ही निकला हुआ चैतन्य साहित्य प्रामाणिक है तो उसका आधार क्या है? कैसे कहा जा सकता है कि वह साहित्य प्रामाणिक है? इसके विषय में मीत्तल जी का कथन है कि उस समय भी गौडीय भक्त उसी साहित्य को प्रामाणिक मानते थे जो प्रभु के महान् भक्तो और ब्रजमण्डल के विद्वतवर्गो द्वारा प्रणीत होता था। क्योकि जितने भी प्रभु के साक्षात् भक्त थे और जिन्होने जो कुछ लिखा था वे ब्रज मण्डल मे ही निवास करते थे।

वैसे तो चैतन्य मत के अधिकाश अनुयायियो द्वारा ग्रन्थ लिखे गए है। परन्तु महाप्रभु चैतन्य के जीवन तथा उपदेशो से सम्बन्धित कुछ ही ऐसे ग्रन्थ है जो उनके ऊपर प्रकाश डालते है।

१—श्रीकृष्ण चैतन्य चरितामृत :—इसकी रचना मुरारी गुप्त ने चैतन्य के जीवन-काल में ही की। यह अपने विषय का प्रथम ग्रन्थ है जो सस्कृत भाषा मे महाकाव्य के रूप मे लिखा गया है। श्री मुरारी जी प्रारम्भ से ही

---

१. प्रभुदयाल मीत्तल—चैतन्य मत और ब्रज साहित्य, प्राक्कथन, पृष्ठ १-२।

श्री चैतन्य के सम्पर्क मे रहे है। इस ग्रन्थ का ऐतिहासिक महत्त्व है। समकालीन और भक्त होने के नाते आँखो देखे दृश्य और जीवन की घटनाओ के आधार पर मुरारी द्वारा रचित यह काव्य ग्रन्थ निश्चित रूप मे प्रामाणिक है। इसमे सन्देह नही किया जा सकता। यहाँ तक कि इस ग्रन्थ के आधार पर अन्य भक्तो ने भी साहित्य की रचना की।[1]

२—दूसरा महत्वपूर्ण ग्रन्थ वृन्दावन दास कृत :—'चैतन्य भागवत' बगला भाषा मे जीवनी काव्य के रूप मे है। इसकी भी रचना उनके जीवन-काल के लगभग हुई थी। श्री वृन्दावन दास, श्री नित्यानन्द के अत्यन्त प्रिय शिष्य थे। श्री नित्यानन्द महाप्रभु के सहकारी थे। श्री वृन्दावन दास ने इन्ही से महाप्रभु की जीवन-लीलाओ का परिचय प्राप्त किया था और उन्ही के आदेश से अपने ग्रन्थ की रचना की थी। यह तीन खण्डो मे है। इसके अन्तिम खण्ड मे महाप्रभु की अन्तिम लीला न लिखकर श्री नित्यानन्द जी का वृत्तान्त लिखा गया। इससे यही सिद्ध होता है कि इसकी रचना महाप्रभु के अन्तिम समय पर कुछ समय पश्चात् हुई होगी। अत. इसकी प्रामाणिकता मे सन्देह की आवश्यकता नही मालूम पडती।[2]

३—चैतन्य मंगल —इसकी रचना लोचनदास ने की। मुरारी गुप्त की करचा.सूत्र के आधार पर ही इसकी रचना हुई। उपर्युक्त ग्रन्थो की अपेक्षा इसका उतना महत्त्व नही है।

४—चैतन्य चरितामृत और चैतन्य चन्द्रोदय नाटक—कवि कर्णपूर द्वारा रचे गए है। यह २० सर्गो का महाकाव्य है। इसका आधार भी मुरारी गुप्त कृत करचा है। यह ललित साहित्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

५—चैतन्य चरितामृत :—इसकी रचना कृष्णदास कविराज द्वारा हुई और यह चैतन्य मत में महाप्रभु के विषय मे जानने का प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। इसकी रचना बंग भाषा मे ही हुयी है। हिन्दी का भी कुछ मिश्रण है। इसमे चैतन्य की प्रारम्भिक जीवनी के साथ ही मत और भक्ति की दार्शनिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से व्याख्या की गई है। यह भी कहा जाता है कि वैष्णव धर्म ग्रन्थ तथा रूप सनातन की रचनाओ के आधार पर रचे जाने के कारण यह गौडीय वैष्णवो की सैद्धान्तिक रचना है। यह चैतन्य भागवत से अधिक विस्तृत रूप मे इसलिए है कि जो भाग उसमे कम

---

१. सुन्दरानन्द विद्याविनोद—श्री चैतन्यदेव, पृष्ठ ३७२।
२. वही, पृष्ठ ३७२।

है, इसमे बढा कर लिखे गए है। अन्तिम भाग को कृष्णदास जी ने अधिक विस्तृत रूप मे लिखा है।

इसकी रचना मे रघुनाथ दास गोस्वामी की अधिक सहायता ली गई है। दास गोस्वामी जी ने महाप्रभु चैतन्य की अन्तिम लीलाओ को अपनी आँखो मे देखा था और अन्य पार्षदो जैसे दामोदर आदि से अन्य लीलाओ को सुना भी था। इन सभी लीलाओ को गोस्वामी जी ने कृष्णदास जी ने बतलायी थी।

उपर्युक्त ग्रन्थो के विवरण मे यही पता चलता है कि मुरारी गुप्त कृत "श्रीकृष्ण चैतन्य चरितामृत" ही अधिक प्रामाणिक है क्योंकि कहा जाता है कि मुरारी जी चैतन्य के ही समय के थे तथा ग्रन्थ की रचना उनके जीवन काल में ही की। इसमे तो सन्देह नही किया जा सकता कि मुरारी जी समकालीन थे और साथ ही चैतन्य के परम भक्त भी। परन्तु ग्रन्थ की रचना जीवन काल में ही की होगी सन्देहास्पद ज्ञात होता है। क्योंकि चैतन्य जी के प्रेमोन्माद मे जब सभी भक्त लीन थे तो किसी को उनके क्रिया-कलाप को लिखने का ध्यान न रहा होगा। हो सकता है कि मुरारी जी ने कुछ दिन बाद अपनी स्मृति के आधार पर ग्रन्थ की रचना काव्य के रूप मे की हो। इतना तो निर्विवाद रूप मे सत्य है कि ग्रन्थ का प्रणयन उसी तिथि या घटना के उसी क्षण मे ही नही हुआ। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ग्रन्थ की ऐतिहासिकता मे प्रामाणिकता है। कुछ भी हो इस ग्रन्थ को उतना महत्त्व नही दिया जाता जितना कि कृष्णदास कविराज कृत, "चैतन्य चरितामृत" को। यदि हम अपनी मान्य कसौटी के आधार पर इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता पर विचार करे तो यह ग्रन्थ भी द्वितीय श्रेणी मे रखा जा सकता है, क्योकि इसकी रचना अप्रत्यक्ष स्रोतो के आधार पर ही हुई थी। साक्षात् शिष्यों द्वारा घटना के ठीक समय तथा तिथि मे इसका प्रणयन नही हुआ।

श्री रामकृष्ण परमहंस तथा रामकृष्ण वचनामृत

अभी तक जिन महापुरुषो के विषय मे प्राप्त सामग्री का जो अवलोकन किया गया वह ऐतिहासिकता की दृष्टि से कहा तक असदिग्ध रहा यह विश्व की मान्यता पर ही निर्भर है। वैसे तो सामान्य रूप मे विश्व के सभी महापुरुषो के वचन तथा जीवन की घटनाएँ स्मृति-परम्परा पर ही निर्भर है और हम तक पहुचने के लिए उनके शिष्यो द्वारा सकलित विषय ही एकमात्र साधन हैं। परन्तु श्री रामकृष्ण के विषय मे प्राप्त ग्रन्थो तथा सामग्रियो की

वैधता तथा विश्वसनीयता उपर्युक्त समस्त धार्मिक महापुरुषो की धार्मिक अनुभूतियो तथा जीवन वृत्त से सम्बन्धित ग्रन्थो की विश्वसनीयता से भिन्न कोटि की है।

यदि हम श्री रामकृष्ण के जीवन और उनकी धार्मिक अनुभूतियो तथा वचनो की ओर अग्रसर होते है तो निःसन्देह रूप मे उनके विषय मे प्राप्त सामग्री पूर्णरूपेण विश्वसनीय एव प्रामाणिक है। वैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से इनके जीवन तथा अनुभूतियो को एक ठोस आधार के रूप मे ग्रहण कर सकते है। इनके जीवन के सम्बन्ध मे अन्य धार्मिक युग पुरुषो की अपेक्षा अधिक ऐतिहासिक तथ्य उपलब्ध है, साथ ही सार्वभौमिक मान्यता प्राप्त करने तथा विध्वंसी समय पर विजय प्राप्त करने मे उनकी क्षमता किसी अर्थ मे कम न थी। श्री रामकृष्ण जी के विषय में आधुनिक विश्व अधिक रूप मे विश्वस्त होगा। क्योंकि अभी ८० वर्ष भी नही हुए कि वह अद्भुत मानव संसार मे विदा हुआ है, परन्तु उसकी देन, उसकी जीती-जागती अनुभूतियाँ और क्रियाकलाप विश्व के वक्षस्थल पर अब भी नवीन है। इसीलिए इसमे कोई परिवर्तन या घटाव-बढ़ाव की सम्भावना नही है। अतः इस महापुरुष का जीवन ऐतिहासिक रूप मे असदिग्ध है। हम यह भी देख सकते है कि धर्म मनोविज्ञान के लेखको द्वारा प्रयुक्त किए गए तथ्य अधिकाश रूप मे स्मृति तथा जन-श्रुति पर ही आधारित रहे है। उनको रहस्यवादियो के जीवन काल मे लिपिबद्ध नही किया गया। जैसा कि हम देख चुके हैं कि प्रधान युग पुरुषो के जीवन की बातें किसी स्तर तक मान्य होते हुए भी स्मृति तथा जन-श्रुति पर ही आधारित है न कि प्रत्यक्ष रूप मे ठीक घटना के समय और तिथि मे लिपिबद्ध की गयी। परन्तु श्री रामकृष्ण के साथ इस विषय मे विशेष सुविधा है। "श्री रामकृष्ण कथामृत"[1] में उनके जीवन के सभी तथ्य साक्षात् रूप मे ठीक घटना की तिथि और क्षणो में अक्षरशः लिपिबद्ध किए गए है। इस विशाल ग्रन्थ की रचना बगला मे श्री 'म'[2] द्वारा दैनन्दिनी के रूप मे हुयी है।

---

१. इसका हिन्दी अनुवाद "श्री रामकृष्ण वचनामृत" है। (अनुवादक सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला" और इसका अंग्रेजी अनुवाद "द गास्पेल ऑफ श्री रामकृष्ण" स्वामी निखिलानन्द द्वारा हुआ है।

२. श्री 'म' महेन्द्र नाथ गुप्त का संक्षिप्त नाम है। श्री 'म' सन् १८७५ ई० के कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रतिभा सम्पन्न स्नातक थे। श्री रामकृष्ण से इनकी भेंट मार्च सन् १८८२ ई० में हुई। इनका अध्यापकीय जीवन ही इस कार्य के लिए उपयुक्त सिद्ध हुआ।

इस प्रकार कथामृत मे श्री रामकृष्ण की धार्मिक अनुभूतियो का उनके भक्तों तथा अन्य सर्वमान्य पुरुषों के साथ हुए बात-चीत का विस्तृत रूप मे स्थान, समय तथा तिथि सहित उल्लेख है। श्री 'म' ने अपने गुरु के दैनिक जीवन की छोटी-छोटी घटनाओ का अक्षरशः वर्णन किया है। ऐसा किसी महापुरुष के जीवन के साथ उल्लेख नही मिलता। अपनी आखो देखी उनके प्रतिदिन के जीवन की सभी बाते इस ग्रन्थ मे अकित हैं। इससे भी बढ़कर किसी ग्रन्थ की विश्वसनीयता या प्रामाणिकता क्या हो सकती है? 'एल्डस हक्सले' ने इसकी प्रामाणिकता से आकृष्ट होकर ही "द गास्पेल आफ श्री रामकृष्ण" की भूमिका मे लिखा "यह ज्ञात है कि सभी महापुरुष अपनी ओर से कुछ भी अपने विषय मे लिखकर नही देते। जो कुछ भी लिखा गया है, उनके शिष्यो द्वारा ही लिखा गया है, जिससे कि हम उनके जीवन-चरित्र और उपदेश की जानकारी प्राप्त करते है, परन्तु अधिकाश रूप मे उन शिष्यो ने अपने को जीवनी लेखक के रूप में पूर्णतया अयोग्य सिद्ध किया है। इस दृष्टि मे यदि देखे तो श्री रामकृष्ण की बात-चीत और दैनिक जीवन का बृहद विवरण अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस कार्य के लिए श्री 'म' ने अपनी प्रतिभा तथा परिस्थिति का अच्छा उपयोग किया है। जहाँ तक मेरा ज्ञान है धर्म-ग्रन्थ के साहित्य में श्री 'म' की यह एक अनोखी रचना है। किसी अन्य जीवनी लेखक और साधु पुरुष मे इस प्रकार का अदम्य उत्साह नहीं मिला। दैनिक जीवन की "ध्यान" (धार्मिक अनुभूति) से सम्बन्धित छोटी-छोटी घटनाओ का वृहत् रूप में उल्लेख हुआ है। जिस सूक्ष्मता से वचनामृत के कथन लिखे गए हैं वह कही अन्यत्र नही मिलते। शायद इसीलिए हक्सले ने श्री 'म' की तुलना 'वासवेल' से की है।[१] वास्तव मे हक्सले की यह उक्ति वास्तविक तथ्य से अधिक तो नही है।[२]

"कथामृत" की प्रामाणिकता इससे भी प्रकट होती है कि इसका प्रारम्भिक रूप सहज स्वाभाविक, आकस्मिक, अकृत्रिम एव अप्रासगिक रूप मे प्रकट हुआ है। इस स्वरूप के देखने से यह प्रभाव बिना पडे नही रहता कि कथामृत प्रामाणिक है।[३] श्री रामकृष्ण के विषय मे दूसरा पूर्ण आधिकारिक एवम्

---

१ एल्डस हक्सले—फोर्वर्ड, द गास्पेल ऑफ श्री रामकृष्ण, अनुवादक, स्वामी निखिलानन्द, पृष्ठ ५-६।

२. क्रिस्टाफर आइसर उड—रामकृष्ण ऐण्ड हिज डिसाइपुल्स, पृष्ठ २८२।

३. क्रिस्टाफर आइसर उड—रामकृष्ण ऐण्ड हिज डिसाइपुल्स, पृष्ठ २५७-२५८।

विश्वसनीय ग्रन्थ स्वामी शारदानन्द जी का श्री रामकृष्ण 'द ग्रेट मास्टर' है।[1] स्वामी शारदानन्द जी तरुणावस्था में ही श्री रामकृष्ण से मिले और उसी समय उनके भक्त हो गए। कुछ ही समय बाद उन्होंने अपने गुरु के जीवन-चरित्र को लिखना प्रारम्भ कर दिया। इस जीवन-चरित्र से गुरु के सम्पूर्ण जीवन पर प्रकाश पड़ता है। गुरु के साक्षात् शिष्य होने के कारण उनका लिखा हुआ यह ग्रन्थ सर्वांश रूप में प्रामाणिक है।[2] स्वामी शारदानन्द जी का कथन है कि "श्री रामकृष्ण देव के जन्म, वर्ष तथा तिथि मे, जो इस ग्रन्थ मे लिपिबद्ध है, किसी प्रकार के व्यतिक्रम की सम्भावना नही है। श्री रामकृष्ण देव की निजी उक्ति से उसका निरूपण किया गया है। इस ग्रन्थ मे वर्णित बहुत सी घटनाओ को उनसे ही हमें सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।"[3] स्वामी विवेकानन्द जैसे महान् व्यक्तित्व एवं साक्षात् शिष्य, जिन्होंने श्री रामकृष्ण की वाणी को विदेशो मे मुखरित किया, श्री रामकृष्ण के जीवन तथा धार्मिक अनुभूतियो के प्रामाणिक अध्ययन के लिए विश्व के सम्मुख स्वयं ही एक प्रमुख आधार हैं। "मेरे गुरुदेव" तथा उनके अन्य बहुत से ग्रन्थ श्री रामकृष्ण के ही जीवन और अनुभूतियो को व्यक्त करते है। परन्तु साक्षात् रूप मे 'मेरे गुरुदेव' शीर्षक भाषण अधिक प्रामाणिक है।

विदेशियो में जिन्होंने श्री रामकृष्ण के विषय मे लिखा है उनमें मैक्स-मूलर एवम् रोमाँरोलाँ के नाम उल्लेखनीय है। इनकी पुस्तके भी प्रामाणिक कही जा सकती है। मैक्समूलर ने जो कुछ भी लिखा है उसके लिए स्वामी विवेकानन्द से सामग्री प्राप्त की है। मैक्समूलर ने स्वामी विवेकानन्द को लिखा कि हमें जो कुछ सामग्री दीजिए वह मात्र कथा न हो अपनी स्मृति

---

१. इसका हिन्दी अनुवाद "श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग" है। ग्रन्थ तीन खण्डों में है। १—बाल्य जीवन एवं साधक भाव, २—गुरु भाव, ३—दिव्य भाव एवम् नरेन्द्रनाथ। प्रथम दो खण्डो के अनुवादक, श्री नृसिंह वल्लभ गोस्वामी तथा तृतीय खण्ड के अनुवादक, श्री गोपाल चन्द्र है। बंगला मे भी इसका नाम यही है।

२. क्रिस्टाफर आइसर उड—रामकृष्ण ऐण्ड हिज डिसाइपुल्स, पृष्ठ २।

३. स्वामी शारदानन्द, श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग, भूमिका, पृष्ठ १।

तथा अपने अन्य सहशिष्यो से प्राप्त करके ही भेजिए।[1] उन्होने सभी विषय लिखित रूप में प्राप्त करके अपनी पुस्तक की रचना की।[2]

रोमाँरोलाँ द्वारा लिखित श्री रामकृष्ण का जीवन-चरित्र वास्तव मे मार्मिक रचना है। यह आश्चर्यजनक बात है कि एक पाश्चात्य विद्वान् किस प्रकार अपनी तार्किक एवं खण्डन-मण्डन-प्रवृत्ति को लेकर प्राच्य ऋषि एव सन्त के अन्तस्थल में घुस सका।[3]

यद्यपि रोमाँरोलाँ की पुस्तक मैक्समूलर की पुस्तक के ३० वर्ष पश्चात् प्रकाश मे आई तब भी इसकी प्रामाणिकता किसी भी अर्थ में कम नही कही जा सकती, क्योकि पुस्तक की रचना के समय ऐसे अधिकांश साक्षात् शिष्य जीवित थे,[4] जिन्होने श्री रामकृष्ण को जीवित अवस्था मे देखा और सुना था। लेखक ने इन्ही शिष्यो से उनके विषय मे सूचनाएँ प्राप्त की थी।[5]

यद्यपि श्री रामकृष्ण के विषय मे उपर्युक्त ग्रन्थो की विश्वसनीयता नि सन्देह रूप में उच्च कोटि की ही मानी जा सकती है, परन्तु "श्री रामकृष्ण कथामृत" की विश्वसनीयता एवम् प्रामाणिकता सर्वोपरि है, क्योकि इसमे अक्षरश: रूप में घटना के उसी दिन तथा तिथि के साथ ही श्री रामकृष्ण के कथन एव उनकी अनुभूतियाँ लिपिबद्ध की गई है। इसमे यह भी सन्देह नही किया जा सकता कि घटना को बढा-चढा कर लिख दिया गया हो। कारण यह है कि इस ग्रन्थ की रचना दैनन्दिनी के रूप में हुई है। श्री "म" गुरू की जो भी बातें सुनते या देखते, तत्काल ही अंकित कर लेते थे। यह विवरण

---

१. जो पुस्तकाकार में प्रकाशित है। अन्यान्य अनेक स्थानों में भी श्री रामकृष्ण के सम्बन्ध में विवेकानन्द की उक्तियाँ हैं, जो उनके सम्बन्ध में पूर्णतया प्रामाणिक समझी जा सकती हैं।

२. मैक्समूलर—द लाइफ ऐण्ड सेइंग्स ऑफ रामकृष्ण, पृष्ठ ५९।

३. उपरोक्त पुस्तक सन् १८९८ ई० में लिखी गई जब कि श्री रामकृष्ण देव मृत्यु १८८६ ई० में हुई। इस प्रकार मृत्यु के १२ वर्ष पश्चात् ही लिखी हुई यह पुस्तक कम प्रामाणिक नहीं कही जा सकती।

४. आर० आर० दिवाकर—परमहंस श्री रामकृष्ण, भूमिका, पृष्ठ १३।

५. उन शिष्यों में थे, स्वामी शिवानन्द, स्वामी अभेदानन्द, स्वामी अखण्डानन्द, स्वामी सुबोधानन्द, महेन्द्र नाथ गुप्त : श्री "म": और राम लाल चटर्जी आदि। रोमाँरोलाँ—द लाइफ ऑफ रामकृष्ण पृष्ठ ११।

आज भी बेलूर मठ में सुरक्षित है। तार्किक प्रतिभा से सम्पन्न तथा सत्य और त्याग के व्रत को लेने वाले ऐसे स्नातक शिष्य ने किसी चमत्कार को भी नहीं आने दिया है। साथ ही वास्तविक तथ्यों को छोड़ा भी नहीं है। विश्वसनीयता के लिए यह भी प्रश्न होता है कि किस प्रकार के व्यक्ति ने बात कही है, जिससे कि विश्वास किया जाय? यदि कहने वाला व्यक्ति विश्वसनीय होगा तो उसके कथन में भी विश्वास किया जा सकता है। यह सर्वविदित है कि श्री "म" उच्च कोटि के सत्य निष्ठ एवं साधु-पुरुष थे। ऐसा व्यक्ति क्यों झूठ लिखने लगा, यह विचारणीय है। लेखक के सत्यनिष्ठ व्यक्तित्व के आधार पर भी यह कह सकते हैं कि "श्री रामकृष्ण कथामृत" में लिखी हुई बातें पूर्ण रूप से विश्वसनीय एवम् प्रामाणिक मानी जा सकती हैं। सम्भवतः रोमाँरोलाँ ने ग्रन्थ की यथार्थता से ही प्रभावित होकर 'स्टेनोग्राफिक' शब्द का उपयोग किया है, और एन० एस० घोष ने लिखा कि 'वास्तव में विश्व में इस प्रकार का जीवन-चरित शब्दशः रूप में कहीं नहीं प्राप्त होता। यदि इसी प्रकार से संसार के सभी महापुरुषों-कृष्ण, बुद्ध, जेजस, मुहम्मद, नानक और चैतन्य के कथन तथा जीवन संग्रहीत होते तो एक बहुत बड़ी निधि होती।[1] अतः इस ग्रन्थ की विश्वसनीयता एवम प्रामाणिकता मान्य कसौटी के आधार पर प्रथम कोटि की है।

श्री रामकृष्ण के विषय में प्राप्त सामग्री की असंदिग्धता एवम् विश्वसनीयता अन्य उच्चकोटि के रहस्यवादियों के विषय में प्राप्त सामग्री की विश्वसनीयता की अपेक्षा श्रेष्ठ कही जा सकती है। क्योंकि इनके विषय में प्राप्त तथ्य, मात्र स्मृति-परम्परा पर ही निर्भर नहीं है:—जैसा कि बुद्ध, क्राइस्ट, मुहम्मद, नानक तथा चैतन्य के विषय में प्राप्त होता है।

अतः विषय के असन्दिग्ध, प्रामाणिक एवम् आधुनिकतम होने के कारण ही हमने श्री रामकृष्ण को अपने अध्ययन क्षेत्र के अन्तर्गत विशिष्ट रूप से ग्रहण किया है।

अब हम उक्त धार्मिक महापुरुषों के जीवन तथा धार्मिक साधनों का विश्लेषण करते हुए उनकी तुलना श्री रामकृष्ण से करेंगे। तत्पश्चात् श्री रामकृष्ण की धार्मिक अनुभूतियों के मनोवैज्ञानिक पहलू पर दृष्टिपात करेंगे।



---

१. द इण्डियन नेशन—१६ मई, १६०२, श्री रामकृष्ण कथामृत : बंगला भूमिका पृष्ठ ११ पर उद्धृत है।

3

श्रीरामकृष्ण तथा अन्य धार्मिक महापुरुष

धार्मिक अनुभवों में कितनी वास्तविकता उपलब्ध होती है? वह कितना भ्रमात्मक और व्यामोही होता है? सामान्य रूप से व्यवहार्य न होते हुए भी इसकी कितनी सामाजिक उपादेयता है? इसको निश्चित करने के लिए आवश्यक है कि विभिन्न उच्चकोटि के धार्मिक महापुरुषों के जन्म, सत्यान्वेषण तथा साधनादि का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय। साथ ही हमें श्री रामकृष्ण के जीवन और धार्मिक अनुभवों की निःसन्देहात्मकता प्रतिपादित करने तथा आलोचनात्मक अध्ययन के लिए उल्लिखित महापुरुषों बुद्ध, क्राइस्ट, मोहम्मद, नानक तथा चैतन्य के साथ सादृश्य भी देखना होगा।

१—रहस्यमय जन्म :—संसार के समस्त जीवित धर्मों के लिपिबद्ध ग्रन्थों को देखने से यह ज्ञात होता है कि जितने भी उच्चकोटि के रहस्यवादी हैं उनकी प्रत्येक बातें जन्म, अनुभूतियाँ और व्यवहार सभी रहस्यमय हैं। इनका जन्म जन साधारण की भाँति न होकर असाधारण समय, स्थान तथा परिस्थितियों में हुआ है। यही नहीं जन्म के समय उनके माता-पिता को दिव्य अनुभवादि हुए हैं।

ऐतिहासिक विवरणों में बुद्ध का गर्भ में आना और श्रीमती माया देवी का स्वप्न देखना उपलब्ध है। कहा जाता है कि अपने जन्म की रहस्यमय घटना को स्वयं बुद्ध ने अपने प्रिय शिष्य आनन्द से बतलाया था।[1] बुद्ध के जन्म की रहस्यमयता कई बातों में है। माया देवी ने स्वप्न देखा कि—बोधिसत्व श्वेत सुन्दर हाथी बन रुपहली माला के समान सूंड में श्वेत कमल लिए, मधुर नाद कर, माता की शैय्या की तीन बार प्रदक्षिणा कर, दाहिनी बगल चीर, कुक्षि में प्रविष्ट हुए जान पड़े। इसी प्रकार बुद्ध का दस माह के पश्चात् खड़ी हुई माता के गर्भ से मलों से अलिप्त उत्पन्न होना भी रहस्यमय ही है।[2]

क्राइस्ट के जन्म में भी रहस्यमयता है। इसके लिए पवित्र ग्रन्थ में उल्लि-

१. ई०जे टामस, लाइफ ऑफ बुद्ध, पृष्ठ २६।
२ राहुल सांकृ०   बुद्धचर्य्या पृष्ठ २।

खित बातें पुष्टि में है। बिना किसी सम्पर्क के श्रीमती मेरी को गर्भ सचार का अनुभव हुआ, और श्री जोसेफ को स्वप्न दर्शन हुआ कि 'जो उसके गर्भ मे है, वह पवित्र आत्मा की ओर से है'।[१] हो सकता है कि उक्त कथन किंवदन्ती हो। इन रहस्यवादियों के विषय मे बहुत-सी किंवदन्तियां भी प्रचलित है, जिनको हमें स्वीकार करके ही चलना होगा। क्योंकि इस प्रकार की आश्चर्यजनक बातें किसी एक के विषय में ही नही वरन् समस्त उच्चस्तर के रहस्यवादियों में पाई जाती है।

क्राइस्ट के जन्म की दूसरी रहस्यमयता ज्योतिषियों का पूर्व में तारा देखना है।[२] तारा देखकर ज्योतिषियों ने बताया कि यहूदियों का राजा कोई महान् पुरुष उत्पन्न हुआ है। यह भी देखा जा सकता है कि अन्य महापुरुषो की भाँति इनका भी जन्म बड़ी ही संकटापन्न अवस्था तथा स्थान मे हुआ था। हेरोदेस के उपद्रव का वृत्तान्त सर्वविदित है और क्राइस्ट की असाधारण उपलब्धियों से उनकी महानता तथा दिव्यता भी प्रकट है।

इनके जन्म के सम्बन्ध में भविष्यवाणी (या पूर्व वचन) भी रहस्यमयता की बात है। यहोवा की भविष्यवाणी से यह स्पष्ट होता है।[३]

मुहम्मद साहब के जन्म के पहले भी उनकी माता अमीनाह ने उनके आगमन का सुखद समाचार स्वप्न मे ही पाया था। कहा जाता है कि उनके बाबा अब्दमुतालिब ने भी ऐसा स्वप्न देखा था कि किसी महापुरुष की उत्पत्ति अवश्य होगी। स्वप्न के ही आधार पर उनका नामकरण मुहम्मद हुआ। "मुहम्मद" उनके बाबा का रखा गया नाम है और अहमद उनकी माता द्वारा।[४] उनके जन्म की अन्य घटनाएँ भी रहस्यमयता प्रकट करती है।[५] जन्म के विषय मे जो भविष्यवाणियाँ, इनके पहले महानपुरुषो द्वारा की गई हैं, वे भी रहस्यमयता प्रकट करती हैं। जिस प्रकार अन्य लोगों के विषय में भविष्यवाणियाँ मिलती हैं और सत्य सिद्ध होती हैं,[६] उसी प्रकार मुहम्मद साहब के विषय मे भी भविष्यवाणियाँ हुई और सत्य भी सिद्ध हुयी जान पड़ती हैं। ऐब्राहिम,

---

१. धर्मशास्त्र---(बाइबिल) मत्ती १,१८,२५, लूका[२], १-२०।

२. वही मत्ती, २, १-३।

३. मलाकी, ३, १-६।

४. मौलाना मुहम्मद अली मुहम्मद, द ग्रेट प्राफेट, पृ० ३७।

५. वही, पृ० ३८-३९।

६ धर्मशास्त्र, उत्पत्ति, १२ २३ १७ २०

मूसा, यशायाह तथा क्राइस्ट द्वारा की गयी भविष्यवाणियाँ इसके उदाहरण के रूप मे है।[१]

गुरु नानक के जन्म के सम्बन्ध मे यह कहा जाता है कि तत्कालीन अत्याचार के कारण अकाल पुरुष ने उनको पृथ्वी पर भेजा।[२] इनका जन्म अदभुत है और वे असाधारण पुरुष थे। इसके विषय में दौलता नामक धात्री, जो कि उनके जन्म के समय उपस्थित थी, का कथन है कि "मैंने भी अपनी उम्र में हजारों बच्चे पैदा किए है परन्तु ऐसा प्रभावशाली आज तक इसके सिवाय दूसरा नहीं देखा"।[३]

श्री चैतन्यदेव की माता श्रीमती शची देवी को भी उनके जन्म के सम्बन्ध मे दिव्य अनुभवों के दृष्टान्त श्री चैतन्य चरितामृत आदि ग्रन्थो मे उपलब्ध होते है। नीलाम्बर चक्रवर्ती आदि ज्योतिषाचार्यों ने भी उनके दिव्य जन्म तथा महापुरुप के लक्षणो को जन्मकुण्डली के आधार पर घोषित किया।[४]

अस्तु, जिस रहस्यवादी को हम अपने अध्ययन—क्षेत्र का आधार मान कर चले है, उनका जन्म भी रहस्यमय ही रहा है। उनके माता—पिता को भी उनके जन्म के समय दिव्य अनुभव तथा स्वप्न-दर्शन हुए हैं। सन् १८३५ ई० के शीत ऋतु की बात है कि श्री रामकृष्ण के पिता श्री क्षुदिरामजी वाराणसी तथा गया धाम तीर्थ के लिए गये। गया धाम मे श्री गदाधर देव के पादपद्मों मे पिण्ड दान कर, पितृ कृत्य सम्पन्न कर संतुष्ट हुए। रात में निद्रित होते ही उन्होंने स्वप्न मे देखा कि मन्दिर में पुन. पिण्डदान कर रहे हैं। पितृ वर्ग प्रसन्न होकर आशीर्वाद दे रहे हैं। पुनः देखा कि मन्दिर ज्योति से परिपूर्ण हो गया है। पुन. दिव्य पुरुष को देखा, वन्दना की और वह पुरुष सन्तुष्ट होकर मधुर स्वर से कहने लगे'—'क्षुदिराम तुम्हारी भक्ति से मै परम प्रसन्न हूँ, पुत्र रूप से तुम्हारे घर पर अवतीर्ण होकर मै तुम्हारी सेवा ग्रहण करूँगा'।[५]

१. कुरान, २ : १२४—१२६, प्राचीन धर्मशास्त्र-व्यवस्था, विवरण, १८ : १८। यशायाह २१ : १३—१५, जान १४ : १५—१७, २६—१६ १३—१६।
२. श्री गोविन्द सिंह, इतिहास गुरू खालसा, पृष्ठ सं० ७८।
३. वही, पृष्ठ ८०।
४. चैतन्य चरित आदि, १३—१२०।
५. स्वामी शारदानन्द, श्री रामकृष्ण लीलाप्रसंग प्रथम भाग, पृष्ठ ४२ ४३।

गयाधाम से लौटकर श्री क्षुदिराम परिणाम देखने की उत्कण्ठा में थे। साथ ही अपनी पत्नी श्रीमती चन्द्रा देवी के मानवीय स्वभाव मे देवी का सा स्वभाव पाने लगे। उनमे भाव परिवर्तन हो गया। उनके आपत्य-स्नेह का विस्तार हो गया। पति की अनुपस्थिति में उन्हे जो भी स्वप्न दर्शन तथा दिव्यानुभव हुए थे बताने लगी—'मैंने एक अदभुत स्वप्न देखा था। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि मानों कोई ज्योतिर्मय देवता मेरी शय्या पर लेटे हुए है। पहले मैंने यह समझा कि सम्भवतः तुम होगे, किन्तु बाद मे मुझे यह ज्ञात हुआ कि किसी मानव के लिए वैसा रूप कदापि सम्भव नही है। अस्तु, यह देखने के बाद मेरी नींद खुल गई, फिर भी मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा कि मानों वे शय्या पर ही है। दूसरे ही क्षण मै सोचने लगी कि मनुष्य के निकट इस प्रकार देवता का आगमन कैसे सम्भव हो सकता है। तब मेरे मन मे आया कि कदाचित कोई दुष्ट व्यक्ति किसी खराब उद्देश्य से घर में घुस आया होगा और उसके पैर की आवाज आदि को सुन कर ही मैंने ऐसा स्वप्न देखा है। झटपट उठकर मैंने दीया जलाया, किन्तु मुझे कोई नही दिखायी पड़ा, घर का दरवाजा पहले जैसा बन्द था, ठीक वैसे ही बन्द मिला......।'

'और एक दिन युगियों के शिव-मन्दिर के सम्मुख खड़ी होकर मै धनी से बाते कर रही थी, उस समय मैने देखा कि श्री महादेव जी के अग से निकल कर दिव्य ज्योति ने मन्दिर को पूर्ण कर दिया है। और वायु की तरह हिलोर लेती हुई मेरी ओर चली आ रही है।....मुझे सम्पूर्ण रूप से आच्छादित करती हुई तीव्र वेग से वह मेरे अन्दर प्रविष्ट होने लगी। भय और विस्मय से स्तम्भित हो मै एक दम मूर्छित होकर गिर पड़ी।.....तब से अभी तक मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि वह ज्योति मेरे उदर मे अभी तक विद्यमान है और मेरे गर्भ संचार होने का लक्षण-सा मुझे दिखायी दे रहा है। धनी तथा प्रसन्न से इस बात का जिक्र करने पर उन लोगों ने मुझे मूर्ख-'पागल' आदि कहकर फटकारा और मानसिक भ्रम अथवा वायु गुल्म रोग से मुझे ऐसा भ्रम हो रहा है, इस प्रकार की बहुत-सी बाते बतलाकर किसी से इस बात की चर्चा करने को मना कर दिया है।....क्या देवता की कृपा से मुझे उस प्रकार का दर्शन मिला था या वायु रोग से। किन्तु अभी तक मुझे ऐसा मालूम पडता है कि मानों मेरा गर्भ सचार हो चुका है'।[1]

गर्भवती होने के बाद भी अनेकानेक दिव्यानुभव श्रीमती चन्द्रा देवी को

१ वही पृष्ठ ४६ ५१

होने लगे।[1] इससे सन्देह नही कि ऊपर वर्णित स्वप्न दर्शन तथा दिव्यानुभव हमे तथ्य के रूप में प्राप्त हुए है, और यह केवल श्रीरामकृष्ण के ही विषय मे नहीं वरन् उक्त समस्त महापुरुषो के विषय मे तथ्य के रूप में ही हैं, परन्तु इसमे यदि कोई चमत्कार है तो उससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। हमें तो केवल उनके जीवन तथा धार्मिक अनुभूतियो को ही ग्रहण करना है तथा सम्भावित मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करना है।

२. प्रारम्भिक जीवन अस्वाभाविक और असाधारण

इन रहस्यवादियों के जीवन मे सादृश्य का दूसरा विषय है—प्रारम्भिक जीवन। यदि इन रहस्यवादियो के जीवन को देखा जाय तो यही ज्ञात होता है कि इनका प्रारम्भिक जीवन अस्वाभाविक तथा असाधारण ही रहा है। बाल-चापल्य असाधारण, साहस स्मृति असाधारण, विद्योपलब्धि तथा अन्य व्यवहार सामान्य से उच्च या अति प्राकृत ही होते है। आध्यात्मिकता के क्षेत्र मे भी उनकी रुचि स्वभावत बचपन से ही होती हैं।

बुद्ध के प्रारम्भिक जीवन को देखने से उपर्युक्त सभी बाते अक्षरश. सत्य प्रतीत होती है। यद्यपि उनका जीवन इतिहासकारो की दृष्टि में अतिरजित रूप मे ही चित्रित किया गया है परन्तु विवेकपूर्ण विवेचन से कुछ सत्य का अश अवश्य प्राप्त होता है। बालक सिद्धार्थ का महा प्रजापति गौतमी के साथ मन्दिर मे जाना और मुस्कराहट प्रकट करना तथा मन्दिर की देव प्रतिमाओं का सजीव होकर शिशु को नमस्कार करना, उनके जीवन की असाधारणता ही है। आभूषण पहनाने पर उनका रंग फीका पड़ जाना तथा विद्यारंभ मे गुरु का उनके प्रथम दर्शन से ही उनके तेज से अभिभूत होकर मूर्छित होना और समस्त वर्णों का आध्यात्मिक दृष्टि से अध्ययन करना उनके जीवन की असाधरणताओं को प्रकट करता है।

आध्यात्मिक जीवन के प्रति झुकाव का दूसरा उदाहरण भी है। पालि-अनुश्रुतियों के अनुसार जम्बू-वृक्ष के नीचे एकान्त स्थान पाकर बालक सिद्धार्थ वहीं बैठ गये और सासारिक जीवन की कठिनाइयों पर विचार करते-करते ध्यान मग्न होकर चतुर्थ भूमिका पर पहुँच गये।[2] जहाँ उनकी करुणा तथा दया प्रवाह ने उनको गृहत्याग के लिए और मानवता के रक्षण तथा संवर्द्धन के लिए

---

१. वही, पृष्ठ ५२–५३।

२. राहुल सांकृत्यायन, बुद्धचर्या, पृ० ५–६।

बाध्य किया वहीं सांसारिक कला-कौशल तथा रण-भूमि का चातुर्य भी देखने को मिलता है। प्रतियोगिता मे एक राजकुमार की कितनी उपलब्धियाँ हैं, उनके असाधारण साहस ने प्रदर्शित कर दिया।[१]

रहस्यवादी ईसा का प्रारम्भिक जीवन सामान्य बालकों-सा होते हुए भी विशिष्ट गुणो से सम्पन्न था। कभी क्रोधित न होना, अपनी इच्छा को पूर्ण करने के लिए हठ न करना, झूठे शब्द कभी मुँह से न निकालना, अतीव नम्र तथा निःस्वार्थी रहना, उनकी महानता को चरितार्थ करता है। वैसे उनके जीवन के प्रारम्भ में विशेष असाधारण घटनाओं के पर्याप्त उदाहरण नही प्राप्त होते—परन्तु बारह वर्ष की अवस्था मे तीन दिन तक अरूशलम के मन्दिर में[२] विद्वानो से शास्त्रार्थ करना, तथा प्रश्नों का समाधान करना यह सिद्ध करता है कि यह एक साधारण बालक का काम नही है।[३] कहा जाता है कि उनमें आध्यात्मिकता के क्षेत्र मे बचपन से ही रुचि थी। इसका प्रमाण यह है कि ईसा आस-पास की पहाड़ियों में अनेक घण्टे एकान्त प्रार्थना करने मे बिताते थे।[४]

मुहम्मद साहब का प्रारम्भिक जीवन सद्गुणो से कितना सम्पन्न और व्यक्तित्व कितना संगठित रहा है यह उनके तत्कालीन सहयोगियों से ज्ञात है। उनकी असाधारण नैतिकता, सच्चाई, प्रेम, सौहार्द, सेवा-भाव, विश्वसनीयता, कथनी-करनी मे एकता आदि गुण बचपन से ही विद्यमान थे। अबूतालिब ने उनके इन्ही गुणो के कारण व्यापार मे अपने साथ लिया। खदीजा ने उनके इन्ही गुणों के कारण अपने अतुल धन को सौपकर अपना कार्यकारी नियुक्त किया और बाद में अपना प्रेम अर्पित कर दाम्पत्य जीवन स्वीकार किया।[५] इनके जीवन की असाधारणता इस बात में है कि सामान्य मनुष्यों में इस प्रकार के लक्षण बहुत कम प्राप्त होते है।

गुरु नानक जी का प्रारम्भिक जीवन अन्य रहस्यवादियो की ही भाँति अस्वाभाविक तथा असाधारण रहा है। कहा जाता है कि एक वर्ष मे ही उनको दाँत निकल आये, खड़े होकर चलने लगे और जहाँ बैठते पद्मासन ही लगाकर

१. वही, पृष्ठ ६—७।
२. धर्मशास्त्र, फिलिप्पियों, २ : ५—७।
३. वही, लूका, २ : ४०—५२।
४. शोभा, देहधारी ईश्वर : अनुवादक आनन्द कुमार : पृ० २०—२३
५. मुहम्मद जफरुल्ला खां, इस्लाम, पृ० २०, तथा मौलाना मुहम्मद अली, मुहम्मद दी प्राफेट, पृ० ४२—४८।

बैठते थे। उनके असाधारण व्यवहारों को देखकर 'भासी' ने कहा कि 'यह तो पागल होगा'। इसके विषय में गुरु नानक ने भी भविष्यवाणी की कि भासी को भी ऐसा ही एक पागल उत्पन्न होगा। हुआ भी ऐसा। भासी को रामारत्न नामक पुत्र हुआ। जो बडा ही विख्यात हुआ। विद्यारम्भ के विषय मे उल्लेखनीय है कि उनको भी बुद्ध की तरह सांसारिक दृष्टिकोण से नहीं पढ़ा। अपने अलौकिक ज्ञान से गुरुओ को वर्णों का आध्यात्मिक अर्थ लगाकर बताना और चमत्कृत कर देना उनकी आध्यात्मिकता तथा असाधारण व्यवहार को प्रकट करता है। पढ़ते समय उनकी यही उक्ति रही है कि 'मैं तो परमेश्वर का नाम पढने आया हूँ'। यज्ञोपवीत सस्कार के समय जनेऊ न धारण कर जाति बन्धन से निमुक्त रहने का परिचय दिया। व्यापार के लिए घर से रुपया ले जाना और उसको गरीबो तथा अनाथों मे बाँट देना अस्वाभाविक ही प्रतीत होता है। यही नहीं साधु-सन्तों से बचपन से ही मिलकर वार्तालाप करना उनकी आध्यात्मिकता को प्रकट करता है।[1]

महाप्रभु चैतन्य का प्रारम्भिक जीवन अत्यन्त ही अदभुत रहा है। इनका रूप, वातावरण, इनकी स्मृति, बुद्धि, रुचि, बालचापल्य असाधारण तथा अस्वाभाविक ही रहा है। बालक गौर जब रोते थे तो हरिनाम लेने से ही चुप होते थे अन्यथा कोई उपाय नही था।[2] चार माह की अवस्था मे घर की सामग्रियो को जमीन पर बिखेर देना अस्वाभाविक ही है। नामकरण के समय रुचि परीक्षा में अन्य वस्तुओ को न ग्रहण कर 'श्रीमद्भागवत' की पोथी को ही ग्रहण किया और एकमात्र उसी की नित्यता को प्रकट करना है।[3] दो-तीन दिनो में ही संयुक्त वर्ण तथा वर्ण विन्यास को निमाई ने सीखकर अपनी अदभुत, स्मृति तथा बुद्धि का परिचय दिया। अन्य महापुरुषों की भाँति इन्होंने भी हरिनाम लिखना ही प्रारम्भ किया था। घर में तोड़-फोड करना, स्नान करती हुई युवतियो का नैवेद्य लेकर अपने ऊपर ही चढ़ा लेना उनकी चंचलता के उदाहरण हैं। दिग्विजयी के श्लोकों की पुनरावृत्ति करके उन्होंने अपनी असाधारण स्मृति का परिचय दिया था।[4]

---

१. गोविन्द सिंह, इतिहास गुरु खालसा, पृ० ८०–५६।

२. परम संकेत एइसबं बुझिलेन। कान्दिलेइ हरिनाम सबेइ लयेन। चैतन्य भागवत, आ० ४–६।

३. चैतन्य भागवत आदि, ४।

४. चैतन्य चरितामृत आदि०, १६।

उक्त युग—पुरुषों की तुलना मे श्री रामकृष्ण का प्रारम्भिक जीवन असाधारण और अस्वाभाविक ही रहा है। इसका अवलोकन हम उनके जीवन की घटनाओं से कर सकते है। जन्म के दिन ही उनके पड़ोसिनी धनी ने छः माह का समझा था, उनका शारीरिक गठन, ओज और शरीर की कोमलता का वर्णन अद्वितीय रूप में मिलता है। उनका शारीरिक गठन वलिष्ठ रूप में था और उनमे असाधारण गुण थे।[1] उनकी असाधारण स्मृति शक्ति यह थी कि रामायण तथा महाभारत के कोई भी उपाख्यान सुनने जब बैठते तो सिर्फ एक बार ही सुनकर अधिकांश को कंठस्थ कर लिया करते थे। एक बालक के लिए यह बात असाधारण है। जहाँ लोग भूत-प्रेत के भय से शंकित होते थे वहाँ बालक निडर होकर आया-जाया करता था और अपने असाधारण साहस का परिचय देता था। प्रथम बार चिन्तनशीलता का परिचय आकाश में उड़ते हुए बगुल पंक्ति को देखकर भाव-समाधि मे आविष्ट होकर दिया था। उसे कोई रोग समझकर उपचार का प्रयत्न किया गया, परन्तु पूर्ण रूप मे स्वस्थ बालक को कोई रोग न था न तो भूत-प्रेत की बाधा ही थी, क्योकि भविष्य मे ऐसी ही भाव समाधि दो बार और भी हुई। विशालाक्षी देवी के दर्शन के लिए जाते समय मार्ग मे जो भाव समाधि हुई उससे भी उनके जीवन की चिन्तनशीलता प्रकट होती है। शिव जी के भेष में चिन्तन करते हुए बालक श्री रामकृष्ण तीसरी बार तथा बाद में अनेक बार भाव-समाधि को प्राप्त हुए थे।[2] इस समाधि के पीछे उनकी मानसिक स्थिति आधार के रूप मे कह सकते है। पितृ-वियोग के कारण उनकी मानसिक स्थिति में यह परिवर्तन हुआ कि उनकी चिन्तनशीलता और अधिक बढ़ गई। स्मशान में या एकान्त स्थान मे एकाकी घूमा करते थे और बाहर से देखने मे प्रसन्न मालूम होते थे। साधु-सन्तों से भेंट करना, धार्मिक नाटक देखना और देवी-देवताओं की मूर्ति का निर्माण-कला मे भी उनकी असाधारण उपलब्धि थी।[3]

अन्य रहस्यवादियों की भाँति लौकिक शिक्षा को वे भी ग्रहण करने से विमुख हो गये और अर्थकारी विद्या के स्थान पर अध्यात्म की पाठशाला में दिनोंदिन अपनी रुचि बढ़ाते गए। बुद्ध की भाँति उनको संसार की अनित्यता

---

१. आइसरउड, रामकृष्ण एण्ड हिज़ डिसाइपुल्स, पृष्ठ २८।
२. स्वामी शारदानन्द, श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग, पृष्ठ ६५,६९,७१, ७२,८१, ८३—८५।
३. वही, पृष्ठ ७७, ७८।

का बोध होने लगा और विद्या की ओर से मुख मोड़ने लगे ।[1] असाधारण प्रतिभा, मेधा तथा मानसिक संस्कारों को लेकर उनका जन्म हुआ था। इसलिए अल्प-वयस्क होने पर भी उनके लिए उक्त कार्य आश्चर्यजनक नहीं था।

बालक श्री रामकृष्ण का असाधारण पाण्डित्य भी क्राइस्ट तथा चैतन्य से सादृश्य रखता है। यद्यपि मैक्समूलर ने इस घटना को शंका की दृष्टि से देखा है परन्तु यह बात क्राइस्ट के जीवन में ही नहीं है वरन हिन्दू धर्म में शंकराचार्य तथा चैतन्य के जीवन में भी पाई जाती है। एक असाधारण प्रज्ञा तथा प्रतिभा से सम्पन्न बालक के लिए यह असम्भव कैसे कहा जा सकता है।[2]

साधना-काल अथवा सत्यान्वेषण

इन रहस्यवादियों के जीवन में साधना काल का अवलोकन करने के पहले हम 'सधाना' को स्पष्ट कर लेना अधिक उपयुक्त समझते हैं, क्योंकि बहुधा साधना के विषय में सामान्य रूप में विभिन्न धारणाएँ हैं। पाखंडी तथा उद्देश्य-भ्रष्ट अपनी सांसारिक उपलब्धि के लिए भी अनेक प्रकार की साधना करते हैं। कोई शारीरिक कठोरता के साथ श्वाँस-प्रश्वासों को बन्द करता है तो कोई निरर्थक अनुष्ठान ही करता है तथा साथ ही विकृत मन की चेष्टाओं से सन्तुष्ट हो अपनी साधना में सफल हुआ समझता है और इसी क्रिया को साधना समझता है। यह भी देखा जाता है कि महापुरुषों ने यदि किसी व्यक्ति विशेष को उनकी मानसिक विकृतावस्था को ठीक करने के लिए कोई उपाय बताया है तो लोग उसी को साधना मान कर सामान्य रूप में प्रचारित करने लगते हैं। ऐसे लोग भी हैं जो आध्यात्मिक जीवन की प्रारम्भिक तैयारी के बिना ही सांसारिक प्रपचों का अमानुषिक ढंग से भोग करते हुए मन्त्र की सहायता से इष्ट की साधना में लीन रहते हैं और उसी तुच्छ क्रिया को साधना मानते हैं।

रहस्यवादियों के सत्यान्वेषण में उक्त प्रकार की साधना नहीं पाई जाती। 'साधना' तथा साधक के जीवन के कुछ और ही तत्त्व हैं। 'सधाना' एक प्रयास है जिसके आधार पर देश-कालातीत जगत्कारण के साथ परिचित हुआ जाता है। इसके द्वारा एक अवस्था को प्राप्त किया जाता है। यह अवस्था चरम है, असीम है लौकिक इष्ट की सिद्धि नहीं, मन्त्रों का मात्र सम्पुट नहीं। असीम से ससीम का एकीकरण है, भूत-प्रेतों के इष्ट का भौतिक सुखों की प्राप्ति के

१. वही, पृष्ठ ८६।
२. आइसर उड, रामकृष्ण एण्ड हिज़ डिसाइपुल्स, पृष्ठ ३३–३४।

लिए विशिष्ट देवता को प्रसन्न करने का प्रयास नही। इसका फल भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति नही, सर्वभूतों मे ब्रह्म दर्शन कर आनन्दातिरेक मे डूबा रहना है। चरम सत्ता से सतत सान्निध्य है। और ऐसे ही प्रयास जिन पुरुषो या स्त्रियों में विद्यमान है वही है साधक, वही है रहस्यवादी।

ऐसे साधकों के अलग-अलग मार्ग भी है। साधारणतया दो प्रकार के मार्ग प्राप्त है :—ज्ञान मार्ग तथा भक्ति मार्ग। एक में ज्ञानपूर्वक चरम सत्ता की ओर नित्य प्रति साधक अग्रसर होता रहता है और दूसरे में उच्चतर लक्ष्यो को ग्रहण करते हुए अन्त मे परम सत्ता से सान्निध्य या परिचय कर लेते है। साधक अपनी साधना के लिए आध्यात्मिक नियमो पर चलते हुए अपने लक्ष्य पर पहुँच जाता है।

इस प्रकार की साधना विश्व मे प्रत्येक रहस्यवादियो को जिन्हे विश्व, अवतार या पैगम्बर के रूप मे भी स्वीकार करता है, करनी पड़ी है। हाँ, यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि बहुत से ऐसे महापुरुष हुए हैं जिनके जीवन मे साधना का कोई विशेष उल्लेख नही मिलता। भारतीय धर्म—इतिहास मे बुद्ध तथा चैतन्य को छोड़ कर और कही इस प्रकार की साधना का विस्तृत विवरण नही मिलता। इसका कारण यह बतलाया जा सकता है कि ऐसे साधको को ईश्वरावतार की कोटि मे रखने से उनके शिष्य भक्ति की प्रबलता के कारण मानवीय क्रिया-कलापो को उनमे आरोपित नही करना चाहते थे। बाद के शिष्य वर्ग ने अधिक रूप में भक्ति मे लीन हो इस तत्त्व की उपेक्षा कर दी। उनका यह दृष्टिकोण रहा होगा कि साधना तो साधारण मानव ही करता है जो ईश्वर की प्राप्ति मे अग्रसर होता है। परन्तु जो स्वय पैगम्बर या ईश-पुत्र है या भगवान का अवतार ही है, उसको साधना की क्या आवश्यकता। वे तो स्वत पूर्ण है। वस्तुतः यदि विवेचना-पूर्ण रीति से देखा जाय तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि सभी युग-पुरुष, चाहे वे अवतार ही क्यो न हुए हों, ससार के समक्ष, उदाहरण के रूप मे, सभी प्रकार की साधनाओ को प्रस्तुत किया है। भारतीय धर्म साधना में तो 'लीला' के रूप में भी इसको ग्रहण किया गया है।

जो भी हो इतना तो स्पष्ट रूप में कहा जा सकता है कि सभी युग पुरुषों ने साधना का आश्रय लिया है, चाहे उनके जीवन काल मे सम्पन्न हुई साधना का विस्तृत उल्लेख मिलता हो या सक्षिप्त।

बुद्ध की जीवन साधना तथा तपश्चर्या का अनुपम जीवन रहा है। उनका राजसी ऐश्वर्य मे बीता हुआ विलासपूर्ण जीवन किस प्रकार चार दृश्यों को देखकर

धार्मिक परिवर्तन का उदाहरण बनता है। यह सर्वविदित। उनका यह परिवर्तन क्षणिक नहीं था और न उन्मादिक ही रहा, ऐसा माना जाता रहा है। क्योंकि भविष्य का सम्पूर्ण जीवन उन्होंने चरम सत्य के अन्वेषण में अर्पित कर दिया। उनकी साधनाएँ कई भागों मे बाँटी जा सकती है :—

१—**सन्यास ग्रहण**—दो गुरुओं की खोज-आलार का लाभ तथा उद्दक राम पुत्र। घर से निकल पड़ने के पश्चात् बुद्ध ने सर्वप्रथम वैशाली में आलार का लाभ के आश्रय मे पहुँचकर समाधि : समापत्ति . सीखी। वे सप्तक भूमि तक पहुँच गए परन्तु उसे अन्तिम मुक्ति न मान वे त्याग कर चल पड़े,[1] और राजगृह के उपकण्ठ मे गए तथा उद्दक रामपुत्र के आश्रम मे ठहरे वहाँ समाधि के अष्टम भूमि पर अल्प समय तथा परिश्रम से पहुँच गये।

२—**स्वनिश्चित तपश्चर्या** :—परन्तु यह अवस्था लोकोत्तर की न समझ, परम तत्त्व की प्राप्ति में 'उरुवेला' मे पहुँच छः वर्ष की घोर तपस्या की। उनके रोम हर्षण तप का पूर्ण वर्णन त्रिपिटक में आया है।[2]

३—**सम्यक् ज्ञान के लिए उन्चास दिन की तपश्चर्या** :—इस आत्म क्लेश से सत्य की प्राप्ति न होने पर स्थूल आहार ग्रहण कर उन्चास दिन परिपूर्ण समाधि की अवस्था में कृषि ग्राम मे हुए समाधि की अवस्था का आनन्द प्राप्त कर मार के आक्रमणों पर विजय प्राप्त कर लिया।

४—**अभिसम्बोध की प्राप्ति** :—वैशाख पूर्णिमा के दिन ही उन महापुरुष ने आत्मविजय प्राप्त कर प्रथम याम में पूर्व जन्मो का ज्ञान, मध्यम याम में दिव्य-चक्षु या, अन्तिम याम मे प्रतीत्य समुत्पाद—ज्ञान को उपलब्ध किये।[3]

क्राइस्ट के जीवन मे भी एक समय साधना का रहा है। वे योगी के रूप मे हमारे समक्ष आते है। उनका सान्निध्य चरम सत्ता से हुआ था और इसके लिए उन्होंने भी साधनाएँ की थी। कहा जाता है कि वे आस-पास की पहाड़ियों मे अनेक घण्टे प्रार्थना करते थे।[4] इसीलिए शिष्यों को प्रार्थना के लिए अधिक बल दिया है। 'गेथसमैन' की घटना[5] से यह बात ज्ञात होता है कि वे साधना करते

---

१. बोधि राजकुमार सुत्त, मज्झिम० २।४।५।
२. वही, मज्झिम० २।४।५।
३. राहुल सांकृत्यायन, बुद्धचर्य्या, पृ० १६।
४. शोभा, देह धारी ईश्वर, पृष्ठ २३।
५ यहां क्राइस्ट प्रार्थना में लीन रहे थे।

थे और शिष्यों के लिए भी आवश्यक समझते थे।[1] उनकी चालीस दिन की जंगलों की तपश्चर्या बुद्ध की भांति उनकी साधना को ही प्रकट करती है।[2] वास्तव में क्राइस्ट ने अपना धर्म-प्रदर्शन आध्यात्मिक साधना द्वारा ही किया है।[3]

चरम सत्ता से सान्निध्य तथा मार्ग प्रदर्शन के लिए मुहम्मद साहब दिन में एक बार 'हीरा' नामक पहाड़ की गुफा में जो मक्का से कुछ मील दूर है, जाया करते थे। वहाँ प्रार्थना तथा ध्यान में मग्न रहते थे, फल (खजूर) तथा पानी पर रात-दिन व्यतीत कर दिया करते थे। उन्होंने अपने धार्मिक अनुभवों को खदीजा ने आकर बतलाया भी है। कुरान में भी उनके अनुभवों का वर्णन मिलता है।[4] उनका जीवन सतत प्रार्थना में लीन था। रात्रि में कार्य करने के पश्चात् बहुत समय तक खड़े-खड़े प्रार्थना करते थे यहाँ तक कि उनके पैरों में सूजन हो जाती थी।[5] कहा जाता है कि उनकी साधना सतत बनी रहती थी। गुफा में निश्चित ध्यान के पश्चात् भी ईश्वर का चिन्तन निरन्तर करते रहते थे।

गुरु नानक का जीवन भी साधना-काल से गुजरा है। उनको एकान्त अधिक अच्छा लगता था और बाहर जाकर जंगल में ईश्वर-गुणानुवाद करते थे। ध्यान-मग्न रहते थे। कहीं कब्रिस्तान में भी आसन लगाकर बैठ गए या कहीं साधु-सन्तों के साथ ईश्वर-गुणानुवाद किया करते थे। समय मिलने पर एकान्त में चला जाना और ईश्वर चिन्तन करना उनके लिए स्वाभाविक रहा है।[6]

महाप्रभु चैतन्य की साधना को प्रेम-साधना के नाम से अभिहित किया जाता है। उनके जीवन में प्रथम धार्मिक परिवर्तन गया जाने पर हुआ। वहाँ से लौट कर आने के पश्चात् हरि-कीर्तन में उनकी साधना का आदि और अन्त हुआ। परम सत्ता से सतत हरि-कीर्तन में उनकी साधना का आदि और अन्त हुआ। परम सत्ता से सतत समागम होने पर उनको पूजा-तर्पण आदि की आवश्यकता नहीं हुई। महाभाव की दशा में लीन होकर अर्धबाह्य दशा में रहना उनके जीवन का अंग हो गया। कृष्ण-विरह में रोना, लोटना, कीर्तन करना, हरिनाम सुनने

---

१. मत्ती, २६:४१: तथा मरकुस १४:३८।
२. लूका, ४ : १—३।
३. स्वामी अखिलानन्द, हिन्दू व्यू ऑफ क्राइस्ट, पृष्ठ ११८।
४. कुरान, ४२ : ५१।
५. मु० जफरुल्ला खां, इस्लाम, पृष्ठ २३,२५,६६,१०७ ;
६. गोविन्द सिंह, इतिहास गुरु खालसा, पृष्ठ ८६—८८।

पर चैतन्य होना यही उनकी साधना है। उनकी स्वतः स्फूर्त साधना का सा उदाहरण किसी अन्य पुरुष के जीवन से प्राप्त नहीं होता।

अन्य महापुरुषों की तुलना में श्री रामकृष्ण परमहंस जी का जीवन भी साधना-काल या सत्यान्वेषण में लीन रहा है। यह भी देखा जाता है कि ऐसे धार्मिक महापुरुषों का जीवन साधना के लिए बचपन से ही उपयुक्त होता है।

श्री रामकृष्ण का साधना-काल सन् १८५६ से १८६७ तक मिलता है। बचपन से ही इनके मन का भी स्वाभाविक गठन साधना के लिए था। दक्षिणेश्वर में इनको पूजक-पद मिलने के बाद ही इनकी साधना द्विगुणित रूप से प्रकट होने लगी। पूजन में तन्मयता और पंचवटी के जंगल में जाकर रात में साधना करना, ध्यान तथा चिन्तन में निमग्न रहना और ईश्वर-दर्शन के लिए अत्यन्त व्याकुलता का उल्लेख मिलता है। इनकी साधना कई रूपों, क्षेत्रों तथा पक्षों में प्राप्त होती है। इनको गुरु की आवश्यकता न होते हुए भी भारतीय धर्म-साधना-पद्धति के अनुसार समय-समय पर गुरु स्वयं उनके निकट आते गये और उनकी साधना चलती रही। सत्ता से सान्निध्य, प्राप्त कर लेने के पश्चात् भी साधक ने विभिन्न मार्गों तथा मतों की भी साधना की। जिन-जिन रूपों में साक्षात्कार हो सकता है उन सब का प्रायोगिक रूप से अपने जीवन में अनुभव प्राप्त किया। भैरवी ब्राह्मणी द्वारा तन्त्र साधना, जटाधारी द्वारा वात्सल्य तथा मधुर भाव की साधना तोतापुरी वेदान्त की साधना तथा गोविन्द राय द्वारा इस्लाम धर्म की साधना की तथा धर्म का पूर्ण अनुभव प्राप्त किया। उन्होंने-एक करके सभी धर्मों सभी सम्प्रदायों तथा वर्गों का व्यावहारिक उदाहरण साधना द्वारा विश्व के समक्ष रख दिया। इसी आधार पर कहा जा सकता है कि श्री रामकृष्ण की साधना विश्व की अन्य धर्म-साधनाओं का समन्वय है, सबका इनकी साधना में समागम है। इनके लिए धर्म-कल्पना नहीं व्यवहार है।

जीवन काल में चरमकृच्छ्र साधना एवं कठोरता अनुयायियों की संख्या। अल्प परन्तु उत्तर काल में एक आन्तरिक शक्ति के सहारे उनका प्रचार।

सभी उच्चकोटि के रहस्यवादियों ने केवल साधना ही नहीं की है बल्कि चरम कृच्छ साधना के द्वारा सत्ता का साक्षात्कार भी किया है। श्री रामकृष्ण जी

---

१. श्री सुन्दरानन्द विद्याविनोद, श्री चैतन्यदेव, पृष्ठ १०२,१०५,१०६।

२. शारदानन्द, श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग, पृ० १५०-१५२, २०२, २०५ २०६, २१२,३०७,३४६,३७२ ३८३

नेचरम कठोर साधना का पालन किया है।[1] तीव्र व्याकुलता की प्रेरणा से उनके भोजन, निद्रा सज्जा, भयादि, शारीरिक एवं मानसिक दृढ़ संस्कार तथा अन्य सारे अभ्यास मानो कहीं विलुप्त हो चुके थे।[1] साधना के समय की कृच्छता का परिचय उन्ही के शब्दो मे इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है' लगातार छ. वर्ष पर्यन्त एक क्षण के लिए भी मुझे नीद न आयी। नेत्र पलक शुन्य हो चुके थे, प्रयत्न करने पर भी कभी-कभी पलक नहीं डाल पाता था। कितना समय बीत गया, इसका मुझे कोई ध्यान नही रहता था एवं अपने शरीर-रक्षा की बात मे प्रायः विस्मृत हो चुका था।..दर्पण के सम्मुख खडे हो आँखो मे ऊँगली डालकर भी देखा करता था कि पलकें गिरती है या नहीं। उस समय भी पलक नही गिरते थे। ..पुन. दूसरे ही क्षण फिर कह उठता, "जो कुछ होनहार है, हो, शरीर भले ही चला जाय पर तू मुझे न छोड़ना, मुझे दर्शन दे. . इस प्रकार रोते-रोते मेरा मन पुनः अद्‌भुत उत्साह से पूर्ण हो उठता था, शरीर अत्यन्त तुच्छ हेय प्रतीत होता था, माँ का दर्शन तथा उनकी वाणी सुनकर मैं आश्वस्त होता था।"

बुद्ध भगवान की छ वर्ष की तपश्चर्या कितनी कठोर रही है, उरुवेला की वनस्थली मे कितनी कृच्छ साधना की है, बोधि राजकुमार सुत्त मे उन्होने अपने श्रीमुख से उसका वर्णन किया है. . "तब राजकुमार मेरे मन मे हुआ क्यो न मैं दाँतों के ऊपर दाँत रख, जिह्वा द्वारा तालू को दबा, मन से मन को निग्रह करूँ, मन को पकड़ने, दबाने तपाने मे काँख से पसीना निकलता था। उस समय मैंने न दबने वाला वीर्य आरम्भ किया था स्मृति मेरी बनी थी काया भी तत्पर थी "तब मुझे यो हुआ क्यों न मैं श्वाँस रहित ध्यान धरूँ। सो मैंने राजकुमार! मुख और नासिका से श्वाँस का आना जाना रोक दिया। तब राजकुमार! मेरे मुख और नासिका से आश्वास-प्रश्वास के रुक जाने पर कान के छिद्रों से निकलते हवाओ का बहुत अधिक शब्द होने लगा—तब मेरे मुखनासा और कर्ण से आश्वास-प्रश्वास के रुक जाने से मूर्धा बहुत अधिक बात टकराने लगे. . सिर से बहुत अधिक वेदना होने लगी, बहुत अधिक बात पेट को छेदने लगे, काया मे बहुत अधिक दाह होता था'। 'अल्प आहार से जैसे ऊँट का पैर वैसे ही मेरा कूल्हा हो गया,

---

१. स्वामी शारदानन्द, श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग, प्रथम भाग, पृष्ठ २३७

२. शारदानन्द, श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग, प्रथम भाग, पृष्ठ २७०—२७१।

३ मज्झिम० २ ४१५।

जैसे सूओ की पाती वैसे ही ऊँचे-नीचे मेरे पीठ के काँटे हो गए। जैसे पुरानी शाखा की कडियाँ अहृण-बहृण होती है वैसे ही मेरी पुतलियाँ हो गईं। जैसे गहरे कुएँ मे पानी का तारा गहराई मे दूर दिखाई देता है ऐसे ही मेरी आँखें हो गईं। जैसे कच्चा तोडा कड़ुआ लौका हवा धूप में सपुटित होकर मुर्भा जाता है ऐसे ही मेरे शिर की खाल चिचुक गई थी, मुर्भा गई थी। राजकुमार! यदि मैं पेट की खाल को मसलता तो पीठ के काठों को पकड़ लेता था, पीठ के काठों को मसलता तो पेट की खाल को पकड लेता था..। जब मैं काया को सहराते हुए हाथ से शरीर को मसलता था तो हाथ से शरीर को मसलते वक्त काया से सडी जड वाले रोम भड पड़ते थे।[1]

इसके अतिरिक्त उन्होंने उन्चास दिन की तपश्चर्या बिना आहार लिए सम्पन्न की। तत्पश्चात् अभिसम्बोध की प्राप्ति हुई। क्राइस्ट की साधना मे भी चालीस दिन की तपस्या तथा उपवास का वर्णन मिलता है। जिस प्रकार मरुस्थल तथा वीरान जगल मे ईसा तपस्या पूर्ण कर तथा बुद्ध की मार विजय की भाति सैठन के प्रलोभनों से वंचित हो उपदेश के लिए आए, इसका वर्णन मिलता है।[2]

मुहम्मद की कृच्छ साधना जो हीरा की गुफा मे हुई वह स्पष्ट ही है। वे रात-रात भर खडे होकर प्रार्थना करते थे जिसके कारण उनके पैरो मे सूजन हो जाया करती थी।[3]

गुरुनानक के जीवन मे जगल की तपश्चर्या कृच्छ और कठोर साधना का ही उदाहरण माना जाता है। महाप्रभु की प्रेम विरह साधना की चरम सीमा को उनकी कठोर कृच्छ साधना ही कह सकते है। प्रेम-विरह मे व्याकुल हो कृष्ण के दर्शन के लिए समुद्र मे कूद पडना विरहोन्माद मे गम्भीरा की दीवाल से मुँह रगडना, महाभाव मे पड सुध-बुध खो देना, प्रेम विरह की चरम कृच्छ साधना कही जा सकती है। ऐसे ही प्रेम विरह में श्री रामकृष्ण भी जमीन पर मुँह रगड़ते थे, मन्दिर मे रखी तलवार से सिर काटने को तैयार थे। बुद्ध, सत्य की प्राप्ति

---

१. भरत सिंह उपाध्याय, बौद्ध धर्म तथा अन्य भारतीय दर्शन, भाग, १ पृ. २६४–६५।

२. लूका, ४ : १–३।

३. हरमन ओल्डेनबर्ग, बुद्ध, हिज़ लाइफ, हिज़ डाक्ट्रिन, हिज़ आर्डर, पृष्ठ, ११३–११४।

४ मौलाना अकबरल्ला खां, इस्लाम पृष्ठ, ६१।

मे कंकाल मात्र रह गए थे। क्राइस्ट मरुस्थल तथा जंगल के बीच 'पिता' की खोज मे व्यग्र थे। इन महापुरुषो के जीवन से यही ज्ञात होता है कि साधना की चरमसीमा पर बिना पहुँचे साध्य की प्राप्ति नही होती। इन साधकों के जीवन से यह भी परिलक्षित होता है कि प्रारम्भ मे सिद्धि प्राप्त होने के पश्चात् उनके अनुयायियो की सख्या अत्यल्प रही है, परन्तु उत्तर काल में एक आन्तरिक शक्ति के सहारे उनका प्रचार विश्वव्यापी हुआ है। बुद्ध का साधक जीवन कौण्डिन्य आदि पाँच परिव्राजकों को लेकर प्रारम्भ हुआ। वे भी उनको पथ-भ्रष्ट समझ कर ऋषि पत्तन (सारनाथ) को चले गए। बोध प्राप्ति के पश्चात् बुद्ध ने अपने उपदेशों का प्रचार करने के लिए सारनाथ मे इन्ही पाँच शिष्यों को पुन खोजा और बाद मे उत्तरोत्तर किस प्रकार उनका प्रचार होता रहा, यह इतिहास मे सर्वविदित है। क्राइस्ट के शिष्यो की संख्या लगभग छ. ही थी परन्तु किस आन्तरिक शक्ति के सहारे उदार धर्म का प्रचार हुआ यह किसी से छिपा नही है। यही नही इनके धर्म-प्रचार मे प्रारम्भ मे कितनी बाधाएं आई उनको, मृत्यु दण्ड दिया गया परन्तु उनका धर्म प्रचार रुका नही। मुहम्मद का मक्का से मदीना प्रयाण करना उनके धर्म के विरोध का ही फल था, परन्तु प्रमुख चार शिष्यो के ही बल पर इस्लाम धर्म एक व्यापक धर्म बन कर अब तक जीवित है। गुरु नानक का शिष्य मरदाना ही उनका एक मात्र सहयोगी रहा परन्तु उत्तर काल मे सिक्ख धर्म का प्रचार असंख्य शिष्यो द्वारा हुआ और एक प्रमुख धर्म बनकर अवशिष्ट है। महाप्रभु चैतन्य ने विरोधी परिस्थितियों मे केवल कृष्ण भक्ति की ओर लोगो को प्रेरित किया था। उन्होने किसी मत विशेष की स्थापना नहीं की और न तो व्यवस्थित रूप से प्रचारित करने का कोई प्रयास ही किया था परन्तु उत्तरोत्तर उनके सहयोगियों के सहारे आन्तरिक शक्ति के आधार पर ही उनका मत व्यापक होता गया।[1]

तो श्री रामकृष्ण का क्या धर्म और क्या उनका प्रचार। यह प्रश्न लोगो के सम्मुख हो सकता है। कोई कह सकता है कि बुद्ध ने "नीति" "नेति" की साधना कर उसका प्रचार नैतिकता तथा दया के प्रवाह में किया, क्राइस्ट ने "पिता" की दया को प्रचारित किया, मानवता का उद्रेक कर लोगों मे प्रेम-दान वितरित किया, मुहम्मद ने पैगम्बर के रूप में "अल्लाह" के एकेश्वरवाद की घोषणा की, गुरु नानक ने कुछ समन्वय और कुछ समाज सुधार को लेते हुए उपनिषदिक

---

1 प्रभु दयालु मितल, चैतन्य मत और ब्रज साहित्य पृष्ठ ८०

विचार को ग्रहण करते हुए भी अपना अलग अस्तित्व "सिक्ख धर्म" तक रक्खा और चैतन्य ने "कृष्ण विरह" में भक्ति रस-धारा में गोते लगाये तथा नाम-संकीर्तन का प्रचार कर सनातन धर्म को पुनर्जीवित किया, परन्तु श्री रामकृष्ण ने ऐसा कौन सा नया धर्म स्थापित किया जिसका प्रचार हुआ, हो रहा है और होता रहेगा ? मैक्समूलर ने ठीक ही लिखा है, कि श्रीरामकृष्ण ने कोई नया धर्म नहीं स्थापित किया। उनके धर्म में उसी उपनिषद् की विचार धारा है, वेदान्त का प्रतिष्ठापन है, जिसका उपदेश भारतीय धर्म ने किया है। तिसपर भी उस प्राचीन धर्म के उपदेश में तथा वैरागी जीवन व्यतीत करने मे श्री रामकृष्ण का अपना अलग स्थान और महत्त्व है।[1] यह महत्त्व किस बात के लिए है प्राचीन धर्म के उपदेशक को ही इतना महत्त्व क्यों दिया जाय। इन प्रश्नों का उत्तर यही है कि उनका प्राचीन धर्म ही चिर नवीन है। प्राचीन का नवीनीकरण सिद्धान्त का प्रयोगीकरण सनातन का सक्रियकरण करने का श्रेय श्री रामकृष्ण को है। वेदान्त के सत्य का साक्षात्कार कर लौकिक स्तर पर प्रवाहमान करने का एक मात्र श्रेय इसी साधक को है। वेदान्त की एक साधना मे विश्व के सभी धर्मों को अनुस्यूत कर इस महायोगी ने यह सिद्ध कर दिया कि विश्व मे धर्मों का क्या अस्तित्व है। उन्होंने "धर्मों" का नही "धर्म" का प्रतिपादन किया क्योंकि सभी धर्मों मे एक ही धर्म का दर्शन किया। इसीलिए, ईसाइयत, इस्लाम, सिक्ख, आदि सभी धर्मों की साधना की। यदि इस धर्म को हम "श्रीरामकृष्ण धर्म" नहीं कहे तो "विश्व धर्म" की सज्ञा तो अवश्य प्रदान कर सकते हैं।

इसी धर्म का प्रचार गाँव के एक गरीब ब्राह्मण के बालक के थोड़े से अनुयायियों ने मुख्य रूप से स्वामी विवेकानन्द ने, करना प्रारम्भ किया था। इनके उपदेशों को ईसाई मत को मानने वालो ने भी प्रभावित होकर ग्रहण किया' आज अमेरिका तथा भारत दो धर्मों वाले देश नही। श्री रामकृष्ण अद्वैताश्रम भारत का नहीं, सम्पूर्ण विश्व का है। "जिस महान् धर्म के शक्ति का सचय कर उन्होंने अपने शिष्य वर्ग मे उसे सचारित किया है उसके प्रबल उच्छ्वास से बीसवी शती के विज्ञान के आलोक मे भी लोग धर्म को भी एकदम प्रत्यक्ष विषय समझने लगे हैं और सभी धर्मों के भीतर एक अपरिवर्तनशील जीता

१. मैक्समुलर, द लाइफ एण्ड सेइन्ग्स ऑफ श्री रामकृष्ण, पृष्ठ ११–१२।

२ वही, पृष्ठ-१०।

जाग्रत सनातन धर्म का स्रोत प्रवाहित होते देख रहे हैं।[1] क्या इससे पूर्व संसार ने और कभी उस शक्ति का अभिनय देखा है ? क्या विश्व के अन्य धर्मों को भी ऐसी विश्वव्यापी ख्याति प्राप्त हुई है। अन्य धर्मों का अल्प अनुयायियों के होते हुए भी बाद में प्रचार-कार्य किसी आन्तरिक शक्ति के सहारे हुआ अवश्य है परन्तु इतना दीर्घ तथा सर्वव्यापी प्रचार नहीं हो सका। उनकी ऐकान्तिकता, आज भी विद्यमान है। उनकी सहिष्णुता की धारा शुष्क सी हो गई है, परन्तु यह "मानव धर्म", "विश्व धर्म" चाहे जो कह ले, अल्पायु में ही सर्वदेशीय तथा सर्वव्यापक हो गया। इसका यह प्रचार किसी आन्तरिक शक्ति के सहारे नहीं है क्या ?

अत: अब हम विशिष्ट रूप से श्री रामकृष्ण को लेकर उनकी वंश-परम्परा जन्म एवम् प्रारम्भिक जीवन का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करेंगे।

---

१. शारदानन्द, श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग, द्वितीय भाग, पृष्ठ ५०१ ।

4

वंश परम्परा, जन्म तथा प्रारम्भिक जीवन

रहस्यवादियो का जीवन तथा उनकी अनुभूतियो का अध्ययन मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से इसीलिए महत्वपूर्ण रहा है कि उनमे अस्वाभाविकता तथा असाधारणता की प्रचुरता रही है। सामान्य व्यवहारों तथा अनुभूतियो का अध्ययन तो सामान्य मनोविज्ञान का विषय है, परन्तु असाधारण तथा अस्वाभाविक अनुभूतियो का अध्ययन असामान्य मनोविज्ञान का विषय बन जाता है। प्रश्न होता है कि क्या धार्मिक व्यवहार तथा अनुभूतियाँ भी असामान्य मनोविज्ञान के ही विषय है? यह प्रश्न वास्तव मे अब तक बड़ा विवादास्पद रहा है। अधिकांश मनोवैज्ञानिको ने धार्मिक व्यवहारों तथा अनुभूतियो को असामान्य मनोविज्ञान द्वारा ही विश्लेषित करने का प्रयास किया है। होना तो यह चाहिए था कि सामान्य व्यक्ति के व्यवहार और अनुभूतियों के असामान्य होने पर या विकृतावस्था मे देखकर ही उनका अध्ययन असामान्य मनोविज्ञान मे किया जाता। जो व्यक्ति न विकृत है न सामान्य ही है उसका अध्ययन इसके (असामान्य मनोविज्ञान) द्वारा कैसे? वह तो अति सामान्य है। असाधारण का अर्थ सामान्य न होना हो सकता है, परन्तु विकृत हो ही, यह नही कहा जा सकता।[1] रहस्यवादियों का जीवन इसी कोटि मे आता है। उनका यह जीवन असामान्य या विकृत नही वरन् सामान्य धार्मिक प्रेरणा का एकाँगी विकास कहा जाता है।[2] तो फिर इनका अध्ययन अब तक असामान्य मनोविज्ञान के जीवन की घटनाएँ तथा अनुभूतियाँ कुछ सामान्य मनुष्य की विकृतावस्था से मिलती-जुलती पाई जाती है। इस प्रकार रहस्यवादी की अनुभूतियो की प्रामाणिकता कही पर सिद्ध की गई है और कही पर इन्हे अप्राकृत मस्तिष्क के लक्षण बतलाए गए हैं। अधिकाश रूप मे धार्मिक व्यक्तियो अथवा रहस्यवादियों (जैसा कि सामान्यतया वे समझे जाते हैं) के मनोदैहिक लक्षणों का स्पष्ट रूप से विश्लेषण किया गया है, ताकि उनकी

---

१. सामान्य-असामान्य के विकल्पों को मनोवैज्ञानिक पर्यालोचना में बिस्तृत रूप से देखने का प्रयास किया जायगा।

२. डब्लू० बी० सेल्बी—द साइकलोजी ऑफ रिलीजन, पृ० १३ पर उद्धृत गैलोवे का कथन

तुलना असामान्य मनोविज्ञान के लक्षणों से सरलतापूर्वक की जा सके। इन अध्ययनों से जो निष्कर्ष प्राप्त हुए है, उनमें यह पता चलता है कि कुछ ही लोगो ने यह स्पष्ट रूप में घोषित करने का साहस किया है कि रहस्यवादी पागल है और रहस्यवाद अन्धविश्वासी तथा चमत्कार के पीछे दौड़ने वाले लोगों के द्वारा उन्माद रोग को गलत समझने का परिणाम है।

अब तक इस विषय पर लिखे गए ग्रन्थ सभी प्रकार के रहस्यवादियों के अनुभवों पर आधारित रहे है। किसी भी व्यक्ति ने वस्तुगत कसौटी को निश्चित करने का प्रयास नहीं किया—जिससे केवल उन रहस्यवादियो का अध्ययन किया जाता जो एक निश्चित अवस्था को प्राप्त हुए हों। इसलिए यह स्वाभाविक है कि ऐसे अध्ययनो में धार्मिक व्यामोही (अथवा विकृत मस्तिष्क) के सम्मिलित होने की सम्भावना सदैव बनी रहती है। हमने एक वस्तुगत कसौटी निश्चित करने की कल्पना की है। अर्थात् हमने अपने अध्ययन क्षेत्र के अन्तर्गत उन लोगो को चुना है, जिन्होंने मानव जाति को इतना अधिक प्रभावित किया है कि वे पैगम्बर अथवा अवतार के रूप में मान्य हुए हैं तथा वे स्वर्गवासी काल की चुनौतियों पर विजय प्राप्त करने और आगे आने वाली पीढियो में धार्मिक प्रेरणा को जागृत करने में समर्थ हो सके हैं।

अध्ययन की स्पष्टता तथा वैज्ञानिकता के लिए ही आधुनिकतम् रहस्यवादी श्री रामकृष्ण परमहंस के जीवन को एक ठोस आधार के रूप में ग्रहण किया गया है।[१] कारण पहले भी स्पष्ट कर दिया गया है कि अन्य रहस्यवादियों की अपेक्षा इनके जीवन के सम्बन्ध में अधिक ऐतिहासिक तथ्य उपलब्ध हैं, और साथ ही इनकी उपलब्धियाँ और सार्वभौमिक मान्यता किसी भी अर्थ में कम नहीं है।

अतः हम सर्वप्रथम श्रीरामकृष्ण के वैचित्र्यमय जीवन तथा उनकी धार्मिक अनुभूतियों का विश्लेषण करेंगे, उनके मनोदैहिक लक्षणों का दिग्दर्शन कराएँगे। तत्पश्चात् यह अनुसंधान करेंगे कि क्या वे असामान्य कहे जा सकते है अथवा उनमें मनोविकार के लक्षण विद्यमान है या नहीं। साथ ही हम यह भी देख सकते है कि क्या वास्तव में ऐसे धार्मिक महापुरुषों का अध्ययन असामान्य मनोविज्ञान द्वारा ही हो सकता है। क्या उनके रहस्यमय तथा विचित्र व्यवहारो तथा अनुभवों की व्याख्या असामान्य मनोविज्ञान के आधुनिकतम् सिद्धान्तों द्वारा सम्भव है?

---

१ २

रहस्यवादियों की विचित्रताओं तथा अस्वाभाविकताओं की मनोवैज्ञानिक व्याख्या के लिए ही हम श्री रामकृष्ण के जीवन को विशिष्ट रूप में ठोस आधार के रूप में लेकर यह देखने का प्रयास करेंगे कि असामान्य मनोविज्ञान इनकी कहाँ तक व्याख्या कर सकता है ? किस सीमा तक उनका जीवन और उनके अनुभव सामान्य मनोविज्ञान के अन्तर्गत आते हैं ?

वस्तुत: श्रीरामकृष्ण का जीवन एक अदभुत घटना है ।[1] आइसर उड ने इनको भावनात्मक या उत्तेजित शब्दों से—रहस्यवादी 'सन या अवतार' सम्बोधित कर एक घटना ही कहा है । बहुधा देखा जाता है कि घटना का बोध असाधारण या रहस्यमय रूप में ही होता है । अत: स्वयं श्री रामकृष्ण तथा उनका जीवन और उनकी अनुभूतियाँ असाधारण है, रहस्यमय हैं । यह भी सत्य है कि कोई घटना अनस्तित्व का बोधक नहीं होती । नितान्त शून्य की कल्पना नहीं होती । कोई घटना सर्वदा एक 'तथ्य' होती है और अनुभव का विषय भी । आधुनिक विज्ञापन—पद्धतियों के द्वारा मूल्यहीन वस्तुओं तक के विषय में मूल्यवान निर्णय कर लेने को जब हम बाध्य हो जाते है और अपने विज्ञापित व्यक्ति या वस्तु को ही दूसरों की अपेक्षा श्रेष्ठ समझने लगते है, तो मूल्यवान और उच्चकोटि की वस्तुओं को श्रेष्ठ समझना जिसका अप्रतिम प्रभाव और महत्त्व है, कोई आश्चर्य या मनोकल्पित बात नहीं है । इस प्रकार की घटनाएँ समय-समय पर होती रही हैं परन्तु हम उनसे इसकी बराबरी या प्रतिद्वन्दिता नहीं प्रदर्शित करना चाहते ।

जिस प्रकार कोई घटना अदभुत और रहस्यमयता के गुण को प्रकट करती है उसी प्रकार घटना की पृष्ठभूमि वातावरण तथा उसका फल भी असाधारण ही होना है । कहना तो यह चाहिए कि इन तथ्यों को मिला कर ही घटना घटित होती हैं । घटना के इस सम्प्रेक्ष मे हम यह देखेंगे कि श्री रामकृष्ण स्वयं एक घटना है तो उनके जीवन की सभी बातें भी उसी घटना के अन्तर्गत है । उनका पारिवाहिक इतिहास, माता-पिता तथा पारिवारिक वातावरण भी एक घटना ही है और उनका जन्म, शिक्षा, प्रारम्भिक जीवन तथा उनके गुण असाधारण और अस्वाभाविक तो है ही ।

परम्परा तथा वातावरण

अभी तक यह देखा गया है कि जितने भी उच्चकोटि के रहस्यवादी हुए हैं, उनका जन्म ऐसे वंश मे हुआ है, जहाँ दुख-दारिद्रय तथा कठोर परिस्थितियो

---

१ सी० आइसर उड पृ० १

का राज्य रहा है। बुद्ध को छोड़कर ईसा, शंकराचार्य, चैतन्य महाप्रभु, मुहम्मद तथा गुरुनानक का जन्म ऐसी ही परिस्थिति मे हुआ। परन्तु इन परिस्थितियो के होते हुए भी जिस दु:ख दारिद्रय के अन्दर सन्तोष की सरसता नही है, जिस घर मे पवित्रता तथा कठोर मनुष्यत्व के साथ कोमल दया दाक्षिण्यादि भावो का मधुर सामंजस्य नही है, ऐसे स्थलों मे रहस्यवादियो का कभी-भी जन्म नही हुआ है।[1]

श्री रामकृष्ण के जीवन मे भी इन परिस्थितियो का अभाव नहीं है। इनका जन्म जिस वंश में हुआ था, वह धर्मनिष्ठ ब्राह्मण-परिवार 'देरे' ग्राम मे रहता था। उक्त परिवार के लोग सदाचारी, कुलीन तथा श्री रामचन्द्र जी के उपासक थे।--उक्त वंश मे श्री मणिकराम चट्टोपाध्याय के तीन पुत्र और एक कन्या हुई। उनमे से ज्येष्ठ क्षुदिराम का जन्म लगभग सन् १७७५ में हुआ।--श्री क्षुदिराम मे सत्यनिष्ठा, सन्तोष, क्षमा तथा त्याग आदि जो गुण शास्त्रानुसार ब्राह्मणो के लिए स्वभाव सिद्ध होना आवश्यक माने जाते है, वर्तमान थे। वे कद के लंबे तथा बलशाली थे, किन्तु उनका शरीर स्थूल नही था, गौरवर्ण के थे तथा देखने मे भी सुडौल थे। श्री रामचन्द्र जी के प्रति वंशानुगत भक्ति उनमे विशेष रूप से विद्यमान थी।

पिता की मृत्यु के बाद घर-द्वार तथा सम्पत्ति आदि की देखभाल का उत्तर-दायित्व श्री क्षुदिराम जी के कन्धो पर आ पड़ा। धर्म मे अविचलित रहकर वे उन कार्यों को यथोचित रूप से सम्पन्न करते रहे। इससे पूर्व उनका विवाह संस्कार हो जाने पर भी उनकी धर्मपत्नी की अत्यन्त अल्प आयु मे ही मृत्यु हो गई। अत: प्राय: पच्चीस वर्ष की आयु में उन्होंने पुनः दूसरा विवाह किया। उनकी दूसरी धर्मपत्नी का नाम श्रीमती चन्द्रमणि था। उनका नैहर 'मराठी मायापुर' नामक ग्राम मे था। वे सुस्वरूपा, सरल हृदया तथा देव-ब्राह्मणो के प्रति भक्ति परायणा थीं। किन्तु हृदय मे असीम श्रद्धा, स्नेह और प्रेम ही उनके विशेष उल्लेख-नीय गुण थे।[2]

श्री रामकृष्ण जी इसी दम्पत्ति की चौथी सन्तान थे। उनके माता-पिता मे जो महामानवीय गुण थे यदि उन गुणो का इनमे संक्रमण हुआ हो तो आश्चर्य क्या ? पिता की धर्म में दृढ निष्ठा और सत्य प्रति इतना अनुराग था कि अपनी ऐहिक

---

१. शारदानन्द, लीला प्रसंग, प्रथम भाग, पृ० १९।

२ वही पृष्ठ २५ २६

जीवन की समरसता को उन्होंने मध्यम वर्ग मे होते हुए भी तिलांजलि दे दी। जिस ग्राम में उनके पूर्वज रहते थे वहाँ जमीदारों का पूर्ण आतंक था। झूठी गवाही देने से विमुख होने पर ही जमीदार ने उनके ग्राम त्याग देने के लिए बाध्य किया। उनको 'देरे' ग्राम तथा पूर्वजो की सम्पत्ति अवश्य त्यागनी पडी परन्तु यह घटना उनको धर्म मार्ग से विचलित न कर सकी। 'देरे' को छोडकर 'कामारपुकुर' मे उनको एक कुटिया मिली। धर्म से सिंचित त्याग से सेवित दिव्याचरण से मण्डित उसी दरिद्रता की कुटिया में पीडित मानवता को कर्मठ अद्वैत का सन्देश सुनाने के लिए १७ फरवरी सन् १८३६ ई० को विचित्रताओ से भरा हुआ यह महापुरुष हँस पड़ा।

'देरे' ग्राम से स्थानान्तरित परिवार, कामारपुकुर मे वानप्रस्थावलम्बियो की तरह अपना दिन बिताने लगा। इस घटना से क्षुदिराम जी के जीवन मे धर्म और भी तीव्रतर हो गया। वे सासारिक कष्टो से विचलित न होकर केवल धर्म का ही दृढतापूर्वक अवलम्बन कर आनन्द से दिन बिताने लगे। ईश्वर के प्रति आत्मसमर्पण की भावना अद्वितीय थी। अनाभाव मे पत्नी से कहते—"इसमे घबराने की क्या बात है? यदि श्री रघुवीर को ही आज उपवास करना है तो हम लोग भी उनके साथ उपवास करेगे।[1] अपने साधु स्वभाव से ही वे पड़ोसियो की श्रद्धा के पात्र थे।

स्नेह तथा सरलता की मूर्ति श्रीमती चन्द्र देवी भी अपनी दया तथा प्रेमपूर्ण व्यवहार से ग्रामवासियो तथा पडोसियो की सहायिका थी। दुःख और दारिद्रय के होते हुए भी भिखारियों के लिए उनके घर का द्वार सदैव खुला रहता था।

श्री क्षुदिराम की बहिन तथा भाइयो का भी जीवन सुखमय तथा सामजस्य-पूर्ण था। उनकी बहिन का विवाह भागवत वन्द्योपाध्याय के साथ हुआ था। उनको रामचान्द नामक पुत्र तथा हेमागनी नामक कन्या हुयी थी। हेमागनी का विवाह श्री क्षुदिराम ने ही 'देरे' ग्राम मे जब रहते थे, तभी 'सीहड़' ग्राम मे श्री कृष्णचन्द्र मुखोपाध्याय के साथ किया था। व भी चार सन्तानो की जननी बनी थी। श्री क्षुदिराम के दो भाई और थे जिनका नाम निधिराम तथा बनाईराम था। निधिराम की संतानों का विवरण नही मिलता। परन्तु बनाईराम के दो पुत्र रामतारक उर्फ हलधारी तथा कालिदास थे। बनाईराम बड़े भावुक तथा भक्तिमान थे। श्री क्षुदिराम के प्रथम पुत्र रामकुमार जी अब तक सोलह वर्ष के थे

---

१ वही, पृष्ठ २०।

और कन्या कात्यायनी ग्यारह वर्ष की। इन दोनों का विवाह करके वे निश्चिन्त से गए। इस समय रामकुमार जी स्मृति शास्त्र का अध्ययन कर रहे थे। अध्ययन समाप्त कर वे घर की आर्थिक स्थिति देखने में लग गए। आर्थिक स्थिति कुछ ठीक होने से तथा रामकुमार जी के गृह-कार्य को संभाल लेने पर क्षुदिराम जी को निश्चिन्तता मिली। और वे रामेश्वर के दर्शन के लिए पैदल चल पड़े। रामेश्वर से लौटने के बाद बहुत दिनों के पश्चात् चन्द्रा देवी के गर्भ से पुत्र रत्न की उत्पत्ति हुई। इसका नाम रामेश्वर रखा। आठ वर्ष तक इस परिवार का जीवन पूर्ववत् चलता रहा। रामकुमार जी शान्ति, स्वस्त्ययन आदि क्रिया कर्मों द्वारा धन का अर्जन करने लगे थे। कहा जाता है कि इस क्रिया द्वारा उनको अलौकिक शान्ति प्राप्त हुई थी। वे ज्योतिष शास्त्र में भी पारंगत थे। इससे उनकी पर्याप्त प्रसिद्धि थी। रोगों को ठीक करना और भविष्यवाणियाँ करना उनके कार्य की विशेषता थी। उनकी पत्नी के आते ही परिवार में सुख-समृद्धि हुई। यह नई विशेषता प्रकट हुई। दीर्घ काल तक पत्नी गर्भवती न हुई परन्तु पैंतीस वर्ष की आयु में उनकी पत्नी को प्रथम तथा अन्तिम गर्भ संचार हुआ और अक्षय नाम का पुत्र उत्पन्न कर छत्तीस वर्ष की आयु में उनका स्वर्गवास हो गया।[1]

इस परिवार पर दृष्टिपात करने से यही स्पष्ट होता है कि स्त्री, पुरुष सभी के अन्दर एक विशेषता विद्यमान थी। पर्यालोचना करने पर पता चलता है कि आध्यात्मिक सूक्ष्म शक्तियों पर अधिकार होने के फलस्वरूप उनमें प्रत्येक में उक्त विशेषता का उद्भव हुआ था। श्री क्षुदिराम तथा उनकी धर्म पत्नी में उस प्रकार की विशेषता असाधारण रूप से प्रकटित होने के कारण सम्भवतः उनकी सन्तान-सन्ततियों में भी उसका संचार हुआ था।[2]

श्री रामकृष्ण के जीवन में जनक-जननी के इन गुणों का तो सहज ही सचरण देखा गया। "बड़े होकर बालक ने आजीवन इस बात को हृदय से स्मरण तथा स्वीकार किया है। दक्षिणेश्वर में हमसे (स्वामी शारदानन्द) कही हुई उनकी निम्नलिखित बातों से इसकी यथार्थता का अनुभव किया जा सकता है" मेरी माता सरलता की मूर्ति थी। संसार का मामूली-मामूली बातें वह नहीं समझती थी रुपए-पैसे गिनना तक नहीं जानती थी। किससे क्या छिपाना चाहिए, यह विदित न होने के कारण अपने पेट की बातें सबसे कह बैठती थी। इसलिए लोग उन्हें "भोली" कहा करते थे। सब को भोजन कराना उनके लिए अत्यन्त प्रिय था।

१. वही, पृष्ठ, ३०–३८।
२ वही पृष्ठ ३८।

मेरे पिता ने शूद्रों से दान कभी नहीं लिया, अधिकांश समय में वे पूजन, दिन में जप, ध्यानादि किया करते थे। प्रतिदिन सन्ध्या-वन्दन करते हुए जब वे 'आयाहि वर दे देवि'' इत्यादि गायत्री के आवाहन मन्त्रों का उच्चारण करते थे, उस समय उनका वक्षस्थल आरक्त हो उठता था और नेत्रों से अश्रु-धारा प्रवाहित होने लगती थी और जब पूजनादि से निवृत्त होने के बाद उन्हें अवकाश मिलता था उस समय वे सूई-धागा तथा पुष्प लेकर श्री रघुवीर के शृंगार के लिए माला बनाने में समय बिताया करते थे। झूठी गवाही देने के भय से उन्होंने अपनी पैतृक भूमि को त्याग दिया था। ग्रामवासी उन्हें ऋषि के समान तथा भक्ति की दृष्टि से देखते थे।[1]

जन्म :—हम देख चुके[2] है कि श्री रामकृष्ण का जन्म रहस्यमय ही था। परन्तु बौद्धिक दृष्टिकोण से देखने वाला वैज्ञानिक मानव, इसका कितनी मात्रा में अनुमोदन करना चाहेगा, यह विचारणीय है। हमारी समझ में ऐसे विषयों का निर्णय पक्षपात रहित विचारकों द्वारा ही सम्भव जान पडता है। तुलनात्मक रूप में अन्य धार्मिक महापुरुषों के प्रमाण तो उपस्थित ही हैं, उनको ग्रहण करने की शक्ति, निरपेक्ष दृष्टि तथा गहन सूझ द्वारा ही सम्भव है। यदि शास्त्रीय कथनों और महापुरुषों के जीवन में प्राप्त इन आख्यायिकाओं को तर्क या युक्ति द्वारा ही समझना चाहे, तो इसका आधार स्पष्ट है। देखा जाता है कि महापुरुषों का जन्म ऐसे माता-पिता के यहाँ होता है, जिनका जीवन और चरित्र उन्नत में होता है। उनमें सद्गुणों की मात्रा अपरिमित मात्रा में होती है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रायोगिक रूप में भी वंश-परम्परा का सिद्धान्त इसी तथ्य की पुष्टि करता जान पडता है। और यह भी सत्य है कि बुद्ध, ईसा, मुहम्मद नानक, चैतन्य तथा रामकृष्ण के माता-पिता विशिष्ट सद्गुणों से सम्पन्न मानव थे। यदि इनके माता-पिता को देखा जाय तो इनके जन्म के समय सामान्य मानव की अपेक्षा उच्च स्तर पर अवस्थित थे। उनका सामाजिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक जीवन उच्चकोटि का ही था। वे चाहे निर्धन हो रहे हों तो भी उनका मानव जीवन दिव्य था। यहा प्रश्न आता है कि बिना किसी प्रत्यक्ष के विश्वास सरलता से नहीं होता। यह तो अवश्य है कि अलौकिक वस्तुओं से विश्वास सहज नही होता, परन्तु बुद्धि को आधार बनाकर धैर्य सहित पक्ष तथा विपक्ष के प्रमाणों को लेकर किसी विषय की संगति निर्धारित की जा सकती है। इन रहस्यवादियों

१. ली० प्र०, भाग १, पृष्ठ ६६।

२. अध्याय, ३।

के जीवन को भी यदि उन्मुक्त भाव से देखा जाय तो निःसन्देह रूप मे प्रमाणों के आधार पर हम इनका अनुमोदन करने लगेंगे।

शिक्षा—उक्त रहस्यवादियो की शैक्षिक उपलब्धियाँ भी अद्भुत रही है। इसके विषय मे तीसरे अध्याय मे देखा जा चुका है। श्री रामकृष्ण की शिक्षा उच्चकोटि की नही थी। उन्होंने किसी विश्वविद्यालय की शिक्षा नहीं प्राप्त की थी। इसका अर्थ यह नहीं कि वे बौद्धिक रूप में अक्षम थे। ईसा, मुहम्मद तथा गुरु नानक की भांति ही इनकी भी शिक्षा लौकिक नही रही। बचपन मे पाठशाला जाते थे। स्वल्प काल मे ही वे सामान्य रूप से पढ़ने लिखने लगे, परन्तु गणित से घृणा थी। यह भी एक विशिष्ट बात पायी जाती है कि वे बचपन से ही मेधा तथा प्रतिभा के धनी थे। पिता के साथ देवी-देवताओ की कथा को एक बार ही सुनकर अधिकांश रूप मे कंठस्थ कर लिया करते थे। इनकी अनुकरण तथा उद्‌भाविनी शक्ति भी दिनो-दिन बढ़ने लगी। कुम्हारो को देवी-देवताओ की मूर्ति का निर्माण करते हुए देखकर मूर्ति बनाना, चित्रकारो से मिलकर उसी प्रकार का चित्र बनाना, पुराणो की कथा, नाटक और उपाख्यानों को सीखना, समझना आदि भी विद्या का क्षेत्र उनके लिए था। इस समय तक उनके अन्दर धार्मिक विचारों का उद्रेक हो उठा था। उनकी सूक्ष्म दृष्टि ने संसार की अनित्यता को देखना प्रारम्भ किया। पाठशाला जाते हुए भी विशेषकर रामायण, महाभारतादि ग्रन्थों का पाठ भक्ति के साथ करते थे, जिसे सुनकर लोग मुग्ध हो जाया करते थे। उनकी धार्मिक अभिरुचि तीव्रतर होती गई जिससे बीच-बीच मे भाव समाधि होती रही? लोगों ने वायु रोग समझ कर पाठशाले का आना-जाना उनकी इच्छा पर छोड दिया। फलतः उनकी पाठशाला की शिक्षा अग्रसर न हो सकी।

इन्होंने चौदहवें वर्ष मे यह अभिमत प्रकट किया कि 'अर्थकरी' विद्या की आवश्यकता नहीं है।[1] इस समय तक उनकी भक्ति तथा भावुकता प्रस्फुटित हो चुकी थी। बड़े भाई ने कलकत्ते बुलाकर भी पढने के लिए बाध्य किया। परन्तु इन्होंने अर्थकरी विद्या प्राप्त करने से मुख मोड लिया। संकीर्तन, भजन, नाटक, अभिनय, साधुओ से सत्संग, यही इस महापुरुष की शिक्षा थी। क्योंकि बालक को यह दृढ विश्वास हो गया कि सब प्रकार का लौकिक शिक्षा का ध्येय अधिकाधिक सम्पत्ति संचय करने के अतिरिक्त और कुछ नही है और उसने इस प्रकार की शिक्षा

---

१. शारदानन्द, लीला प्रसंग, प्रथम भाग, पृष्ठ ६५, ६८, ८६—८८, १०३-१०४, १६५।

को छोड देने तथा अपने को केवल आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए तन-मन से लगा देने का निश्चय किया ।"[१]

शिक्षा प्राप्त करने के विषय मे उनके दृष्टि कोण को देखते हुए विचित्रता का ही अनुभव होता है। सामान्य जीवन मे हम देखते है कि व्यक्ति अधिक सम्पत्ति का अधिकारी होते हुए भी पहले से अधिक अतुल धनराशि की कामना करता है तथा उसके लिए विभिन्न कला या विद्या का अर्जन करता है। परन्तु श्री रामकृष्ण की आर्थिक स्थिति कितनी गिरी हुई थी, उसे देखकर भी उन्होंने 'अर्थकरी विद्या' की अवहेलना की तथा अपनी शक्ति को आध्यात्मिक क्षेत्र मे लगा दिया। यद्यपि अर्थ को ठुकराने वाले कितने देश-भक्तों या सामाजिक कार्य-कर्त्ताओं के उदाहरण उपस्थित है, परन्तु उसके पीछे उनका कोई अहं से पूर्ण लक्ष्य होता है। उनमे वर्तमान आत्मश्लाघा को हम अस्वीकार नही कर सकते। श्री रामकृष्ण की अर्थ के प्रति की गई अवहेलना मे हम ऐसे दृष्टिकोण का आरोपण नही कर सकते। अत. यह सिद्ध है कि श्री रामकृष्ण की विपन्न आर्थिक अवस्था की अवहेलना विचित्रता ही है।

श्री रामकृष्ण जी का प्रारम्भिक जीवन साधारण बालक से भिन्न था। उनका बालचापल्य, हठी स्वभाव, पाठशाला न जाकर साथियों के साथ गाँव मे बाहर खेलने में रत रहना, या बिना किसी से कहे यात्रा नाटक या कीर्तन आदि में चला जाना, मिथ्या का सहारा लेकर अपने लिए हुए कर्मो को न छिपाना दूसरो के अनिष्ट में प्रवृत्त न होना, किसी साधारण बात का भी बिना कारण जाने शान्त न होना आदि गुण इनके प्रारम्भिक जीवन मे पाए जाते है।[२]

इनकी रुचि एवं व्यसन भी साधारण बालक से भिन्न थे। गाँव के बाहर साधुओ के स्थानों पर जाकर साधुओ से कथा सुनना, उनकी सेवा करना, भजन गाना और सुनना और उसमे लीन रहना यही उनका व्यसन था। अध्ययन मे रुचि न लेकर मूर्ति-निर्माण, चित्रांकन तथा बालको के साथ नाटक और अभिनय करने मे रुचि लेना उनके लिए स्वाभाविक था। साधु संग से उनको तीर्थो के विषय में, संतों के जीवन के बारे मे तथा धर्म मे विशेष श्रद्धा उत्पन्न होती गई। आगे चलकर यही व्यसन उनके जीवन का अन्तिम ध्येय बन गया।[३]

---

१. विवेकानन्द, मेरे गुरुदेव, पृष्ठ १६।

२. शारदानन्द, लीला प्रसंग, प्रथम भाग, पृष्ठ, ६६-६८।

३. द कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया, वाल्यूम ४, सम्पादक—हरिदास भट्टाचार्य पृष्ठ ६५६

व्यक्तित्व के मुख्य गुण

इनके व्यक्तित्व में जो विशेष गुण थे वे प्रायः सामान्य व्यक्तियों में दुर्लभ होते हैं। व्यक्तित्व-विकास में तो सामान्य विकसित हो ही जाते है, परन्तु इस प्रकार के अद्भुत गुणों का बचपन से ही दृष्टिगत होना विचित्र है। उनकी भावी उपलब्धियों में इनके गुणों का सहयोग रहा है। उनकी अपूर्व स्मृति तथा मेधा, साहस, सौन्दर्यात्मिक रसबोध, संगीतात्मकता, रचनात्मकता, मिलन शक्ति, चिन्तनशीलता और भावतन्मयता में असाधारणता परिलक्षित होती है। बचपन में ही निर्जन तथा भयंकर स्थानों में जाना तथा जटाजूट धारी नागा साधुओं को देखकर अन्य बालकों की भांति न भागना, पण्डितों के समाज में वाद-विवाद करना, आदि कार्यों से उनके साहस का परिचय मिलता है। माता-पिता की गोद में बैठे ही बैठे सम्पूर्ण कथा तथा उपाख्यानों को सुनते ही अधिकांश रूप में स्मरण कर लेना तथा देखे हुए नाटक को ठीक वैसे ही बालकों के साथ अभिनीत करना, उनकी स्मृति तथा मेधा का परिचय देता है। अभिनय और अनुकरण के द्वारा लोगों को हँसाकर लोट-पोट कर देने के गुण से उनकी परिहास प्रियता का बोध होता है। प्रकृति के सौन्दर्यात्मिक पक्षों का हृदय में उद्रेक होने मात्र से भावाभिभूत हो जाना, आकाश में हरे-हरे धान के पौधों के बीच चलते-चलते, बगुल पक्तियों को देखकर भाव समाधि में निमग्न हो जाना, उनके सौन्दर्यात्मिक रसबोध का परिचायक है। कुम्हारों के द्वारा देवी-देवताओं की बनी हुई मूर्तियों को देखकर अपनी उद्भाविनी तथा अनुकरण शक्ति से मूर्ति—निर्माण करना, चित्रकारों से मिलकर उसी प्रकार का चित्र तैयार करना, सर्वमंगला तथा उसके पतिदेव का चित्र बनाना उनकी चित्रकारिता के उदाहरण हैं। स्वामी शारदानन्द जी का कथन है कि "देव-देवियों की मूर्ति का निर्माण करने में गदाधर विशेष दक्ष हो गया था। उसका धार्मिक स्वभाव उन मूर्तियों का निर्माण कर अपने साथियों को लेकर उनका यथाविधि पूजन करने के निमित्त बहुधा उसे प्रेरित करता था।" उनकी संगीतात्मकता तथा गायन की क्षमता अद्वितीय थी। कवि हृदय उनको प्राप्त था। बचपन से ही कीर्तन भजन किया करते थे। साधना में भी राम प्रसाद,कमलाकान्त आदि भक्तों के द्वारा रचित पदों को बड़ी तन्मयता से गाते थे। "संकीर्तन के समय उसकी जैसी भावोन्मत्तता, उसकी भाँति-भाँति नवीन-नवीन भावपूर्ण पदों की योजना करने की शक्ति एवं उसके सदृश मधुर कण्ठ स्वर तथा रमणीय नृत्य और किसी के लिए सम्भव नहीं था। इतना ही नहीं हास्य कौतुक में भी उसकी बराबरी कोई नहीं कर पाता था। उसकी नर-नारियों के सब प्रकार के आचरणों का अनुकरण तथा

उसके सदृश नवीन-नवीन कहानियों और संगीतों को अपूर्व रूप से यथास्थान संयोजन कर सब का मनोरंजन करना दूसरों की शक्ति से परे था।" श्री रामकृष्ण में उपर्युक्त व्यक्तित्व के गुण दिव्य शक्ति के ही परिचायक हैं, क्योंकि इस प्रकार की विशेषताएं सामान्यतया तो नहीं प्राप्त होतीं। "यह देखा जाता है कि विश्वास, पवित्रता तथा स्वार्थ रहित उपादानों से मानो स्वभावतः उनके मन का निर्माण हुआ और संसार के विभिन्न घात-प्रतिघातों से उनमें स्मृति, बुद्धि, प्रतिज्ञा, साहस, हास-परिहास, प्रेम या करुणा तरंग रूप में उदित हो रही है।"[1]

छः वर्ष की अवस्था में प्रथम समाधि

भाव राज्य में विचरण करने वाले श्रीरामकृष्ण की चिन्तनशीलता तथा भावुकता ने जन्म के छः वर्ष पश्चात् ही अद्भुत शक्ति तथा गुण का परिचय दिया। लीला प्रसंग के रचयिता का कहना है कि "ईश्वर कृपा से जन्म से ही गदाधर का शरीर स्वस्थ तथा मजबूत था और जन्म के बाद अब तक वह कभी विशेष बीमार नहीं हुआ था। इसलिए गगन-चर पक्षी की तरह बालक अपूर्व स्वतन्त्रता तथा मानसिक प्रसन्नता से दिन बिताया करता था। शरीर के बारे में किसी प्रकार का ध्यान न देना ही प्रसिद्ध चिकित्सक वर्ग के मतानुसार पूर्ण स्वस्थता का लक्षण माना जाता है। बालक जन्म से ही उस प्रकार का स्वास्थ्य सुख अनुभव कर रहा था। इतना ही नहीं जब उसका स्वाभाविक एकाग्रचित्त किसी विशेष विषय में निर्विष्ट होता था तब वह शरीर की सुध-बुध भूल कर पूर्ण रूप से भावाविष्ट हो जाता था। शुद्ध पवन में लहराते हुए हरे-भरे खेत, नदियों के विरामहीन प्रवाह, पक्षियों का कलरव एवं सर्वाधिक रूप से सुनील गगन तथा उसके मध्यवर्ती प्रतिक्षण परिवर्तनशील मेघपुंज के माया राज्य आदि जब जो दृश्य अपनी रहस्यमय प्रतिमूर्ति की महिमा को उसके सम्मुख विस्तार कर उसे आकृष्ट करते थे, तभी वह बालक आत्म विस्मृत होकर भाव राज्य के किसी सुदूर प्रदेश में पहुँच जाता था"।[2]

इस विशेषता का परिचय आकाश में उड़ते हुए बगुलों की पंक्तियों को देखकर भाव समाधि में आ जाने से मिलता है। इसके विषय में स्वयं उनकी उक्ति

१. शारदानन्द, लीला प्रसंग, प्रथम भाग, पृष्ठ ६८–७०, ९५, १०२–१०६ १६१–१६३, १९९–२००, २२०।

२ वही पृष्ठ, ७१।

है—"एकदिन प्रातःकाल उसी प्रकार छोटी टोकरी में "मुडमुड़ी" चबाता हुआ जगल मे खेत की मेड़ पर होकर जा रहा था। आसमान पर सुन्दर काली घटा उठी थी—उसे देख रहा था तथा "मुड़मुडी" भी चबाता जा रहा था। कुछ ही समय बाद प्राय. पूरा आसमान बादल मे छा गया। ठीक उसी समय दूध की भाँति सफेद बगुलो का एक झुण्ड उन काले बादलों के नीचे से उड़कर जाने लगा। वह एक अनूठा ही दृश्य था। उसे देखता हुआ अपूर्व रूप से तन्मय हो जाने के कारण मेरी ऐसी अवस्था हुई कि मुझे कुछ भी होश न रहा। मैं गिर पडा, मेड के चारो ओर "मुडमुडी" बिखर गई। कब तक उस हालत में वहाँ पडा रहा, मैं कह नही सकता, लोगों ने जब देखा तब मुझे उठाकर घर ले आये। उसी दिन सर्वप्रथम भाव समाधि के कारण मै संज्ञाहीन हुआ था।"[१]

इस घटना की रहस्यमयता वास्तव में साधारण ही थी। इसको मूर्छा रोग तथा भूत-प्रेत की बाधा समझ कर निवारण करने के लिए माता-पिता ने प्रयत्न भी किये परन्तु बालक गदाधर ने उनसे बारम्बार यही कहा कि एक अभिनव तथा अदृष्टपूर्व भाव मे उसका मन लीन हो जाने के कारण ही उसकी ऐसी अवस्था हुई थी एव बाहर अन्य रूप से प्रतीत होने पर भी उसके अन्दर चेतना तथा एक अपूर्व आनन्दानुभूति विद्यमान थी।[२]

पर क्या सामान्य मानस को इस कथन मे विश्वास हो सकता है। क्या एक छोटे से बालक के अन्दर सौन्दर्यानुभूति की इतनी शक्ति और उसके विश्लेपण करने की उसमे इतनी क्षमता मानी जा सकती है। उत्तर यही हो सकता है कि सामान्य बालक के लिए यह सब कुछ भी सम्भव नही है। तब निष्कर्ष यही निकलता है कि श्री रामकृष्ण जी का जन्म, शिक्षा, प्रारम्भिक जीवन, रुचि व व्यसन, व्यक्तित्व के मुख्य गुण आदि सभी असाधारण तथा असामान्य है। इसलिए इन सामान्य व्यवहारो रहस्यों तथा विचित्रताओं का मनोवैज्ञानिक रूप से विश्लेषण एव पर्यालोचना आवश्यक है, जिससे यह देखा जा सकता है कि क्या वास्तव मे उनकी अनुभूतियाँ और व्यवहारो में कोई विकृतावस्था थी या वे असामान्य होते हुए भी समायोजित आध्यात्मिक जीवन से थे।

---

१. वही, पृ० १५१।

२ वही पृष्ठ ७२।

मनोवैज्ञानिक पर्यालोचना

सामान्य मनोविज्ञान की दृष्टि से मनोविकृतियों के अध्ययन के लिए किसी व्यक्ति की वंश-परम्परा, पारिवारिक इतिहास, माता-पिता तथा वातावरण का अध्ययन महत्वपूर्ण है। यद्यपि आधुनिक मनोविज्ञान में मनोविकृति विज्ञान के लिए वंशानुक्रम रहस्यपूर्ण ही है। किसी ने इसके महत्त्व को अधिक रूप में आँका है और किसी ने इसे नही माना है। फिर भी समीक्षा में यही ज्ञात होता है कि कुछ अंशो में दूषित वंशानुक्रम भी मनोविकृतियों के लिए उत्तरदायी है। मानसिक व्याधियों के वंशानुगत कारण का प्रमाण पारिवारिक अनुसन्धानों पर निर्भर है। इसमें यमजों का अध्ययन भी महत्वपूर्ण है। पारिवारिक अनुसन्धान में यह देखा जाता है कि उस परिवार में या निकट सम्बन्धियों में कितने लोग विकृतावस्था में रहे है। यदि वंशानुक्रम ही कारण होगा तो परिवार के अतिरिक्त दूर के सम्बन्ध में भी कोई मानसिक रोगों से पीडित मिलेगा।

ऊपर श्री रामकृष्ण की वंश-परम्परा का विवरण देते हुए देखा गया है कि उनके परिवार में किसी ऐसे व्यक्ति का पता नही मिलता जो मनोविकृतियों से पीड़ित रहा हो या समाज विरोधी तथा अपराधी रहा हो। माता-पिता में उच्चकोटि के मानवीय गुण थे और उन गुणो के कारण उनका समाज तथा पड़ोस में समादर होता था और उनका जीवन सुव्यवस्थित तथा सन्तोषप्रदपूर्ण रहा। यदि दूर के सम्बन्धों में भी देखा जाय तो ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता जो इसके अन्तर्गत आता हो। श्री क्षुदिराम जी की बहिन तथा उनकी सन्तानों ने अपने जीवन को सुव्यवस्थित रूप मे व्यतीत किया। उनके भाइयो का भी जीवन सात्विक तथा सहज और स्वाभाविक ही रहा है। उनके पुत्रो मे सर्वश्रेष्ठ श्री रामकुमार जी एक विद्वान् व्यक्ति थे जिन्होंने अपने माता-पिता की वृद्धावस्था मे दायित्वपूर्ण जीवन का भार लेकर सबका भरण-पोषण किया। अपनी माता तथा पिता का परिचय भी रामकृष्ण देव जी ने स्वयं दिया है। जिससे यही ज्ञात होता है कि एक सुसंगठित एवं सुसमायोजित मानव मे जो गुण होने चाहिए वे इनमें विद्यमान थे। उनकी बहिनों तथा भाइयों के भी जीवन मे ऐसी कोई विलक्षणता नही प्राप्त होती जो मनोविकृति के अन्तर्गत आती हो। कहा जाता है कि सुसमायोजित जीवन ही व्यक्तित्व का सच्चा संगठन है। अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए व्यक्ति के प्रभावकारी

प्रयत्न और वातावरण में अनुकूलता ही समायोजन कहलाता है।[1] अच्छा समायोजन अच्छे मानसिक स्वास्थ्य का लक्षण भी है। इसकी कई विशेषताएँ बतलायी जा सकती है :—मानसिक रूप में स्वस्थ व्यक्ति अपने का यथार्थ मूल्यांकन कर सकता है, आत्म संयमी होता है, उसका आहार-विहार संयत होगा। शारीरिक स्वास्थ्य अच्छा तथा व्यवसाय में प्रियता भी होगी। वह आत्म-वचना से परे होगा। प्रसन्नता चाहे, जिस परिस्थिति में वह हो, उसका प्रधान गुण होगा। ऐसे व्यक्ति की चाहे वह जिस सामाजिक स्तर पर होगा, प्रतिष्ठा होगी। प्रगतिशीलता तथा निष्पक्षता उसके जीवन को ज्योतित करती रहती है। वास्तव में यही व्यक्तित्व का सच्चा संगठन है। व्यक्तित्व का संगठन तो इसी में है कि व्यक्ति किस प्रकार अपने संवेगों पर नियन्त्रण रखे और सम्पूर्ण मनस् की विभिन्न क्रियाओं—इच्छा, क्रिया तथा ज्ञान को संगठित एवं अनुकूल रखे। समायोजन एक प्रकार से इच्छा, क्रिया, ज्ञान का समन्वय ही है। इनके समन्वय में ही अनुकूलता प्राप्त होती है। जब हम पाशविक संवेगों तथा इच्छाओं से ऊपर उठकर दैवी या मानवीय धरातल पर आते है तभी हमारा जीवन सुसंगठित तथा सुव्यवस्थित होता है। स्वार्थ, परार्थ में, क्रोध, दया में, भय निर्भीकता में परिवर्तित हो जाता है। क्योकि उनको सच्चा मार्ग-दर्शन मिलता है। इसी प्रकार का मार्ग-दर्शन ही सुसंगठित व्यक्तित्व है। यहाँ कोई मानसिक विगति नहीं, क्षोभ नहीं, अभाव और मानसिक उच्छेदन नहीं।[2]

श्री रामकृष्ण जी के परिवार में उपरोक्त संगठित व्यक्तित्व के सभी गुण सभी व्यक्तियों में वर्तमान ज्ञात होते है। कोई अनुत्तरदायी नहीं था। न तो सांसारिक क्षणिक वस्तुओं के संघर्ष के कारण उद्विग्न ही होने वाला था। सन्तोष की परिवार मे चरम सीमा थी। कहना यह होगा कि उनका जीवन आध्यात्मिक था। संघर्षों मे भी श्री क्षुदिराम और श्रीमती चन्द्रमणि ने धर्म का साथ न छोड़ा। धार्मिक परिवार होने के नाते ही तो कहा जा सकता है कि वह परिवार सुसमायोजित परिवार था क्योंकि आध्यात्मिक जीवन, अनुकूलन, एकता तथा संगठन का जीवन होता है।[3] असामान्य मनोविज्ञान ने व्यक्तित्व विघटन के लिए संक्षोभ तथा दबाव को भी मुख्य माना है। परन्तु सम्पूर्ण सम्पत्ति को 'देरे' में छोड़ कर 'कामारपुकुर' जाकर बसना क्या संक्षोभ तथा

---

१. जेम्स सी० कोलमैन, अबनार्मल साइकॉलोजी ऐण्ड माडर्न लाइफ, पृष्ठ ६४०।
२. अखिलानन्द, मैण्टल हेल्थ ऐण्ड हिन्दू साइकॉलोजी, पृष्ठ १६६।
३ एडथर शैफिल्ड ब्राइटमैन, द स्प्रिचुअल लाइफ, पृष्ठ १११।

दबाव का उदाहरण नहीं है। इस अवस्था में भी परिवार का विघटन न हो सका, देखने से यही प्रतीत होता है कि उनका लक्ष्य संसार की ऐहिक वस्तुओं को ही प्राप्त करना नहीं था। यदि यही होता तो झूठी गवाही देकर जमींदार के विश्वासपात्र बनते और जीवन आपत्तियों से रिक्त रहता। अन्नाभाव, विपत्ति तथा दैन्य में भी विचलित न होना पागलपन तो नहीं कहा जा सकता और न तो सामान्य व्यक्ति के ही अधिकार की बात है। यह परिवार सामान्य की परिधि से दूर, तथा-कथित असामान्य से भिन्न अति सामान्य कहा जा सकता है। यह है सत्य-निष्ठा। यही इस परिवार की विशेषता थी। रचनात्मक तत्त्वों के आधार पर शारीरिक स्वास्थ्य पर दृष्टिपात करते हुए यदि देखा जाय तो परिवार मे ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं मिलता जो रोगी या क्षीण शरीर का रहा हो और जिसमें किसी प्रकार की मानसिक विकृति उत्पन्न हुई हो। स्वयं क्षुदिराम स्वस्थ गौर और पुष्ट डील के व्यक्ति थे। कोई भी वंशगत बीमारीपरिवार में नहीं देखी जाती।

सामाजिक वातावरण की दृष्टि से यदि माता-पिता का सामाजिक सम्बन्ध उचित नहीं रहता तो पुत्र में असुरक्षा की भावना उत्पन्न हो जाती है। प्रारम्भिक जीवन मे बालक इस दूषित वातावरण से दुखी तथा त्रस्त रहता है और इसका प्रभाव उसके वयस्क जीवन तक बना रहता है। प्रेम के अभाव में भी बालक में प्रतिपूर्ति तथा प्रतिशोध की भावना उत्पन्न हो जाती है। इसके विपरीत अधिक लाड-प्यार से भी बालक में स्नायुविकृति तथा चारित्रिक दोष उत्पन्न हो सकते है। इसके अतिरिक्त घर के बाहर की परिस्थितियाँ भी मानसिक रोगो में कारण बन सकती है।

उपर्युक्त आधार पर यदि हम श्री रामकृष्ण जी के पारिवारिक वातावरण को देखते है तो उनके परिवार का वातावरण सौहार्द्रपूर्ण, सन्तोषजनक, माता-पिता में स्वाभाविक आदर्श प्रेम तथा वाह्य रूप से भी प्रशसित तथा सराहनीय ही पाया जाता है। दरिद्रता में भी परिवार मे कलह न हो, प्रेम का पारावार प्रवाहित होता हो, यह एक आश्चर्यजनक बात है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उनके परिवार का जीवन अत्यन्त धार्मिक था। पिता की ईश्वर-भक्ति, दानशीलता, नम्रता और माता की कोमलता तथा सद्‌व्यवहार चरम-सीमा पर था।

मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के अनुसार यह देखा जाता है कि बहुधा जिस घर के माता-पिता किसी कार्य पर अधिक बल देते है, पुत्र उसका प्रतिरोध करता

कि वंश-परम्परा का गुण अधिक है और वातावरण का प्रभाव कम है। आधु है और उसके विपरीत ही चलता है। श्री रामकृष्ण जी का जन्म धार्मिक परिवार में हुआ था। यही नहीं उनके घर के बाहर का वातावरण भी वही था परन्तु उन्होंने धर्म की अवहेलना नहीं की। बहुधा होता यही है कि आस्तिकता पर बहुत अधिक बल देने वाले परिवार में अधिकतर बालक नास्तिक विचार वाले हो जाते है। परन्तु यहाँ विपरीत उदाहरण मिलता है। यहाँ एडलर की यह उक्ति चरितार्थ नहीं ज्ञात होती कि "प्रायः ऐसा होता है कि यदि पिता बहुत सफल अथवा गुणवान व्यक्ति हो तो बच्चे यह अनुभव करने लगते हैं कि वे उसकी सफलताओं की कभी बराबरी नहीं कर सकेंगे। वे निरुत्साहित हो जाते है, जीवन में उनकी दिलचस्पी पर अकुश लग जाता है। इसी कारण सुविख्यात पुरुषों की सन्तानें उनके माता-पिता शेष समाज के लिए कभी-कभी निराशाजनक निकलती है। इन सन्तानों को कोई ऐसा तरीका नहीं सूझता जिससे वे अपने माता-पिता से आगे बढ़ सके।[1]

एडलर के उपरोक्त कथन में 'प्राय' 'कभी-कभी' शब्द से यह भी ज्ञात होता है कि मनोविज्ञान का यह नियम सभी रूपों में सामान्यतः नहीं प्रयुक्त हो सकता। श्री रामकृष्ण के जीवन में यह अपवाद ठीक ही बैठता है। इसका क्या कारण है। इसका उत्तर एडलर ने कहीं नहीं दिया है। इसकी व्याख्या एक व्यापक नियम से की जा सकती है जिसका उल्लेख हम आगे करेंगे।

मनोवैज्ञानिकों ने व्यक्तित्व की व्याख्या वंश-परम्परा तथा वातावरण के आधार पर की है। यही दोनों तत्त्व व्यक्तित्व के मुख्य स्रोत माने जाते है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक आज यह स्वीकार करने को तैयार नहीं है कि व्यक्तित्व ईश्वरीय देन है। इस प्रकार का कथन तो किसी जटिल समस्या के लिए एक सरल समाधानमात्र है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से तो यह सन्तोषप्रद नहीं है। आज का मनोवैज्ञानिक यह भी नहीं स्वीकार करता कि व्यक्तित्व के निर्माण में वंश-परम्परा का अधिक महत्त्व है और वातावरण कम। यह परिमाणात्मक विभेद व्यक्तित्व की पूरी व्याख्या नहीं करता। गुणात्मक रूप में यह स्वीकार किया जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति में जो अपने गुण है वे एक को दूसरे से अलग करते है। अब हम यह नहीं कह सकते कि किसी का व्यक्तित्व अधिक है किसी का कम। व्यक्तित्व का यह गुणात्मक स्वरूप इस तथ्य पर आधारित नहीं है

१. एल्फ्रेड एडलर, हमारे-जीवन का अर्थ, भाग ३, पृष्ठ ७३।
(व्हाट लाइफ शुड मीन टू यू का हिन्दी अनुवाद—अनुवादक श्री ओम् प्रकाश)

निक खोजों के आधार पर तो "व्यक्तित्व वंश-परम्परा तथा वातावरण की क्रिया-प्रतिक्रिया का फल है", यही स्वीकार किया जाता है। इसी आधार पर यह भी निर्णीत हुआ है कि मनुष्य की कुछ विशेषताएँ केवल वंश-परम्परा पर निर्भर हैं जैसे शारीरिक रचना और प्रतिक्रिया-प्रवृत्ति, कुछ केवल वातावरण द्वारा निर्धारित होती है तथा-लक्ष्य और सांवेगिक कलह और कुछ विशेषताएँ वंश-परम्परा तथा वातावरण दोनों से निश्चित होती हैं जैसे बुद्धि और उससे सम्बन्धित अन्य गुण।'

परन्तु श्री रामकृष्ण जैसे महापुरुषों के जीवन से उपरोक्त निर्धारित तत्त्व कुछ सिद्ध होते है कुछ नही। इन महापुरुषों के जो भी असाधारण गुण देखने में आते है उनकी व्याख्या केवल वंश-परम्परा या वातावरण से ही नही की जा सकती। श्री रामकृष्ण तथा बुद्ध के जन्म के समय उनके माता-पिता के विचित्र अनुभव, जन्म के पश्चात् उनका असाधारण प्रारम्भिक जीवन, शिक्षा तथा व्यक्तित्व के मुख्य गुणों को हमारे पास समझने के लिए क्या आधार है। छः वर्ष की ही अवस्था मे सौन्दर्यात्मिक दृश्य से अभिभूत होकर समाधिस्थ हो जाना और एक विशेष आनन्दानुभूति प्राप्त करने की स्थिति को कैसे समझा जा सकता है। साधारण बाल-जीवन आगे चलकर परिवार के अत्यन्त धार्मिक वातावरण के होने के कारण धर्मानुसरण तो कर सकता है परन्तु उसके विचित्र अनुभव आन्तरिक सूझ, ग्राह्य शक्ति, संवेदनशीलता, गायन, नृत्य, मूर्तिनिर्माण ऐसे विशिष्ट गुणों की क्षमता को कैसे समझा जा सकता है? उनकी तीव्र आध्यात्मिक झुकाव की प्रवहमान शक्ति को कैसे जाना जा सकता है? इसमे सन्देह नही कि आध्यात्मिकता से पूर्ण व्यक्ति की जितनी भी क्रियाएँ होती हैं वह उसके गुण, स्वभाव परिस्थिति, जिसमे वह उत्पन्न हुआ है और तत्कालीन समय के झुकाव पर निर्भर होती है। परन्तु आध्यात्मिक अनुभूति या साधना के अनुसरण और व्यक्तित्व में निहित विभिन्न शक्तियों के बीच अन्तर्द्वन्द्व मे सुसंगठन प्राप्त करने के प्रयास को "यह आवश्यक नही है कि परिस्थितियाँ प्रभावित करें।" श्री रामकृष्ण के जीवन मे लक्ष्य की ओर जो प्रगति देखते है और आन्तरिक शक्तियों के द्वंदों का समन्वय पाते है, वह एक आन्तरिक अभिप्रेरणा से ही सम्पन्न हुआ है। परन्तु यह आन्तरिक प्रेरणा किसी भी अर्थ में बाह्य प्रभावों से प्रभावित

१. जे० एफ० ब्राउन, द साइकोडानमिक्स ऑफ अबनार्मल बिहैवियर, पृ० १२-२१।

नहीं हुई थी। वह तो वर्ग के शब्दों में निर्बोध किया का जीवन था।[1] जहाँ तक उनकी धार्मिक रुचि का सम्बन्ध है वह तो कहा जा सकता है कि परिवार की परिस्थितियों से प्रभावित था परन्तु अन्य असाधारण गुणों को समझने के लिए हमारे पास कोई आधार क्या हो सकता है। यह विचारणीय है।

असामान्य मनोविज्ञान के पण्डितों ने ऐसे असाधारण तथा अस्वाभाविक गुणों से सम्पन्न महापुरुषों को जो वर्माचरण या आध्यात्मिक अनुभूतियों की ओर अग्रसर हुए है, उन्हे अधिकतर असामान्य या मनोविकृत कहा है। जब कि उनकी सामान्य असामान्य की धारणा ही अब तक सिद्ध नहीं हो पायी है। असाधारण व्यक्ति मनोविकृत भी हो, यह आवश्यक तो नही कहा जाना चाहिए क्योंकि अभी तक सामान्य और असामान्य के बीच कोई रेखा नही निश्चित की जा सकी है।[2] जो भी हो रहस्यवादियों के असाधारण व्यवहार तथा अनुभूतियों की व्याख्या असामान्य कह कर ही की जाती हैं परन्तु हम देखेंगे कि क्या उपर्युक्त प्रश्नों का समाधान सामान्य तथा असामान्य की धारणा से किया जा सकता है।

जब स्वयं सामान्य और असामान्य का निर्णय नही हो पाया है तब यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि उच्चकोटि के रहस्यवादी सामान्य की ही कोटि में आते हैं। मनोवैज्ञानिकों ने सामान्य और असामान्य के निर्णय के लिए कई प्रकार की कसौटियाँ निश्चित की हैं। असामान्य का शाब्दिक अर्थ होता है "सामान्य" से ऊपर या दूर। इस अर्थ से तो यही प्रकट होता है कि वह व्यक्ति जिसके व्यवहार में सामान्य के व्यवहार से भिन्नता है वह असामान्य है और यह भी अर्थ निकल सकता है कि कोई व्यक्ति सामान्य भी नही है। क्योंकिकिसी न किसी रूप मे प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे अर्थ में भिन्न होता है। फिर तो सामान्य की धारणा ही समाप्त हो जाती है। सांख्यिकी की कसौटी के आधार पर यदि हम कहते है कि बहुसख्यक से अलग होने वाला समूह असामान्य है तो पहली कठिनाई यह उपस्थित होती है कि सामान्य की धारणा निर्धारित ही नही है जिससे कि दूसरा समूह अलग हो सके। दूसरी कठिनाई यह है कि बेईमानदार पड़ोसी ईमानदारों की दृष्टि में सामान्य होगा और जो आज सामान्य माना जाता होगा, वह कल असामान्य होगा क्योंकि लोगों की मान्यताएँ, व्यवहार और आदर्श, समय के अनुसार बदलते रहते हैं। उसी प्रकार एक प्रतिभावान् उतना ही असामान्य होगा जितना कि मन्द बुद्धि। जब कि प्रतिभावान् के विषय में आधुनिक खोजों से यह सिद्ध किया जा चुका

१. आर० आर० दिवाकर, परमहंस श्री रामकृष्ण, पृष्ठ ७४–७५।

२ जेम्स सी० कोलमैन, एबनार्मल साइकोलोजी एण्ड माडर्न लाइफ, पृ० १४

है कि प्रतिभावान् पुरुष मानसिक रूप मे अस्वस्थ नही होते या असामान्य नही कहे जा सकते।[1]

व्यक्ति के जीवन की परिपक्वता भी एक कसौटी मानी जाती है, परन्तु इस कसौटी से सामान्य-असामान्य का निर्णय निर्धारित नही होता, क्योंकि इसमें सामान्य या असामान्य व्यवहार के मूल्यांकन का कोई आधार नहीं मिलता। इससे क्षमता का ज्ञान भले हो सकता है परन्तु सामान्य-असामान्य का ज्ञान सम्भव नही जान पडता।

समायोजनात्मक आधार पर यह कहा जा सकता है कि जो अपने सामाजिक वातावरण के साथ सतुलित एव व्यवस्थित सम्बन्ध बनाए रखने में सफल हो तथा सामाजिक प्रतिमानो के अनुरूप अपने व्यवहारों को समायोजित करने में समर्थ हो वह सामान्य की कोटि मे आता है। इसके विपरीत सिद्ध होने पर व्यक्ति असामान्य की श्रेणी में है।

इस आधार पर तो एक देश या जाति के निवासियों का सामाजिक प्रतिमान भिन्न होने के कारण दूसरे देश या जाति के लिए एक दूसरे का व्यवहार असामान्य ही कहा जा सकता है। यही नही असामान्यता के निदान मे इस दृष्टिकोण को आधार मान लेने पर अनेक कठिनाइयाँ आ सकती है। जैसे—किसी स्थान पर एक व्यक्ति को छोडकर यदि सभी व्यक्ति किसी पुरुष को मृत्यु दान देना चाहते हो तो क्या वे सामान्य की श्रेणी में गिने जाएँगे और एक व्यक्ति असामान्य माना जायगा ? क्या गुलामी की प्रथा को दूर करने वाला लिंकन असामान्य कहा जा सकता है ?

इस प्रकार किसी भी कसौटी के आधार पर सामान्य असामान्य का निर्धारण करना कठिन है। इसीलिए जे० एफ० ब्राउन ने कहा है कि असामान्य तथा सामान्य का विभेद "मात्रा" मे है न कि "प्रकार"[2] में। इसी आधार पर उसने

---

१. वही, पृष्ठ १४ तथा २१ पर उद्धृत, जूड, एडेल, टरमैन, लेविस एम० के कथन (जूड. एडेल, द रिलेशनशिप बिटविन हाईएस्ट मेण्टल कैपेसिटी ऐण्ड साइकिक अबनार्मिलटीज, अमेरिकन जनरल ऑफ साइकियाट्री, १९४९, पृ० १०६, २९६–३०७ टरमैन, लेविस एम० साइकॉलाजिकल एप्रोचेज् टू द बायोग्राफी ऑफ जीनियस, साइंस १९४०, ९२ पृष्ठ २९३-३०१)

२ जे० एफ० ब्राउन सा[illegible] ऑफ [illegible] बिहेवियर, पृ० ९ [illegible]

व्यक्तित्व को तीन रूपो में प्रकट किया है —१—पागल, मन्द बुद्धि तथा अपराधी। २—सामान्य और ३—प्रतिभावान् या श्रेष्ठ।

अन्य बातो के समान रहते हुए जो व्यक्ति आत्मव्यवस्थित तथा अन्य व्यक्तियो से सम्बन्ध बना रखने मे साधारणतया सफल होते है उन्हे सामान्य कहा जाता है। इनकी सख्या जन-जीवन मे अधिक होती है।

दूसरी ओर जिन व्यक्तियों की बुद्धि सीमित, सवेग अस्थिर, व्यक्तित्व असगठित और चरित्र दूषित तथा समाज विरोधी होता है, वे असामान्य की श्रेणी मे आते है। जनसख्या मे न व्यक्तियों की सख्या दस प्रतिशत मानी जाती है।

असामान्य गुणों से सम्पन्न कुछ व्यक्तियों की सख्या अल्प संख्यक रूप मे पायी जाती है, जो गुणो और जीवन की सफलताओ की दृष्टि से तथा-कथित सामान्य व्यक्तियो की अपेक्षा भिन्न होते है। इनका बौद्धिक स्तर, व्यक्तित्व, सामाजिक समायोजन, सवेगात्मक परिपक्वता तथा लौकिक उपलब्धियाँ अपेक्षाकृत श्रेष्ठ होती है। नकी श्रेष्ठता से नवीनता की स्फूर्ति होती है, समाज को बल मिलता है और जन-जीवन को मार्ग-दर्शन मिलता है। इनको कई श्रेणी मे बाँटा जा सकता है। कोई विज्ञान का जन्मदाता होता है, कोई समाज का मार्ग दर्शक और कोई अतीन्द्रिय अनुभवों से अभिभूत सम्पूर्ण जीवन-दर्शन का निर्धारक होता है। इसके व्यवहार, और इसकी अनुभूतियाँ सामान्य से ऊपर असाधारण होते हुए भी असामान्य के असफलपूर्ण जीवन की अनुभूतियो से भिन्न होती हैं। आध्यात्मिक सत्ता का साक्षात्कार करने वाले रहस्यवादी इसी श्रेणी मे आते हैं। इनके क्रिया कलापों को देखकर मनोवैज्ञानिकों ने इनको तथा-कथित असामान्य व्यक्तियो की ही श्रेणी में रखने का प्रयास किया है। उनके अद्भुत गुण, विस्मयकारी क्रियाकलाप तथा अनुभूतियाँ मानसिक रोगियों से ही मिलतीजुलती है। इसीलिए कहा जाता है कि यह असाधारणता असामान्य मस्तिष्क की ही उपज है। परन्तु उनकी वस्तुगत कसौटियाँ—उनकी जागतिक सफलता, उनका सन्देश, कल्याणकारी मार्ग दर्शन एक देशीय नही सार्वभौमिक है। इसको देखते हुए फिर हम उनके असामान्य व्यवहार की व्याख्या कैसे करेगे। इस प्रश्न को अब तक मनोवैज्ञानिकों ने असामान्य मनोविज्ञान के आधार पर ही सुलझाने का प्रयास किया है, परन्तु हमने यह देखा है कि ऐसे पुरुष असामान्य से भिन्न प्रतिभावान या श्रेष्ठ में आते हैं। अत रहस्यवादियों को न कहकर कहा जाय तो समीचीन प्रतीत होता है। फिर उनक

गुणों की व्याख्या कैसे की जा सकती है। इसका उत्तर संस्कार के सिद्धान्त से स्पष्ट किया जा सकता है।

वास्तव में ऐसे असाधारण के गुणों या व्यक्तित्व की व्याख्या मनोवैज्ञानिक रूप में ही की जा सकती है, परन्तु दृष्टिकोण तथा सिद्धान्तों में थोड़ा-सा परिवर्तन कर देने पर ही यह सम्भव हो सकता है। आधुनिक मनोविज्ञान में अवचेतन का बहुत बड़ा महत्त्व स्वीकार किया गया है। भारतीय दृष्टिकोण से इसकी समता संस्कार से की जा सकती है।

नव-मनोविज्ञान के आगमन के पहले केवल मन की चेतन अवस्था को ही समझने का प्रयास हुआ। हमारे मन के अन्तस् में एक अवचेतन अथवा अचेतन अवस्था भी है, जिसकी व्यावहारिक रूप में अध्ययन के क्षेत्र में उपेक्षा थी। यदि किसी ने उसकी चर्चा की भी है तो थोड़ी मात्रा में। इस अवस्था का अध्ययन फ्रांस के दो मनोवैज्ञानिकों शारको तथा जेनेट, ने प्रारम्भ किया। इसके विषय में जेनेट के उत्तराधिकारी फ्रायड ने बहुत बड़ी खोजें की और यह बताया कि मनस् की यह आन्तरिक अवस्था सामान्य व्यक्ति को नहीं ज्ञात है, परन्तु यह व्यक्ति के चेतन व्यवहार तथा क्रिया में अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है और एक गत्यात्मक शक्ति के रूप में हमारे जीवन में कार्य करती है। इस अवस्था का अध्ययन केवल विद्वत्तापूर्ण खोजों तथा दार्शनिक व्याख्या के लिए ही महत्त्वपूर्ण नहीं है वरन् इसका सम्बन्ध वृहत रूप में मनुष्य के व्यक्तित्व से है। किसी व्यक्ति के व्यवहार का निश्चय तब तक नहीं हो सकता जब तक कि उसके मनस् के अवचेतन अवस्था को पूर्ण रूप से न समझ लें। बहुत से पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों का निष्कर्ष है कि यह अवचेतन ही चेतन का निर्माण करता है। भारतीय मनोविज्ञान की अवचेतन के प्रति धारणा है कि यह संस्कारों या भूत के प्रभावों का भाण्डार है, जो अवचेतन मनस् के मुख्य विषयों का निर्माण करता है।

भारतीय मनोवैज्ञानिक संस्कारों को अधिक महत्त्व प्रदान करते हैं, जिससे अवचेतन का निर्माण हुआ है। भूत की क्रियाओं और विचारों के ये प्रभाव (संस्कार) अच्छे भी हो सकते हैं और बुरे भी। यह सभी प्रवृत्ति के रूप हमारे अवचेतन में पड़े रहते हैं और चेतन अवस्था में स्मृति से आ सकते हैं और शक्तिपूर्ण तत्त्व बनकर हमारे चेतन व्यवहार को निश्चित कर सकते हैं।[1]

फ्रायड की भाँति युग ने भी मन के दो स्तरों—चेतन तथा अवचेतन को

१ हिन्दू साइकॉलोजी पृष्ठ ५५ ७४

स्वीकार किया है। परन्तु इसके स्वरूप और गठन के सम्बन्ध में उसकी अपनी स्वतंत्र धारणा है। चेतन मन, जिसका सम्बन्ध वास्तविक जगत मे रहता है उसका नाम युंग ने "परसोना" दिया है, यह फ्रायड के चेतन के समान कार्य करता है। अवचेतन को उसने दो भागों में बांटा है। एक व्यक्तिगत अवचेतन और दूसरा सामूहिक या जातीय अवचेतन। यह प्रत्येक व्यक्ति मे अनुस्यूत है। इसमे व्यक्ति के जीवन-काल में अर्जित विषय-वस्तुओं का ही नही वरन् समस्त मानव जाति के सस्कारो का सग्रह होता है। इस जातीय अवचेतन का विस्तार उसने मानव मे ही नहीं, पशु जीवन तक में माना है और इसीलिए मानव अपने मन के गहनतम स्तरों पर अब भी पुरातन ही कहा जा सकता है। वह कहता है मानव का अवचेतन उसके पूर्वजो के जीवन तथा व्यवहारो से गठित है, जो कि उसके पूर्वजो मे सन्निहित होता चला आया है। ये ही जातीय गुण मनुष्य की चेतन स्थिति मे सक्रिय हैं। चेतन उसी जातीय अवचेतन की ही उत्पत्ति है।[1]

यहाँ युंग के जातीय या सामूहिक अवचेतन और भारतीय मनोविज्ञान के सस्कार के सिद्धान्त मे समता दृष्टिगोचर होती है। जिस प्रकार पाश्चात्य नव-मनोविज्ञान ने चेतन व्यवहार में भूत के प्रभावों (सस्कारों) को स्वीकार किया है उसी प्रकार भारतीय मनोविज्ञान मे भी यह स्वीकार किया गया है कि पूर्व जन्मो के सस्कार वर्तमान जीवन में भी अवशिष्ट रहते है, जिनसे हमारा चेतन जीवन प्रभावित होता रहता है। उन्ही संस्कारों के प्रभाव में हम कार्य करते है। पूर्व जन्म में विश्वास करने के कारण ही भारतीय मनोविज्ञान यह स्वीकार करता है कि मनुष्य का मन पूर्व जन्मो के अनुभवो सहित आता है। इसीलिए योग—मनोविज्ञान यह कहता है कि "संस्कारों" का साक्षात् कर लेने से पूर्व जन्म का ज्ञान हो जाता है। क्योंकि प्राणी जो कुछ कर्म करता है एवम् अपने इन्द्रियों और मन-बुद्धि द्वारा जो कुछ अनुभव करता है, वे सब उसके अन्त-करण मे सस्कार रूप में सचित रहते है। ये संकार दो प्रकार के होते हैं — एक वासना रूप, जो कि स्मृति के कारण है और दूसरे धर्माधर्म रूप, जो कि जाति, आयु और भोग के कारण है—ये दोनों ही प्रकार के सस्कार अनेक जन्म-जन्मान्तरो से सग्रहीत होते आ रहे है।[2]

जो सस्कार जितना ही प्रबल होता है उसका प्रभाव उतना ही प्रगाढ़ तथा अमिट होता है। इसीलिए गीता मे कहा गया है कि मरण के समय जिस भाव

१. सी०जी० युंग, माडर्न मैन इन सर्च ऑफ ए सोल, पृष्ठ २१४–२१५।
२ पातंजल योग २।१२ ३।१८ ४।८ ११।

मे व्यक्ति रहता है भविष्य में उसी की प्राप्ति का अधिकारी बनता है।[1] इस महत्त्व को समझना हमारे लिए बहुत कठिन हो सकता है, यदि हम चेतना की स्वतः सिद्ध सृष्टि शक्ति जिसे कहा जा सकता है, उसे न जाने-माने। हमारे विचार, हमारी आन्तरिक दृष्टि, हमारी श्रद्धा, जिस किसी बात पर पूर्ण और सुस्थिर होकर गड जाती है, उसी मे हमारी आन्तरिक सत्ता परिवर्तित होने लगती है। यह प्रवृत्ति एक निर्णायक शक्ति बन जाती है। जब हम उन उच्चतर आध्यात्मिक और स्वय विकसित अनुभवो को प्राप्त होते है, जो बाह्य पदार्थों पर अवलम्बित नही होते जितनी की हमारी सामान्य मनोगति, बाह्य प्रकृति मे आबद्ध होने के कारण, हुआ करती है। वहाँ हम स्पष्ट ही देख पाते हैं कि जिस किसी वस्तु पर हम अपने मन को स्थिर कर लेते हैं और जिसकी हम निरन्तर अभीप्सा करते हैं वही हम बराबर होते जाते है।[2] परन्तु उपर्युक्त मन स्थिति तब तक सम्भव नही है जब तक कि हमारे सस्कार तत्सम्बन्धी विचारो के प्रति दृढ़ न हो सके हो। यह मन. सकल्प पर भी निर्भर करता है। उपनिषद् भी यह उद्घोष करता है कि 'जैसा चित्त (सकल्प) होता है उसके सहित यह प्राण को प्राप्त होता है, तथा प्राण तेज से---उदान वृत्ति से सयुक्त हो (उस भोक्ता को) आत्मा के सहित सकल्प किये हुए लोक को ले जाता है।'[3]

यदि हम सामान्य वर्तमान जीवन को ही ले तो सारा जीवन संस्कारो से भरा पड़ा है। हम दैनिक जीवन में जो भी क्रिया-व्यापार करते है, नाना प्रकार के स्वप्न, राग-द्वेष, मानापमान, सुख-दु.ख आदि के अनुभव होते रहते हैं, इन सब के सस्कार हमारे मन पर होते रहते है। जीवन का अर्थ ही है सस्कार---सचय। जन्म से लेकर मृत्यु के पहले तक सस्कार पड़ते रहते हैं। ये अच्छे भी होते है और बुरे भी। बचपन के बहुत से संस्कार हमें ही भूल जाते है जिस प्रकार स्लेट पर लिखकर पोंछ दिया जाता हो। पूर्व जन्म के सस्कार किसी को फिर कैसे याद आ सकते है। प्रतिदिन हम बहुत से कर्म करते हैं परन्तु हमे उसी की स्मृति रहती है जो प्रगाढ़ संस्कार के रूप में हमारे मनन् पटल पर रह जाते है। "अंकगणित मे अपूर्णांक के प्रश्न होते हैं। कितनी बडी-बड़ी सख्याएँ परन्तु संक्षेप बनाते-बनाते अन्त मे एक अथवा शून्य उत्तर आता है। इसी तरह

---

१. गीता, ८।६,

२. श्री अरविन्द, गीता प्रबन्ध, द्वितीय भाग (प्रथम खण्ड), पृष्ठ ६२.

३. प्रश्नोपनिषद शांकर भाष्य ३।१०

जीवन में संस्कारों की अनेक सख्याएँ चली जाकर अन्त में एक बलवान सस्कार ही सार रूप मे रह जाता है। जीवन रूपी प्रश्न का वह उत्तर है।[1]

इस संस्कार की धारणा पूर्ण रूप से पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर ही निर्भर है। हिन्दू धर्म चिन्तकों तथा मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि जिस प्रकार बीज मे भविष्य का वृक्ष सन्निहित है उसी प्रकार जीव मे उसके भूत के अनुभव अवशिष्ट रूप से सन्निहित रहते हैं और भविष्य में उन्हीं का विकास होता है। यह कहा जा सकता है कि जब यह शरीर नष्ट हो जाता है तब फिर सस्कार कहाँ से आते है। इसके उत्तर में भारतीय मनोविज्ञान के वैयक्तिकता सम्बन्धी सिद्धान्त को देखना आवश्यक होगा। भारतीय विचारकों ने तीन प्रकार के शरीर का उल्लेख किया है—स्थूल शरीर, जो त्वचा, मांस, रक्त, स्नायु, मेद, मज्जा, अस्थि आदि स्थूल वस्तुओं से बना हुआ है, जिससे स्थूल पदार्थों का अनुभव होता है, जिसकी अवस्था जाग्रत है, जो वाह्य इन्द्रियों से युक्त ससार के पदार्थों का सेवन करता है, जिसका जन्म, जरा, मरण तथा स्थूलता तथा बालकपन आदि अवस्थाएँ है। दूसरा सूक्ष्म शरीर है,[2] जो अन्त करण, मन, बुद्धि, अहकार तथा चित्त से बना है और तीसरा कारण शरीर, जो सूक्ष्म संस्कारों से युक्त

---

१. विनोबा, गीता-प्रवचन, पृष्ठ १०९–११।

२. डा० आत्रेय का कथन सत्य ही प्रतीत होता है कि 'आधुनिक मनोविज्ञान, भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान और जीव विज्ञान, इन विशुद्ध जड़ विज्ञानों पर आधारित हैं और इसलिए मानव व्यक्तित्व के एक तत्व, भौतिक देह से आगे इसकी गति नहीं है। लेकिन हिन्दू मनोविज्ञान के अनुसार भौतिक देह चेतना का सबसे बाहरी और स्थूल कोश है तथा उसको सबसे कम अभिव्यक्ति करता है।"

मनोविज्ञान के क्षेत्र के बाहर वैज्ञानिक विधि से कुछ अनुसन्धान इस प्रकार के भी हुए हैं जिनसे पता चलता है कि व्यक्तित्व के अन्दर भौतिक शरीर मे सूक्ष्म और ऊँची कोई चीज भी है। ऐसी दो चीजों का आभास है जिन्हे तेजस् तथा दिव्य शरीर कहते है, जो हिन्दू मनोविज्ञान के प्राणमय तथा मनोमय कोषों के समकक्ष हैं।

इस विषय मे अनुसन्धान कर्ताओं का भी उल्लेख किया गया है, जिनमें 'रिचेनबैक' फ्रांसिस गेरी केयर, फील्ड, वाकर जे० किल्नर, काल्डे रोचेस, एम० एच० डुरविले, चार्ल्स, लैन्सेलीन, माठला आदि के नाम प्रसिद्ध हैं।

डा० बी०एल० आत्रेय, परा एक परिचय पृष्ठ ३४ ३५।

'अह' की चेतना का आधार है।[1] यही कारण शरीर स्थूल शरीर के नष्ट हो जाने पर पुन- जगत मे उन्ही संस्कारो को धारण किये हुए आता है।[2]

आत्मिक अस्तित्व विज्ञान है, जो शरीर (अन्न, जीवन, प्राण) और मन (मनस्) के त्रिविध रूपो को सम्भाले रखता है। जब मारा मौलिक शरीर नष्ट हो जाता है तब भी आत्मा के वाहन के रूप मे प्राण और मन के कोष बचे रहते है। पुनर्जन्म प्रकृति का नियम है।[3]

पुनर्जन्म के इस सिद्धान्त से वैयक्तिक प्रवृत्ति एव स्वभाव की भलीभाँति व्याख्या की जा सकती है। इस प्रकार अवचेतन मे हमारे संस्कार निहित है जो भविष्य का निश्चय करते है। अवचेतन गुणों और अवगुणों का भाण्डार है। व्यक्ति के आश्चर्यजनक का गुण अद्भुत व्यवहार और असामान्य स्थिति का ज्ञान इनमे हो सकता है। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने इसका ज्ञान उपारात्मक विधियो से प्राप्त करने का प्रयास किया है। मनोविश्लेषण विधि इसी का रूप है इसीसे यह सिद्ध हुआ है कि जिन बातों का पता हम चेतन स्तर पर नहीं लगा सकते उनका ज्ञान अवचेतन स्तर पर हो सकता है। पातजलि ने इसी को सयम के द्वारा प्राप्त करने का उपदेश किया है। सयम से हम अपने पूर्व जन्म के संकारों को जान सकते हैं।[4] यह कोरी कल्पना नहीं है क्योंकि बहुत से व्यक्तियो को अपने पूर्वजन्म की बातें याद होती है।[5]

१. शंकराचार्य, विवेक, चूड़ामणि, श्लोक, ८९, ९२, ९८–१००,१२२–१२३।
२. गीता २, २२। कठोपनिषद् १,६। अन्न की तरह मनुष्य पकता है और अन्न की तरह वह फिर जन्म लेता है।
३. राधाकृष्णन्, गीता भाष्य, पृष्ठ, ११४।
४. पतंजलि, योगसूत्र २, १८, ३३।
५. परामनोविज्ञान के प्राचीन एवं आधुनिक, वैज्ञानिक एवं प्रामाणिक अनुसंधानों से यह तथ्य सिद्ध किया जा चुका है। ऐसे उदाहरण भारत एव यूरोप के अधिकाश देशों मे प्राप्त किये गये है। भारत में डॉ० बी० एल० आत्रेय, डॉ० हेमेन्द्र नाथ बनर्जी (सम्प्रति संचालक परामनोविज्ञान विभाग जयपुर, राजस्थान विश्वविद्यालय) बरेली के नन्दन सहाय, आदि और यूरोप के अन्य परामनोवैज्ञानिक तथा वर्जीनिया विश्वविद्यालय के मेडिकल विभाग के डॉ० स्टीवेन्सन ने अपनी पुस्तक 'ट्वेण्टी केसेज सजेस्टिव रीइन्कार्नेशन' में ऐसे उदाहरणों को खोजकर रखा है- जिनसे पुनर्जन्म की स्मृति तथा की पुष्टि होती है।

उच्च स्तर के रहस्यवादियो के अद्भुत गुणो को पूर्ण रूप से समझने का हमारे पास यही एक साधन है। बुद्ध, जेसस, मुहम्मद, चैतन्य, गुरु नानक तथा श्री रामकृष्ण के जीवन की जो असाधारणता है हम असामान्य (विकृत) कहकर नही टाल सकते। ऐसे प्रतिभा सम्पन्न महापुरुषो के संस्कार इतने प्रबल रहे है, उनके पूर्व जन्म की साधानाएँ इतनी उच्चकोटि की रही है कि उनकी साधारण मस्तिष्क से समझने मे कठिनाई प्रतीत होती है। व्यक्तित्व के विशिष्ट गुण समाज के सभी व्यक्तियो में ही पाए जाते है। यदि किसी प्रतिभावान् पुरुष मे असाधारण स्मृति, सवेदनशीलता, सौन्दर्यानुभूति की क्षमता है तो वह उसके अवचेतन की तथा वर्तमान जीवन की सधाना का फल कह सकते है। क्योंकि अच्छे वातावरण तो अधिकांश रूप मे व्यक्तियो को मिलते है, परन्तु बिरले ही उस परिस्थिति मे अपनी सूझ का परिचय दे पाते है। संस्कार के आधार पर ही परिस्थिति पाकर उनके गुणो का प्रकाशन हो पाता है।[१] श्री रामकृष्ण के जीवन मे भी यही बात चरितार्थ होती है। उनका पारिवारिक इतिहास, उनके माता-पिता का पुनीत धर्ममय जीवन उनके लिए वातावरण का काम करता है। ऐसे माता-पिता से ऐसी सन्तान का होना कुछ सीमा तक वंश-परम्परा के नियम को ही सिद्ध करता है। शिक्षा तथा उनका असाधारण प्रारम्भिक जीवन उनकी रुचियाँ तथा व्यसन उनके सस्कारों से ही निर्धारित हो सकते है। उनकी शिक्षा अन्य विषयो मे प्रगतिशील न होकर धर्म की ही ओर क्यों अभिमुख हुई ? इसका क्या कारण दिया जा सकता है ? सस्कार ही हमारे विचार से इनकी व्याख्या कर सकते है।

सस्कार चाहे पूर्व जन्म के हो या वर्तमान जीवन के वे हमारे जीवन को प्रभावित करते है। "जिसे हम शिक्षा कहते है अथवा जिन पुस्तको को हम पढते है, उन सब का ज्ञान इस बालक को नही था। इस बालक का मन सहज ही सरल और निष्पाप था। उसकी विचार शैली भी बडी पवित्र थी और इसका कारण यह था कि दूसरे के विचारो की विज्ञप्ति न होने के कारण उन विचारो का प्रभाव यहाँ प्रभाव का अर्थ हम संस्कार से ही ले सकते है) उसके मन पर नही पडा था।

---

१. स्वामी अभेदानन्द, लाइफ बीयांड डेथ, पृष्ठ ६५, यदि मनोविज्ञान के पण्डित युंग के सामूहिक अवचेतन की परिकल्पना को मानने के लिए तैयार हैं, तो भारतीय मनोविज्ञान के संस्कार की परिकल्पना (यदि परिकल्पना कहे) को स्वीकार करने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए ।

उसने विश्वविद्यालय मे प्रवेश नही किया था। अतएव वह स्वयं विचार कर सकता था। चूकि हम लोगो ने अपना आधा जीवन विश्वविद्यालयो मे बिता दिया है, अत हमारा मन दूसरे के विचारो मे भर गया है। प्रोफेसर मैक्सुलर ने ठीक ही कहा है कि मेरे गुरुदेव का विचार स्वच्छ एव मौलिक ही रहा था। और इसका कारण यह था कि वे विश्वविद्यालय के सम्पर्क मे नहीं बडे हुए थे। धीरे-धीरे यह विचार जो उनके मन मे सबसे प्रबल था कि "क्या ईश्वर देखा जा सकता है" दृढ होने लगा, यहाँ तक कि वे और किसी बात के बारे मे सोच ही नही सकते थे।"[1] प्रेट ने भी कहा है कि प्रकृति और वश-परम्परा के द्वारा हम इस संसार में कुछ विशेष मूल प्रवृत्ति तथा आवश्यकताओ और पद्धतियो को लेकर आते है। और परिस्थितियो के प्रति उनका ऐसी प्रतिक्रिया होती है जिसमे कि हम मे से अधिकतर लोग निश्चित रूप मे धार्मिक बन जाते है। यही पर अवचेतन को देखा जा सकता है। जो हमारे धर्म की जड है। दूसरी जड या स्रोत "वातावरण और वैयक्तिक अनुभव है।"[2] हमारे जीवन को प्रभावित करने वाले हमारे विचार तथा दृश्यगत जगत् की प्रतिमाएँ ही नही हैं बल्कि हमारे अवचेतन मे पड हुए सस्कार (या आधुनिक मनोविज्ञान के शब्दो मे मनोग्रन्थियाँ भी कह सकते हैं) भी सहायक है। प्रेट के शब्दो मे मनोदशा सवेग, प्रवृत्ति या स्वभाव और पूर्वधारणाएँ, मनोग्रन्थियाँ आदि, जिनकी जडें हमारे जीवन के अतीत मे बन चुकती है, हमारे मानसिक इतिहास को लपेटने का काम करती है। इन सभी का यद्यपि निवास स्थान नाडी-तन्त्र के अवचेतन कोषो में ही होता है तथापि वे हमारे स्थायी भाव, परम्परा या मत, और क्रियाओ को प्रभावित करती रहती हैं। विशेष रूप मे इन्ही का हमारे जीवन, इच्छाओ तथा प्रारम्भिक आदर्शों की पृष्ठिभूमि के निश्चय मे प्रभाव रहता है। फ्रायड ने इसी की अतिरजना करके अचेतन मे प्रकट किया है। इससे हमारे स्वप्न, इच्छाएँ तथा जीवन की अन्य बाते निर्धारित होती हैं। हमारे विचार से यहाँ भी प्रेट सस्कारो से परे की बात नही कर रहे हैं। यही सस्कार या ग्रन्थियाँ सशोधित रूप में हमारे चेतन स्तर पर प्रकट होती हैं। इसलिए धार्मिक प्रवृत्ति जो एक रूप धारण करती है, हमारे जीवन के लिए अग स्वरूप है। अतः धार्मिक विचार, उत्साह, संवेग, और पद्धति, जिससे हम वस्तुओं पर मनन करते हैं: हमे प्रभावित करते रहते है। और प्राकृतिक रूप से ये जन्म-

१. विवेकानन्द, मेरे गुरुदेव, पृष्ठ २३।

२ जेम्स विसेंट प्रेट, द रिलीजस कान्सेसनेस), ए ——— स्टडी, पृष्ठ ६१

जात प्रवृत्ति के रूप में फलित होती है, तथा हमारे मनस् की रचना में यह इस प्रकार जुड़ी हुई है कि उनमें हमारा छुटकारा नहीं हो सकता। इनसे हमारे विचार, अनुभूतियाँ और संस्कार के प्रति सभी प्रतिक्रियाएं प्रभावित हैं। धर्म हमारे अन्तस् में अनुस्यूत है।[1] अवचेतन जिस प्रकार हमारे चेतन उसी प्रकार चेतन से भी अवचेतन के विषयों की पूर्ति होती रहती है। अतीत के जगत का स्रोत है अनुभव, चाहे वह जातिगत या व्यक्तिगत हो, इसके विषय हैं। संस्कार ही सब के स्रोत माने जा सकते हैं। श्री रामकृष्णआदि उच्च स्तर के रहस्य-वादियों के जीवन की व्याख्या संस्कार के भारतीय सिद्धान्त द्वारा ही सम्भवशात होता है। उनके अद्भुत व्यक्तित्व के गुणों और अतीन्द्रिय अनुभू-तियों की क्षमता की व्याख्या इसी के द्वारा की जा सकती है। यदि उनको प्रतिभावान् कहकर भी उनके गुणों को देखें तो यह सिद्ध किया जा सकता है कि प्रतिभावान् असामान्य की श्रेणी में नहीं है जैसा कि असामान्यता की मान्यता है। उनकी असाधारण स्मृति, साहस, रसबोध, मृत्तिका मूर्ति के निर्माण तथा गायन की क्षमता से और आध्यात्मिक रुचि तथा पूजन और सन्तों के जीवन से प्रेम करने से पागलपन की स्थिति नहीं प्रकट होती। धार्मिकता की पराकाष्ठा पर पहुँचने के लिए उच्च बौद्धिक स्तर अपेक्षित है। उसी में एक बृहत जीवन-दर्शन या सामाजिक दर्शन की उपलब्धि हो सकती है। श्री रामकृष्ण के प्रारम्भिक जीवन को ही नहीं अन्त का भी जीवन देखा यदि जाय तो वे एक महान् लक्ष्य प्राप्त हुए थे। और आधुनिक मान्यता यही है कि बुद्धिपूर्ण व्यवहार वही है जो एक लक्ष्य को प्राप्त कर ले।[2]

यदि उनकी छः वर्ष की ही अवस्था में समाधि की स्थिति को देखा जाय तो वह कोई बीमारी या शारीरिक तथा मानसिक विकृतावस्था नहीं कही जा सकती वरन् महापुरुषों की यह संवेदनशीलता का एक उदाहरण है। बुद्ध को भी इसी प्रकार की अवस्था बचपन में ही प्राप्त हुई थी।[3] गुरु नानक का

---

१. वही पृष्ठ ६२।
२. ब्राउन, साइकोडाइनेमिक्स ऑफ अबनार्मल बिहैवियर, पृष्ठ १७,१९
३. राहुल सांकृत्यायन, बुद्धचर्या, पृष्ठ ६।

पद्मासन लगाकर जंगल मे एकान्त समाविस्थ होना प्रसिद्ध है। श्री रामकृष्ण के प्रथम समाधि की क्या विशेषताएँ रही है, देखी जा सकती है। प्रथम तो यह कि यह समाधि बहुत ही छोटी अवस्था मे हुई जिससे उनकी अकाल प्रौढता पर प्रकाश पडता है। दूसरी बात कुछ अद्भुत प्रकृति के सौन्दर्य से अभिभूत होकर उनकी ऐसी दशा हुई। इससे उनकी सौन्दर्यानुभूति तथा संवेदनशीलता प्रकट होती है। तृतीय इस अवस्था में उनको बाह्य रूप मे अचेतनता प्राप्त हुई थी, परन्तु अन्तःकरण मे आनन्दानुभूति की चेतना वर्तमान थी जैसा कि उन्होंने स्वतः अपने भावों का वर्णन किया है। इससे उनकी कलात्मक आत्मा तथा प्रकृति सौन्दर्य के बीच समन्वय का परिचय मिलता है।[1] यदि उनकी इस अवस्था को अस्वस्थता का परिचय माना जाय तो उनकी स्वयं की अनुभूतियों से जैसा कि उन्होने स्वतः कहा है, कोई मेल नहीं बैठता। बीमारी की अवस्था में आनन्दानुभूति की स्थिति कहा रह सकती है? इसके अतिरिक्त हमने देखा है कि उनका स्वास्थ्य बचपन से ही सुन्दर था। कभी बीमार न पडना ही अच्छे स्वास्थ्य का लक्षण माना जाता है। श्री रामकृष्ण के माता-पिता जैसे हृष्ट-पुष्ट तथा बलिष्ठ थे उसी प्रकार इनका स्वास्थ्य भी अच्छा था। इसलिए किसी प्रकार की बीमारी कहना उचित नहीं जान पडता। परिवार वालों को भूत-प्रेत की बाधा भी जान पड़ी परन्तु वह सब व्यर्थ निकला। क्योंकि बचपन से तो इतने साहसी थे कि भयवश उनका बेहोश होना सत्य नही जान पडता। इसके अतिरिक्त उस समाधि के बाद ही वे पूर्ण स्वस्थ हो गए। तथा सामान्य स्थिति मे अपनी रुचि के अनुसार क्रिया करने लगे।

वास्तव मे कहा तो यह जाना चाहिए कि उनका मानसिक गठन ही इस प्रकार का था कि बचपन से ही "उनके हृदय मे यह सरल विश्वास विद्यमान् था कि जिस प्रकार उनके पूर्वज सन्मार्ग मे रहकर संसार-यात्रा का निर्वाह करते रहे है, वे भी तदनुरूप आचरण करेगे। आजन्म अभिमान शून्य उनके मन में एक बार भी यह बात उदित नही हुई कि वे संसार में अन्य किसी की अपेक्षा किसी अंश मे महान् या गुणशाली है। उनके ऊपर साधारण मानवो को मुग्ध करने वाले संस्कार के बन्धन का बचपन से ही अल्प प्रभाव पड़ा था।[2] यह बात भी स्पष्ट हो सकती है कि उनकी धारणा शक्ति इतनी प्रबल थी कि कुत्सित मानसिक पूर्व संस्कार उनको

१. आर०आर० दिवाकर, परमहंस श्री रामकृष्ण, पृष्ठ ६४–६५।
२. शारदानन्द, लीला प्रसंग, प्रथम भाग, पृष्ठ ३०८–३११।

मार्ग से च्युत न कर सके और अदृष्टपूर्व सत्यानुराग, श्रुतिधरत्व तथा सम्पूर्ण धारणारूप दैवी सम्पदाओं को अपना कर ही श्री रामकृष्ण साधक जीवन में प्रवृत्त हुए थे। आध्यात्मिक अन्वेषण का जीवन उनकी साधना का जीवन है। ईश्वर-दर्शन या शक्ति का साक्षात् समागम पाने के लिए उनका जीवन किस प्रकार की आँधी तथा तूफानों में होकर निकला है यह उल्लेखनीय है।



5

अध्यात्मिक अन्वेषण

ससार के प्रमुख रहस्यवादियों के जीवन को देखने से यही ज्ञात होता है कि आध्यात्मिकता हमारे जीवन मे अनुस्यूत है। कुछ लोगो का यह विचार है कि आध्यात्मिकता इस ससार से परे की कोई वस्तु है जो हमारे दैनिक जीवन के अस्तित्व मे कुछ सहायक सिद्ध हो जाती है परन्तु हम यहाँ रहस्यवादियो के जीवन से प्राप्त साधना मे सिद्ध तथ्यो के आधार पर यह कह सकते है कि यह न तो यह हम से दूर है और न ही ससार से कोई परे की वस्तु है। आध्यात्मिकता हमारी चेतना मे ही अन्तर्निहित है। केवल अनुभव करना और जानने की इच्छा तथा प्रयास शेष है। जिस प्रकार हम अपनी चेतना के अन्य स्तरो—जाग्रत, स्वप्नावस्था आदि को जानना चाहते हैं उसी प्रकार यदि इस स्तर को जानने का प्रयास करे तो इसकी यथार्थता का परिज्ञान हो सकता है? यदि किसी महापुरुष के संसर्ग मे आकर इस स्तर को देखना चाहे तो सरलतापूर्वक विदित हो सकता है? पिछले अध्याय की मनोवैज्ञानिक पर्यालोचना मे हमने यह इंगित करने का प्रयास किया है कि पूर्व जन्मो के पुण्य सस्कारों के फलस्वरूप किसी-किसी व्यक्ति मे आध्यात्मिकता की ज्योति प्रारम्भ से ही जलती रहती है। साधना के फलस्वरूप आध्यात्मिक शक्ति तीव्रतर रूप मे प्रकट हो जाती है।[1] हो सकता है कि आध्यात्मिक शक्ति से कुछ

---

१. "जन्मान्तर के अभ्यास जनित संस्कार की प्रबलता से वर्तमान जन्म मे बिना साधन के ही बाल्यावस्था में ही किसी-किसी में इस शक्ति का विकास देखा गया है।
पूर्वजन्म के अभ्यास से जनित संस्कार संचित रहते है, इसलिए उन्हें वर्तमान जन्म में अधिक अभ्यास को आवश्यकता नहीं होती। महामहोपाध्याय, डॉ० गोपी नाथ कविराज जी ने संस्कार के महत्व को स्वीकार करते हुए अन्य महापुरुषों के जीवन के उदाहरण प्रस्तुत किये है। आध्यात्मिकता के आने पर सहज शक्तियां भी आ जाती है। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं।
डॉ० गोपीनाथ कविराज-भारतीय संस्कृति और साधना, प्रथम भाग—पृ० ४१०, ४२६।

अलौकिक शक्तियों का भी आभास मिले[1] परन्तु हमें इसके विषय में विवाद उपस्थित करना अभीष्ट नहीं।

आध्यात्मिक अन्वेषण की पृष्ठभूमि अभीप्सा है। यह स्तर विकास की एक कोटि है। संस्कार इसीलिए तो मान्य हो सकते हैं। महापुरुषों के जीवन में आकस्मिक परिवर्तन तथा उनके संसर्ग से अनेक जीवनों में आध्यात्मिकता की पिपासा का जागरण यही प्रकट करता हुआ जान पड़ता है कि यह चेतना का एक स्तर है।

श्री रामकृष्ण परमहंस का जीवन यही प्रकट करता है कि साधना से मानवीय जीवन का दैवीकरण किया जा सकता है। विकास-क्रम से ही जीवन में एक ऐसा समय आता है कि हमें इस स्तर पर पहुँचने के लिए अभीप्सा पूर्वक अन्तर्द्वन्द्व करना पड़ता है। यह द्वन्द्व अन्तस् और बाह्य का, मरण और जीवन का, बन्धन और मोक्ष का, पाप और पुण्य का नहीं होता। यह है प्रेमी और प्रेमास्पद का, भक्त और भगवान का, पूर्ण और अपूर्ण का, शान्ति और परम शान्ति का, एकात्म और अनेकात्मक, का असाक्षात्कार तथा साक्षात्कार का, दर्शन और अदर्शन का। इन्हीं के बीच द्वन्द्व है, जिससे उत्पन्न होती है व्याकुलता बढ़ती है पिपासा दर्शन की और तीव्रतम होती है अभीप्सा श्रेय प्राप्त करने को नहीं प्रेम को, प्रेमास्पद को।

इस अभीप्सा की पूर्ति के लिए साधक अनेक प्रकार की शारीरिक कृच्छ साधनाएँ भी करता है, सिद्धि के लिए नहीं साध्य के लिए परमानन्द के लिए। साधना महापुरुषों की प्रयोगशाला का प्रयोग है। प्रयोग का फल स्वानुभूति है। यथार्थ का ज्ञान प्रयोग सिद्ध है। इसका सामान्यीकरण तर्कों से सम्भव नहीं और न तो इन साधकों के यथार्थ अनुभव को यों ही कहकर उड़ा ही सकते हैं। प्रयोग करना ही होता है। स्वानुभूति से सिद्ध करना ही पड़ता है। "क्योंकि यथार्थ अनुसन्धान किए बिना कोई बात बिल्कुल उड़ा देना सत्यप्रिय वैज्ञानिक मन का परिचय नहीं देता। जो वैज्ञानिक सूक्ष्मदर्शी नहीं, वे मनोराज्य की नाना प्रकार की अलौकिक घटनाओं की व्याख्या करने में असमर्थ हो उन सब का अस्तित्व ही उड़ा देने का प्रयत्न करते हैं। अतएव वे तो उन व्यक्तियों से अधिक दोषी हैं जो सोचते हैं कि बादलों के ऊपर अवस्थित

१. वही—पृ० ३९८-४०८।

कोई पुरुष विशेष था। बहुत से पुरुषगण उनकी प्रार्थनाओं को सुनते हैं और उनके उत्तर देते है—अथवा उन लोगो से जिनका विश्वास है कि ये पुरुष उनकी प्रार्थनाओ के कारण संसार का नियम ही बदल देगे। क्योंकि इन वाद के व्यक्तियो के सम्बन्ध मे यह दोहाई दी जा सकती है कि वे अज्ञानी है अथवा कम से कम यह कि उनकी शिक्षा प्रणाली दूषित रही है, जिसने उन्हे अप्राकृतिक का सहारा लेने की सीख दी और जो निर्भरता उनके अवनत-स्वभाव का अब एक अग ही बन गई है। पर पूर्वोक्त शिक्षित व्यक्तियो के लिए तो ऐसी किसी दोहाई की गुंजाइश नही।"[1]

आध्यात्मिक पुरुष सत्य का शोधक होता है। प्रमाण के रूप मे उसकी साधानाएँ होती है। श्री रामकृष्ण तथा अन्य महापुरुषो की साधनाएँ इसके लिए प्रमाणस्वरूप है। प्रश्न यह है कि क्या साधना बौद्धिक रूप मे होती है। साधना के पीछे प्रेरक तत्व क्या है। इन प्रश्नों के उत्तर मे यही कहा जा सकता है कि यह साधना यह प्रयास महत् के प्रति शुभ अभीप्सा के कारण, हृदय की सरलता शुद्धता तथा व्यक्तित्व के विभिन्न गठन के ही कारण सम्भव है। अन्यथा सभी उस पथ के पथिक होते, सभी विकास के इस क्रम पर पहुँच चुके होते। इसका सम्बन्ध भावराज्य और कुछ विचार से है।[2] भावराज्य वह जिससे बुद्ध, क्राइस्ट, मुहम्मद गुरुनानक तथा चैतन्य जी थे। इसके साथ ही विचार का एक स्तर भी है—श्रेयस्। यही साधन स्वरूप है, यही गठन भी है। इसीलिए इन महापुरुषो में बचपन से ही भावराज्य का प्रकाश मिलता है। इसी मे उनकी साधना-कांक्षा निहित रहती है। बुद्ध का जम्बू-वृक्ष के नीचे समाधि मग्न होना, गुरुनानक का एकान्त मे आसन लगाकर चिन्तन में लीन होना, चैतन्य का महाभाव में रमण करना इसी का परिचायक है। श्री रामकृष्ण का बचपन में ही समाधि में लीन होना उनकी साधना की पृष्ठभूमि ही तो कह सकते हैं। बचपन से ही साधु संगत करना तथा पुजारी-पद-प्राप्ति के पश्चात् साधना की चरम सीमा पर पहुँच जाना, ईश्वर दर्शन के लिए परम व्याकुलता प्रकट करना उनके आध्यात्मिक अन्वेषण का एक विचित्र पहलू है।

---

१. स्वामी विवेकानन्द, राज योग—पृ० १।
२ ——, अपरोक्षानुभूति—६—१०।

ईश्वर या सत्य के साक्षात्कार के लिए केवल मन्दिर की प्रतिमा में विश्वास रखकर पूजन करना ही उनका लक्ष्य नहीं था। उनको अपने भावराज्य में केवल प्रतिमा की पूजा से ही सन्तोष न था। जब तक कि उससे साक्षात् रूप में बात-चीत न कर लेते, स्थूल शरीर में देख न लेते। इसके लिए उन्होंने शारीरिक कृच्छ साधनाएँ कीं, आध्यात्मिक विरह में निराहार रह कर रुदन करते और पूजन के विचित्र उपचार करते तथा ऐसे व्यवहार प्रदर्शित करते जिसको देखकर कोई भी उन्हें सामान्य व्यक्ति की श्रेणी में नहीं रख सकता। उनके आध्यात्मिक अन्वेषण के ये विभिन्न क्रिया-कलाप विकृतावस्था के लक्षणों के से ही जान पड़ते हैं। इन विभिन्न व्यवहारों और अनुभूतियों को विश्लेषित करके हम यही देखने का प्रयास करेंगे कि तथाकथित व्यवहार कहाँ तक मनोवैज्ञानिक रूप में सामान्य जान पड़ते हैं।

ईश्वर-दर्शन के लिए परम व्याकुलता-प्रथम दर्शन

निर्धनता की अवस्था में तथा पिता और पितृ तुल्य अग्रज श्री रामकुमार जी की मृत्यु के पश्चात् उनको अपने परिवार की दशा सुधारने के लिए कौन कहे, श्री रामकृष्ण मन्दिर में प्रतिष्ठित देवी की प्रतिमा में इतने लीन हो गए, दर्शन के लिए उनकी व्याकुलता इतनी तीव्र हो गयी कि वे "पूजन के उपरान्त मन्दिर में श्री जगन्माता के समीप बैठकर तन्मयता के साथ पूरा दिन व्यतीत कर दिया करते थे।"[1] उन्हें धन, जन, भोग, सुख किसी की इच्छा नहीं थी। एकमात्र दर्शन की लालसा और इच्छा अवशिष्ट थी। रोते-रोते दर्शन के लिए दिन व्यतीत करते थे। वचनामृत में उन्हीं के मुख से निश्रित शब्द हैं—"ऊः कैसी—कैसी अवस्था बीत गयी है! पहले जब ऐसी अवस्था हुई तो रात-दिन कैसे व्यतीत होते थे, कह नहीं सकता। सब कहने लगे थे, पागल हो गया, इसीलिए इन लोगों ने शादी कर दी"। "कैसी अवस्था व्यतीत हुई है। थोड़े ही कारण से एकदम भगवान की उद्दीपना होती थी।" "मुझे कठोर साधनाएँ करनी पड़ी—पेड़ के नीचे पड़ा रहता था, "यह कहते हुए कि माँ, दर्शन दो। रोते-रोते आँसुओं की झड़ी लग जाती थी।"[2]

"छः महीने के बाद मेरी छाती में कुछ ऐसा होने लगा था कि पेड़ के नीचे

---

१. शारदानन्द, लीला प्रसंग, प्रथम भाग, पृष्ठ २०५।

२. श्री "म", श्री रामकृष्ण वचनामृत, प्रथम भाग, पृष्ठ २१६, ३३२–३३४।

पड़ा मैं रो-रो कर कहने लगा था—"माँ अगर कुछ बुरा हुआ तो मैं गले मे छुरी मार लूगा।[1]

"ईश्वर दर्शन के लिए मेरी व्याकुलता इतनी तीव्र थी कि जब-जब मेरे गले मे जनेऊ डाल दिया जाता था, वह आप ही गिर जाता था। मैं सँभाल नहीं सकता था।"[2]

दिन व्यतीत होने के साथ ही साथ व्याकुलता तथा आध्यात्मिकता के प्रति उनकी अनुरक्ति भी तीव्रतम रूप में बढ़ती गयी। उनको आहार और निद्रा का ध्यान न रहा। व्यग्रता, तथा दर्शनार्थ रुदन करते हुए प्रार्थना करने से उनका वक्ष-स्थल आरक्त रहता था। व्याकुलता और अशान्ति के कारण उनके शरीर मे ये सब परिवर्तन तथा क्षीणता की वृद्धि होने लगी। दर्शन के लिए उनमे इतनी व्याकुलता बढी कि उन्होंने अपना प्राणान्त होना ही उचित समझा—"माँ का दर्शन न मिलने से उस समय मेरे हृदय मे असह्य यातना थी, जल रहित करने के लिए लोग जिस प्रकार बलपूर्वक अंगोछे को निचोडते रहते है, मुझे भी तब ऐसा ही प्रतीत हुआ मानों मेरे हृदय को पकड कर कोई वैसे ही निचोड रहा है। माँ का दर्शन सम्भवतः मुझे कभी भी प्राप्त न होगा, यह सोचकर वेदना से मैं तड़पने लगा। व्याकुल होकर मैं यही सोचने लगा कि इस जीवन से क्या लाभ है? उस समय मेरी दृष्टि माँ के मन्दिर मे रक्खी हुई तलवार पर सहसा जा पड़ी तत्काल ही जीवन को समाप्त करने की भावना से उन्मत्त की तरह दौड़ता हुआ वहाँ जाकर मैं उसे पकड़ ही रहा था कि उस समय सहसा माँ का मुझे अद्भुत दर्शन मिला तथा बेसुध होकर मैं गिर पड़ा। तदनन्तर क्या हुआ, किस तरह वह दिन तथा दूसरे दिन व्यतीत हुए, मुझे इसका कुछ भी पता नही है। किन्तु मेरे हृदय मे एक अपूर्व घनीभूत आनन्द का स्रोत प्रवाहित हो रहा था और मैंने माँ के साक्षात् प्रकाश की उपलब्धि की थी—घर, द्वार, मन्दिर—ये सब कुछ न जाने कहाँ विलुप्त हो गए—मानो कुछ भी नहीं था। मुझे एक अनन्त, असीम चेतन ज्योति-समुद्र दिखायी देने लगा। जिधर जहाँ तक मैं देख रहा था, उधर ही चारों ओर से गरजती हुयी उसकी उज्वल तरगें मुझे ग्रस्त करने के निमित्त अत्यन्त तीव्र वेग से बढी आ रही थी। देखते-देखते वे मेरे ऊपर आ गिरी और पता नहीं मुझे कहाँ एक दम डुबो दिया। हाँफता तथा डुबकियाँ लगाता हुआ अचेत होकर मैं गिर पड़ा।[3]

१. श्री रामकृष्ण वचनामृत, तृतीय भाग, पृष्ठ ८९।
२. वही, पृष्ठ १०३।
३ श्री लीला प्रसग प्रथम भाग पृष्ठ २१३–२१४।

यह था उनका प्रथम दर्शन जो अतीव व्याकुलता के पश्चात् प्राप्त हुआ। समुद्र के रूप मे एक महत् चेतना के बीच भी मूर्ति का दर्शन हुआ जान पड़ता है। क्योंकि सामान्यावस्था के पश्चात् उन्होने माँ-माँ कहकर उच्चारण किया था। किन्तु सतत् चिन्मयी मूर्ति के दर्शन के निमित्त उनका हृदय सदैव भीतर से क्रन्दन कर रहा था। कभी-कभी व्यग्रता तीव्र होने पर वे धरती पर गिरकर छटपटाने लगते थे। इस प्रकार के अशान्त आचरण को देखने के लिए लोग एकत्रित हो जाते थे। परन्तु इसके लिए उनको तनिक भी लज्जा नही मालूम होती थी कि कोई क्या कहेगा। इसके विषय मे उनका कहना था कि "चारो ओर लोगो के खड़े रहने पर भी छाया या चित्रांकित मूर्ति की भांति वे मुझे अवास्तव जैसे प्रतीत होते थे, इसलिए मेरे मन मे किंचिन्मात्र भी लज्जा या संकोच उत्पन्न नहीं होता था। उस असहनीय यातना से कभी-कभी मैं बेसुध हो जाता था और उसके बाद ही मुझे "माँ की वराभयकरा चिन्मयी मूर्ति" का दर्शन प्राप्त होता था और मैं यह देखता था कि वह मूर्ति हँस रही है बाते कर रही है और तरह-तरह से मुझे सान्त्वना तथा शिक्षा प्रदान कर रही है।"[1]

यहाँ यह बात भी अनमेल मालूम पड़ती है कि इन दर्शनों के बाद भी श्रीरामकृष्ण ने साधना का आश्रय लिया। वास्तव में उनकी साधना तो अभीप्सा पुकार और व्याकुलता का भावराज्य ही थी। उसी के आधार पर उन्होंने प्रथम दर्शन का लाभ किया। फिर साधना की क्या आवश्यकता थी ? साधना किसके लिए ? साधना का उद्देश्य सिद्धि है। फिर जब सिद्धि की प्राप्ति हो गई तो साधना मे निरत होने की क्या आवश्यकता थी ? क्या प्रथम दर्शन की सिद्धि मन· कल्पित थी ? ये प्रश्न अवश्य उठ सकते है। इसके लिए श्री रामकृष्ण ने स्वत. उत्तर देने का प्रयास किया है। हो सकता है कि वह समीचीन हो। उनका कहना था कि "साधारणतया वृक्ष तथा लताओ मे सर्वप्रथम फूल तथा बाद मे फल लगते हैं किन्तु उनमे से कुछ ऐसे भी है जिनमे प्रथम फल दिखाई देने के पश्चात् फूल देखने को मिलते है।" हो सकता है कि श्री रामकृष्ण के जीवन मे यही उक्ति चरितार्थ हुई हो। दूसरा कारण यह भी कहा जाता है कि उनकी अनुभूतियाँ या दर्शनादि शास्त्र मे वर्णित अनुभूतियों से कितना मेल रखती है, इसे देखने के लिए तथा साधक पुरुषो द्वारा बतलाए अनुभवों से समता देखने के लिए भी पुन. साधना मे प्रवृत्त हुए हों। तीसरी बात यह भी कि साधना के द्वारा मन को भी सन्तुष्ट करना था। क्योकि हो सकता है कि सभी भ्रम मात्र ही न रहे हों। उन्होने

---

१ वही, पृष्ठ २१४

इसके लिए स्वतः कहा कि "श्री जगदम्बा के भिन्न-भिन्न रूप के दर्शन मुझे नित्य प्रति हुआ करते थे पर ये दर्शन सत्य है या मन के केवल भ्रम मात्र है यह संशय मुझे सदा हुआ करता था ? इसी कारण मैं कहा करता था कि यदि अमुक बातें हो जाएँगी तो मैं इन दर्शनों को सत्य मानूंगा और सदा वही बातें हो जाया करती थी।" साधना की यह कसौटी सन्देहात्मक नहीं होनी चाहिए क्योंकि साधक की सिद्धि में सन्देह होने पर अवश्य पूर्णत्व की आकांक्षा तीव्र होती है। वह शान्त तब तक नहीं हो सकता जब तक उसी साधना की प्रयोगशाला में सिद्धि की सत्यता का प्रतिपादन नहीं हो जाता। इसीलिए श्री रामकृष्ण की व्याकुलता बनी रही और वह साधना तक उनके जीवन में व्याप्त रही। यही उनके गुरु के रूप में थी। और यह तभी समाप्त हुई जब उन्होंने शास्त्रोक्त अनुभव, अन्य साधकों के अनुभव और स्वानुभव की एकमयता प्राप्त कर ली। अतः वे मन की उसी आँधी और तूफान से साधना में अग्रसर हुए। कठोर साधनाएँ की।

साधना-शारीरिक कृच्छ्र साधना

महापुरुषों का जीवन तपस्या और कठोर साधनाओं से पूर्ण होता है। बुद्ध की तपश्चर्या कितनी कठोर रही है ऐसा उदाहरण अन्यत्र दुर्लभ है। मुहम्मद की हेरा की गुफा में की गई साधना तपश्चर्या का उदाहरण है।" भक्ति मार्गावलम्बी पुरुषों को विह्वल होते देखा जाता है। भाव-भक्ति के प्राबल्य से ईसा तथा चैतन्य देव के शरीर की अंग ग्रन्थियों का शिथिल होना, पसीने की तरह प्रत्येक रोम कूप से बूंद-बूंद रुधिर का निकलना आदि शास्त्र वर्णित विवरणों के द्वारा इस बात का समर्थन होता है।"[1] श्री रामकृष्ण ने अनेक प्रकार से कठोर साधनाएँ की है। उन्होंने कहा है "यह नहीं कि सभी को तपस्या ज्यादा करनी पड़े। परन्तु मुझे तो बड़ा ही कष्ट उठाना पड़ा था। मिट्टी के टीले पर सिर रखकर पड़ा रहता था। न जाने कहाँ दिन पार हो जाता था। केवल माँ-माँ कहकर पुकारता था और रोता था"। "उनके दर्शनों के लिए साधना चाहिए मुझे कठोर साधनाएँ करनी पड़ी। बेल के नीचे तरह-तरह की साधनाएँ कर चुका"।[2]

"उन्होंने मुझसे अनेक प्रकार की साधनाएँ कराईं। पहली पुराण मत की थी, फिर तन्त्रमत की थी, इसके बाद वानी वेद मत की थी। पहले मैं पंचवटी में साधना करता था। वहाँ तुलसी वन लगाया गया, मैं उसके भीतर बैठकर ध्यान

---

१. श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग, प्रथम भाग, पृष्ठ २२४।

२ श्री रामकृष्ण वचनामृत प्रथम भाग पृ० ३३३ ५३४।

करता था। कभी विकल होकर माँ-माँ कहकर पुकारता था- कभी राम-राम कहता था।"

"जब राम-राम" कहता था तब हनुमान के भाव में आकर एक पूछ लगाकर बैठा रहता था—उन्माद की अवस्था थी। उस समय पूजा करते हुए मैं पीताम्बर पहनता था तो बड़ा आनन्द आता था। वह पूजा का ही आनन्द था।"

"तन्त्र मत की साधना बेल के नीचे की थी। तब तुलसी का पेड़ और सहजन की फली ये एक जैसे जान पड़ते थे"।[१]

शारीरिक कृच्छ साधना में श्री रामकृष्ण की व्याकुलता बनी हुई थी। इसी की प्रेरणा से साधना में इतनी कठोरता आ गई थी कि उनको अपने शरीर की रक्षा का भी ध्यान नहीं था। वे कहते थे "उस समय मस्तक के केश बढ़ कर धूल मिट्टी लगने के कारण अपने आप जटा बन चुके थे। ध्यान करने के लिए बैठने पर मन की एकाग्रता से शरीर स्थाणु की तरह ऐसा निश्चल हो जाता था कि उसे जड पदार्थ समझ कर बिना किसी संकोच के मेरे मस्तक पर चिडियाँ आकर बैठी रहती थी तथा केश के अन्दर की धूल में चोंच गाड़ कर चावल के कणों को ढूंढा करती थी। पुनः कभी-कभी भगवद् विरह में अधीर होकर धरती पर मैं इस प्रकार अपने मूंह को रगडता था कि मुँह छिल जाता था तथा जगह-जगह से रुधिर निकलने लगता था। इस तरह ध्यान, भजन, प्रार्थना, आत्म निवेदन आदि में उस समय मेरा दिन किस प्रकार से निकल जाता था, इसका मुझे कुछ भी होश नहीं रहता था।"[२]

अध्यात्मिक विरह में शारीरिक दशा

हम देख चुके है कि साधना की कठोर भूमि में रहकर श्री रामकृष्ण ने जो-साधनाएँ की उससे उनकी शारीरिक दशा ग्रस्त व्यस्त हो चुकी थी। उनके शरीर में अनेक परिवर्तन होते थे। निराहार रहने के कारण तथा रात-दिन विरह में रुदन करते-करते शरीर क्षीण हो चुका था।

प्रज्वलन :—शरीर में विचित्र प्रकार का प्रज्वलन होता था—"यही सोचता हूँ, कि इस शरीर के भीतर माँ स्वयं है। भक्तों को लेकर लीला कर रही है। जब पहले पहल यह अवस्था हुई, तब ज्योति से यह देह दमका करती थी। छाती

---

१. श्री रामकृष्ण वचनामृत, द्वितीय भाग, पृ० ३२९—३३२।
२. श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग, पू० भाग पृ० २३७, अध्याय ३ में भी कठोर तथा कृच्छ साधना का विवरण दिया गया है।

लाल हो जाती थी। तब मैंने कहा "माँ" बाहर प्रकाशित न होओ—भीतर समा जाओ। इसीलिए अब यह देह मलिन हो रही है।"

"नहीं तो आदमी जला डालते। आदमियों की भीड़ लग जाती अगर वैसी ज्योतिर्मय देह बनी रहती। अब बाहर प्रकाश नहीं है।"[1]

"ईश्वर के लिए जो विरहाग्नि होती है, वह बहुत साधारण नहीं होती। इस अवस्था के होने पर रूप सनातन जिस पेड़ के नीचे बैठे रहते थे, कहते हैं, उस पेड़ की पत्तियाँ भी झुलस जाया करती थीं। इस अवस्था में तीन दिन तक अचेत पड़ा रहा था। हिल-डुल भी नहीं सकता था। एक ही जगह पर पड़ा रहता था। जब होश आया तब ब्राह्मणी (श्री रामकृष्ण की आचार्या) मुझे पकड़कर नहलाने के लिए ले गयी परन्तु हाथ से देह छूने की हिम्मत न थी देह मोटी चादर से ढकी रहती थी। उसी चादर पर से मुझे पकड़ कर ब्राह्मणी ले गयी थी। देह में जो मिट्टी लगी हुई थी, वह जल गई थी"।

"जब वह अवस्था आती थी तब मेरु मज्जा के भीतर से कोई हल चला देता था।" अब जी गया, अब जी गया" यह रट लगी रहती थी। परन्तु उसके बाद फिर बड़ा आनन्द होता था।"[2]

इस प्रकार का गात्र-दाह उनको तीन बार हो चुका था। प्रथम दाह पाप पुरुष के दग्ध होते समय, द्वितीय, प्रथम दर्शन-लाभ के बाद ईश्वर-विरह में तृतीय मधुर भाव के साधना के समय। उनका कहना था "साधना के प्रारम्भ से ही मेरे शरीर में जलन उत्पन्न हुई, तब मैंने यह सोचा कि पुन: यह क्या रोग हो गया। क्रमशः उसके बहुत अधिक बढ़ जाने से वह असहनीय हो उठा। अनेक प्रकार के आयुर्वेदीय तेलों का प्रयोग किया गया किन्तु उससे कुछ भी लाभ नहीं हुआ।"

कभी-कभी यह गात्र-दाह इतना तीव्र होता था कि "भीगा अँगौछा मस्तक पर रख कर तीन चार घण्टे तक गंगा जी में शरीर डुबोकर बैठे रहने पर भी उन्हें शान्ति नहीं मिलती थी।"[3]

रुदन :—ईश्वर-विरह में व्याकुल होकर रुदन करना, उन्हें प्राप्त करने के लिए शरीर-रक्षण के लिए आहार को बिना ग्रहण किए साधना करते जाना, उनके जीवन की एक विचित्र घटना है। उनका रुदन इतना विचलित करने वाला था कि

---

१. श्री रामकृष्ण वचनामृत, तृतीय भाग, पृष्ठ २५२।

२. वही पृष्ठ, १०२–१०३।

३ श्री लीला प्रसंग प्रथम भाग पृष्ठ २२५ २२६।

लोग एकत्रित हो जाते थ और किसी रोग का आरोपण करते थे। रुदन के विषय मे उनका कथन है—"सन्ध्या होने पर जब चारो ओर से शख घण्टो की ध्वनि होती थी, तब मुझे यह ख्याल होता था कि दिन डूब चुका है, और यह दिन भी व्यर्थ निकल गया, माँ का दर्शन नही मिला। उस समय तीव्र क्षोभ से मेरा हृदय इस प्रकार व्याकुल हो उठता था कि मै शान्त नही हो पाता था, पछाड खाकर धरती पर गिरकर "माँ अभी तक तूने दर्शन नही दिया" यह कह कर जब मै जोर से रोने लगता, उस समय मेरा रुदन चारों ओर गूज उठता था तथा यातना से मै छटपटाया करता था। लोग कहते थे, "पेट में शूल का दर्द होने लगा है, इसलिए वह इतना रो रहा है।"[1]

पजन के विचित्र उपचार—प्रथम दर्शन के पश्चात् श्री रामकृष्ण की पूजन पद्धति भी विचित्र हो गई। अब वे साधारण पुजारी के रूप मे नही रहे। उनके साथ सतत् रहने वाले उनके भाजे हृदय ने उनकी पूजन-विधि का हाल भक्तों को स्वयं सुनाया है—"मै देखता था कि जावा पुष्प के साथ विल्व पत्र का अर्घ्य सजाकर मामा जी ने सर्वप्रथम उसके द्वारा अपने मस्तक, वक्षस्थल, सर्वांग यहाँ तक कि अपने पैर पर्यन्त स्पर्श कर तदनन्तर उसे जगदम्बा के पादपद्मों मे अर्पण किया।"

"मैं देखा करता था कि शराब के नशे में मस्त व्यक्ति की तरह उनका वक्षस्थल तथा नेत्र आरक्त हो उठे हैं। और उस हालत मे हिलते-डुलते हुए पूजन के आसन को त्याग कर सिंहासन पर आरूढ हो वे अत्यन्त स्नेहपूर्वक जगदम्बा की ठोढ़ी को स्पर्श कर प्यार, गान, परिहास अथवा बात-चीत कर रहे हैं। अथवा श्री मूर्ति के हाथ पकड कर उन्होंने नृत्य करना ही प्रारम्भ कर दिया है।"

"मै देखता था कि श्री जगदम्बा को अन्नादि का भोग लगाकर एकाएक वे खडे हो गए तथा थाली मे एक ग्रास व्यंजन लेकर शीघ्रता के साथ सिंहासन पर चढ़ कर माँ के मुँह मे उसे स्पर्श कराकर कहने लगे "लो माँ, भोजन कर, अच्छी तरह से भोजन कर।" बाद मे कभी वे कह उठते, "मै भोजन करूँ? अच्छा कर रहा हूँ" यह कहकर उसका कुछ अंश स्वय ग्रहण करने के पश्चात बाकी अश पुन: माँ के मुँह में देकर कहने लगे, मैने तो खा लिया है अब तू भोजन कर ले।"

"एक दिन मैंने देखा कि भोग लगाते समय काली मन्दिर में एक बिल्ली को

---

१ वही पृष्ठ २३७।

म्याउँ-म्याऊँ करती हुई देख कर "माँ भोजन करेगी भोजन करेगी" यह कहते हुए मामा जी भोग का अन्न उसे ही खिलाने लगे।"

"मैं देखता था कि एक दिन रात में जगन्माता को शयन कराकर" मुझे अपने पास सोने के लिए कह रही है—अच्छा सो रहा हूँ"—यह कहते ही मामा जी जगन्माता के चांदी के पलंग पर कुछ देर तक सोए रहे।"

मैं यह भी देखता था कि पूजन के निमित्त बैठकर वे इस प्रकार तन्मयता के साथ ध्यान में निमग्न हो गए है कि बहुत देर तक उनकी बाह्य चेतना एकदम विलुप्त हो गई।[1]

उन्मत्त अवस्था :—इस प्रकार उनके पूजन के विविध उपचार ही विचित्र नहीं थे, वरन् उनका जीवन ही उन्मत्तवत् हो गया था। उन्होंने स्वतः कहा है—"मेरी उन्माद अवस्था थी। नारायण शास्त्री ने आकर देखा, कन्धे पर एक बाँस रखकर टहल रहा था। तब उसने आदमियों से कहा—अः! इसे तो उन्माद हो गया है। उस अवस्था में जाति का कोई विचार नहीं रहता था। एक आदमी नीच जाति का था, उसकी स्त्री शाक बनाकर भेजती थी और मैं खाता था।"

"काली मन्दिर में कगले खा जाते थे, मैं उनकी जूठी पत्तलें सिर पर और मुँह से छुआता था।[2]

"उन्माद की दशा में मैं लोगों से सच-सच बातें, सब बातें, कह देता था। किसी की परवाह न करता था। अमीरों को देखकर मुझे डर नहीं लगता था।"

"उस उन्माद की दशा में एक दूसरे दिन बाराह नगर के घाट पर मैंने देखा कि जय मुकर्जी जप कर रहा है पर अनमना होकर। तब मैंने पास जाकर दो थप्पड़ जड़ दिये।"[3]

पूजन के समय या उस साधनावस्था में वे ईश्वर-चिन्तन के अतिरिक्त कोई वैषयिक चर्चा नहीं सुन सकते थे। उनकी स्थिति एकनिष्ठ थी। उस समय निर्भय होकर अपने साधन पथ का अनुसरण करते थे। यदि कोई ईश्वरीय प्रसंग के अतिरिक्त चर्चा करता तो उनको बड़ी वेदना होती थी।

---

१. वही, पृष्ठ २१९–२२०।

२. श्री , द्वितीय भाग पृष्ठ ३४१

उनका कथन है कि—'उस अवस्था में ईश्वरीय प्रसंग के सिवा और कुछ अच्छा नहीं लगता था। वैषयिक चर्चा होते सुनकर मैं बैठा रोया करता था।"[१]

रानी रासमणि पर प्रहार:—अपने इसी भाव-भूमि पर स्थित होने के ही कारण उन्होंने एक बार रानी रासमणि[२] को बिना किसी संकोच या भय के थप्पड़ मारा था। इसके विषय में उनका कथन है—"एक दिन रासमणि दक्षिणेश्वर में आयी। काली माता के मन्दिर में आयी। वह पूजा के समय आया करतीं और मुझसे एक दो गीत गाने को कहती थीं। मैं गीत गा रहा था देखा कि वह अनमनी होकर फूल चुन रही है। बस दो थप्पड़ जमा दिए। तब होश सँभाल कर हाथ बाँधे रही।"[३]

हनुमान् भाव में साधना.—कहा जाता है कि प्रथम दर्शन के पश्चात् श्री रामकृष्ण का ध्यान अपने कुल-देवता श्री रघुवीर की ओर आकृष्ट हुआ। दास्य भाव में होकर हनुमान जी की भाँति श्री रामचन्द्र जी का दर्शन किया जा सकता है यह सोचकर वे महावीर जी का भाव आरोप कर कुछ दिन के लिए इस साधना में भी लीन हुए थे। महावीर का निरन्तर चिन्तन करते हुए वे उनके आदर्श में इतने तन्मय हो गए थे कि उनको अपने अस्तित्व तथा व्यक्तित्व का बोध नहीं रह गया था। वे कहते थे :—

"उस समय आहार विहारादि सभी कार्य मुझे श्री हनुमान् जी की तरह करने पड़ते थे इसका तात्पर्य यह नहीं कि मैं इच्छापूर्वक उन कार्यों को किया करता था। किन्तु अपने आप ही वैसा हो जाता था। पहनने के वस्त्रों को पूछ की तरह लपेट कर मैं अपनी कमर में बाँधता था उछल कूद कर चलता था फल मूलादि के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं खाता था तथा छिलके निकाल कर फल खाने की मेरी प्रवृत्ति नहीं होती थी, पेड़ के ऊपर ही अधिक समय बिताया करता था, और गम्भीर स्वर से "रघुबीर, रघुबीर" कहकर निरन्तर मैं उनको पुकारता रहता था। उस समय मेरी आँखें सदा चंचल रहती थी तथा आश्चर्य है कि उस समय मेरी रीढ़ की हड्डी का अन्तिम छोर भी लगभग एक इंच बढ़ गया था।"

उनकी इस बात को सुनकर भक्तों ने पूछा था—"महाशय, आप के शरीर का वह अंग क्या अब भी उसी प्रकार है?" उत्तर में उन्होंने कहा था" नहीं, मन

---

१. वही, पृष्ठ ९४।

२. जिन्होंने दक्षिणेश्वर में काली मन्दिर की स्थापना कराई थी और श्री रामकृष्ण को पुजारी पद पर रखा था।

३ वही पृष्ठ ९४

है ऊपर से उस भाव का प्रभुत्व हट जाने के बाद धीरे-धीरे वह पहले के समान स्वाभाविक आकार का पुनः हो गया।"[१]

श्री रामकृष्ण ने वात्सल्य भाव की साधना मे "जटाधारी"[२] मे दीक्षा ग्रहण की थी। जिन्होंने श्री रामलला नामक श्री रामचन्द्र जी का बाल-विग्रह उन्हें प्रदान किया था। इस विग्रह को लेकर उनकी साधना बडे अनोखे ढग से होती थी। रात दिन उसको अपने साथ रखते, नहलाते खिलाते, लेकर घूमते रहते थे। उनका कथन है कि—

"जब मन लीला मे उतर आता था तब कभी-कभी दिन रात मैं सीताराम की चिन्ता किया करता था। और सदा मुझे सीताराम के रूप भी दीख पडते थे। रामलला (जो अष्ट धातुओं की बनी हुई मूर्ति थी) को लिए सदा मैं घूमता था कभी उसे नहलाता था कभी खिलाता था।"[३]

अनाहत शब्द सुनना:—श्री रामकृष्ण ने तन्त्र साधना भी की थी। इसके अन्तर्गत अनाहत शब्द के सुनने की भी चर्चा आती है। स्वामी शारदानन्द जी का कथन है कि "ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत हमे जो पृथक-पृथक ध्वनि सुनाई देती है वे ही सब एक साथ मिलकर एक विराट् प्रणव ध्वनि के रूप में प्रतिक्षण जगत् में सर्वत्र स्वतः उदित हो रही है—श्री रामकृष्ण ने उस समय इसका अनुभव किया था। हममे से किसी का यह कहना है कि उस समय वे पशु-पक्षी आदि मनुष्य-तर प्राणियों की ध्वनि के यथार्थ अर्थ को समझ सकते थे। यह बात उन लोगो ने श्री रामकृष्ण के श्री मुख से सुनी है।[४]

श्री रामकृष्ण ने स्वयं कहा है कि "ॐ" शब्द "ब्रह्म" है, ऋषि मुनि लोग उसी शब्द को प्राप्त करने के लिए तपस्या करते है। सिद्ध होने पर साधक सुनता है कि नाभि से वह शब्द स्वयं ही उठ रहा है—अनाहत शब्द।"[५]

निर्विकल्प समाधि की दशा.—वेदान्त साधना के समय उनको निर्विकल्प समाधि भी हुई थी। उस समय की उनकी शारीरिक और मानसिक दशा का

---

१. श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग, प्रथम भाग, पृष्ठ २३८।
२. एक रामायत पंथी साधु, जो सम्भवतः सन् १८६४ में श्री रामकृष्ण देव के समीप पधारे थे, और जिन्होंने उनको वात्सल्य भाव की साधना के लिए रामलला नामक श्री रामचन्द्र जी की बालमूर्ति प्रदान की थी।
३. श्री रामकृष्ण वचनामृत, भाग तृतीय, पृष्ठ ९६।
४. श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग, प्रथम भाग, पृष्ठ २९९–३००।
५. श्री रामकृष्ण वचनामृत, द्वितीय भाग, पृ० ६१।

परिचय मिलता है।' तोतापुरी ने प्रयासपूर्वक श्री रामकृष्ण को निर्विकल्प समाधि के लिए तैयार किया। समाधि अवस्था के लिए प्रथम प्रयास में विफल होने पर तोतापुरी ने एक काँच के टुकडे को लेकर उसके अग्र भाग पर ध्यान लगाने को कहा। इसके विषय मे उनका कथन है—"तब पुन: दृढ़ संकल्प ही में ध्यान करने बैठा तथा श्री जगदम्बा की मूर्ति पहले की भाति मन में उदित होते ही ज्ञान को खड्ग के रूप मे कल्पना कर उसके द्वारा उस मूर्ति को मैंने मन ही मन दो टुकडे कर डाला, फिर मेरे मन मे और कोई विकल्प न रहा, तब तीव्र गति से मेरा मन समग्र नाम-रूप राज्य के परे चला गया और मुझे समाधि लग गई।[2]

"ओह ! मुझे भी कैसी-कैसी मानसिक परिस्थितियों मे से होकर गुजरना पडा। मेरा मन कभी निराकार परमेश्वर में लीन हो जाता था। कितने ही दिन मैंने इस अवस्था में बिताए। मैंने भक्ति और भक्त का भी त्याग कर दिया था। मैं जड़वत् हो गया था। मुझे अपने सिर तक का ध्यान नहीं था। मैं मरणासन्न हो गया था।—मैंने अपने कमरे से सभी चित्रों को हटाने के लिए कह दिया। जब मुझे बाह्य ज्ञान प्राप्त हुआ और जब मेरा मन उस अवस्था से उतरकर साधारण अवस्था पर आ गया तो मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि मानों एक डूबते हुए मनुष्य के समान मेरा दम घुट रहा हो। अन्त मे मैंने अपने मन मे कहा "मैं तो लोगो का अपने पास रहना भी नही सह सकता हूँ। फिर मैं जीवित कैसे रहूँगा ? तब मेरा मन फिर एक बार भक्ति और भक्त की ओर झुक गया। मैं लगातार लोगो से यही पूछता था कि मुझे क्या हो गया है ! भोलानाथ[3] ने मुझसे कहा "आप की मानसिक स्थिति का वर्णन महाभारत मे है"। समाधि अवस्था के बाद फिर भला मनुष्य कैसे रह सकता है। निश्चय ही उसे ईश्वर-भक्ति की आवश्यकता होती है- तथा ईश्वर-भक्तों का संग। नही तो वह अपना मन किस बात मे लगाएगा ?[4]

कहते है कि श्री रामकृष्ण छः माह तक निर्विकल्प समाधि की स्थिति मे रह

---

१. निर्विकल्प समाधि की साधना परिव्राजकाचार्य तोतापुरी द्वारा पूर्ण हुई। तोतापुरी मध्य भारत से भ्रमण करते हुए बंग देश में आये थे, वे निर्विकल्प समाधि द्वारा ब्रह्म-साक्षात्कार कर चुके थे।

२. श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग, प्र० भाग, पृष्ठ ३७१।

३. दक्षिणेश्वर मन्दिर के एक मुन्शी।

४ श्री भाग तृतीय, पृष्ठ १३८।

चुके है। इसके पश्चात् उनकी स्थिति "भाव मुख" रहने की रही। उनको बार-बार भाव समाधि हुआ करती थी।

मधुर भाव साधना—मधुर भाव की साधना में भी श्री रामकृष्ण के अनुभव और व्यवहार बडे ही विचित्र रहे है। प्रत्येक साधना के पीछे उनका उद्देश्य रहा है। इसी को लक्ष्य करते हुए उन्होंने कहा है कि—"जितेन्द्रिय किस तरह हुआ जाय? अपने में स्त्री का भाव आरोप करना पडता है। मैं बहुत दिनों तक सखी भाव मे था। औरतों जैसे कपडे और आभूषण पहनता था, देह भी ढकता था। नहीं तो स्त्री (पत्नी) को आठ महीने तक पास रखा कैसे था। हम दोनों ही माँ की सखियाँ थे।"

"मैं अपने को 'पु' (पुरुष) नहीं कह सकता था। एक दिन मैं भाव मे था उसने (श्री रामकृष्ण की धर्मपत्नी ने) पूछा कि मैं तुम्हारी कौन हूँ? मैने कहा आनन्दमयी।"[1]

मधुर भाव की साधना में श्रीकृष्ण के प्रेम मे वे मतवाले थे। राधा की तरह उनको अतीव विरह थी। लीला प्रसगकार के अनुसार—"यह विरह—उनमे केवल विशेष यातना के कारणस्वरूप मानसिक विकार के रूप मे ही प्रकट होकर शान्त नहीं हो गया था किन्तु साधन कालीन पूर्वानुभूत अत्यन्त दुस्सह शारीरिक ताप तथा सन्तप्तता के रूप में पुन प्रादुर्भूत हुआ था। श्री रामकृष्ण देव के श्री मुख से हमने सुना है कि श्रीकृष्ण विरह के प्रभाव से उस समय उनके शरीर के रोम कूपों से समय-समय पर रक्त की बूंदे टपका करती थी। शरीर की ग्रन्थियाँ भग्नप्राय तथा शिथिल दिखाई देती थीं। एवं हृदय की असह्य यातना से इन्द्रियवर्ग के अपने-अपने कार्यों से एकदम विरत हो जाने के कारण शरीर कभी-कभी मृत जैसा निश्चेष्ट तथा सज्ञा शून्य होकर पड़ा रहता था।[2]

प्रकृति भाव के चिन्तन में वे तब इतने तन्मय हो चुके थे, कि स्वप्न अथवा भ्रमवश भी अपने बारे में उन्हे कभी पुरुष ज्ञान का उदय नहीं होता था, एव स्त्री-शरीर की भाँति समस्त कार्यों मे उनके शरीर तथा इन्द्रिय समूह स्वत ही प्रवृत्त होने लगे थे। हमने स्वयं उनके श्रीमुख से सुना है कि स्वाधिष्ठानचक्र वाले भाग के सभी रोमकूपों से उन दिनों उनका प्रति मास नियत समय पर शोणित स्राव होता था, तथा स्त्री-शरीर की तरह प्रत्येक बार तीन दिन तक वह जारी रहता था। उनके भानजे हृदयराम ने हमसे कहा है कि उन्होंने अपनी आँखो

---

१. श्री रामकृष्ण वचनामृत, द्वितीय भाग, पृष्ठ ४४५।

२ श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग प्रथम भाग, पृ० ३४१।

से उसे देखा है तथा पहनने के वस्त्र कहीं खराब न हो जाए, इसलिए श्री रामकृष्ण देव को उस समय कौपीन धारण करते हुए भी उसने देखा है।[1]

विभिन्न शास्त्रीय साधनाओं को पूर्ण कर लेने के पश्चात् अन्य धर्मों में भी साधना के लिए श्री रामकृष्ण जी प्रवृत्त हुए और उन धर्मों के प्रवर्तकों का दर्शन भी किया। इस्लाम धर्म-साधना के उनके अनुभव और आचरण उल्लेखनीय हैं। सूफी मत के साधक गोविन्द राम जी से इस्लाम धर्म की दीक्षा लेकर वह मुसलमान की तरह रहन-सहन रखते थे। "तब मैं "अल्ला" मन्त्र का जाप किया करता था, मुसलमानों की तरह लाग खोल कर धोती पहनता था, पाँच बार नमाज पढ़ता था और उस समय मेरे मन से हिन्दुत्व का भाव एकदम विलुप्त हो जाने के कारण हिन्दू देव-देवियों को प्रणाम करना तो दूर रहा उनके दर्शन करने तक की प्रवृत्ति नहीं होती थी। इस प्रकार तीन दिन बीतने के बाद मुझे उस मत का साधन-फल सम्यक् रूप से हस्तगत हुआ था। यही नहीं साधना के समय उनको मुहम्मद साहब का दर्शन दाढ़ीयुक्त पुरुषप्रवर के रूप में भी हुआ था।[2]

इसी प्रकार ईसामसीह का भी उनको दर्शन हुआ।[3] बुद्ध देव, जैन तीर्थंकरों तथा सिक्ख धर्म के गुरुओं के प्रति उनकी निष्ठा रही। उनके कमरे में इन महापुरुषों के चित्र रखे रहते थे जिनको धूपदान दिया जाता था।[4]

अन्त में उनकी साधना से सम्बन्धित दो बातों का उल्लेख करना अनुचित न होगा। प्रथम यह कि अद्वैत भूमि में जब एक बार उनका मन पहुँच गया तब द्वैत में आने पर भी एकाएक कभी-कभी यहाँ की वस्तुओं, विषयों को देख कर उनका मन पुनः अद्वैत भूमि में विलीन हो जाता था। उद्दीपन मात्र से ही उनको बिना सकल्प के ही ऐसा देखा गया है। विशेष बात तो यह है कि इस अवस्था में होने के कारण उनके शरीर मे परिवर्तन भी हो जाया करते थे। इसके विषय मे कई दृष्टान्त है :—

१—एक वृद्ध घसियारा जो अपना बोझ उठा नहीं पा रहा था, उसे देख कर यह सोचते हुए कि "भीतर पूर्ण-ज्ञान स्वरूप आत्मा के विद्यमान रहते हुए

---

१. वही, पृष्ठ ३५३।
२. वही, पृ० ३८३–३८४।
३. वही, पृष्ठ ४३६।
४ वही, पृष्ठ ४३७–४३९।

भी बाहर ऐसी निर्बुद्धिता, इतना अज्ञान, हे राम तुम्हारी यह क्या विचित्र लीला है। इस प्रकार कहते हुए वे समाधि में लीन हो गये"।[1]

२—इसी प्रकार एक पतिंगे के मलद्वार में एक लम्बी सींक बिधी हुई देख कर पहले बड़े दुखी हुए 'किन्तु दूसरे ही क्षण भावाविष्ट होकर 'हे राम, तुमने स्वयम् ही अपनी यह दुर्दशा की है"—यह कहते हुए खिलखिलाकर वे इस प्रकार हँसने लगे कि चारों ओर हँसी गूज उठी।"[2]

३—पद्दलित नवदुर्वादल को देखकर उनके हृदय में कैसी व्याकुलता हुई थी, उसका उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा था "छाती पैर पर रखकर किसी के चले जाने से जो कष्टानुभव होता है, उसी समय मुझे भी ठीक उसी प्रकार का कष्ट हुआ था। इस प्रकार की भावावस्था बहुत ही वेदनादायक है, छ घण्टे तक मुझमे वह स्थायी हुई थी, उससे मैं घबड़ा उठा था।"[3]

४—नाव पर दो मल्लाहो को आपस में मार-पीट करते देखकर श्री रामकृष्ण को अपने शरीर पर चोट का अनुभव हुआ था। सबल व्यक्ति को दुर्बल व्यक्ति के पीठ पर मारते हुए देखकर श्री रामकृष्ण चीख कर रो उठे। हृदय राम ने उनके क्रन्दन को सुन कर देखा कि उनकी पीठ आरक्त हो उठी है तथा सूज गयी है।[4]

दर्शन (विजन).—दूसरी बात जो उल्लेखनीय है वह यह कि श्री रामकृष्ण को साधना के समय विचित्र अनुभवों के साथ ही साथ विचित्र दर्शन भी हुए थे।

चेतन सत्ता का दर्शन:—"ईश्वर के चैतन्य से जगत् चैतन्यमय है। कभी-कभी देखता हूँ कि छोटी-छोटी मछलियो में वही चैतन्य घूम फिर रहा है'।

"कभी-कभी देखता हूँ कि वर्षा में जिस प्रकार पृथ्वी जल से ओत-प्रोत रहती है, उसी प्रकार इस चैतन्य से जगत ओत-प्रोत है"।[5]

"मैंने एक दिन देखा कि एक ही चैतन्य सर्वत्र है—वही भेद नहीं है। पहले (ईश्वर ने) दिखाया कि बहुत से मनुष्य और जानवर है—उनमें बाबू लोग हैं, अग्रेज और मुसलमान है, मै स्वय हूँ, मेहतर है, कुत्ता है, फिर एक दढ़ियल मुसलमान है उसके हाथ मे एक छोटी थाली है जिसमें भात है उस छोटी

---

१. वही, पृ० ३८६।

२. वही, पृ० ३८६।

३. वही, पृष्ठ ३८६'।

४. श्री रामकृष्ण वचनामृत, प्रथम भाग, पृष्ठ ३८५।

५. वही, पृष्ठ ४२३।

थाली का भात वह सब के मुँह मे थोड़ा-थोड़ा दे गया। मैंने भी थोड़ा-सा चखा।"

अभेद—"एक दूसरे दिन दिखाया कि विष्ठा-मूत्र अन्न-व्यंजन तरह-तरह की खाने की चीजें पड़ी हुई है। एकाएक भीतर से जीवात्मा ने निकल कर आग की लौ की तरह सब चीजों को चखा—मानो जीभ हिलाते हुए सभी चीजो का एक बार स्वाद ले लिया, विष्ठा, मूत्र, सब कुछ चखा। इससे (ईश्वर ने) दिखा दिया कि सब एक है—अभेद है।"[1]

मूर्ति दर्शन—"मैंने गौराग के साँगोपागो को देखा था, भाव मे नहीं, इन्हीं आँखो से। पहले ऐसी अवस्था थी कि सादी दृष्टि से सब दर्शन होते थे। अब भाव मे होते हैं।"

'मैंने एक दिन काली घर से पंचवटी तक एक अद्भुत मूर्ति देखा। इस पर तुम्हारा विश्वास होता है?"[2]

"मुझे माँ ने काली मन्दिर में दिखलाया कि माँ ही सब कुछ हुई है। दिखाया सब चिन्मय है। प्रतिमा चिन्मय है। संगमरमर पत्थर सब कुछ चिन्मय है।"

"मन्दिर के भीतर मैंने देखा सब मानो रस मे भरपूर है सच्चिदानन्द-रस से। भीतर उनकी शक्ति जलती हुई देखी।"

"इसलिए मैंने बिल्ली को उनके भोग की पूड़ियाँ खिलाई थीं। देखा, माँ ही सब कुछ हुई है—बिल्ली भी।"

"उन्हे पा जाने पर यह सब ठीक-ठीक दीख पड़ता है वही जीव जगत, चौबीसों तत्त्व—यह सब हुए है।"

"मैंने सीता मूर्ति के दर्शन किये थे। देखा, सब मन राम मे ही लगा हुआ है। योनि, हाथ, पैर, कपडे-लत्ते, किसी पर दृष्टि नहीं है। मानो जीवन ही राममय है—राम के बिना रहें, राम को बिना पाये, जी नही लगता।"[3]

"मैं भी वृन्दावन गया था, मथुर बाबू के साथ।[4] मथुरा का ध्रुव घाट मैंने देखा, उसी समय दर्शन हुआ, वसुदेव श्री कृष्ण को गोद मे लेकर यमुना पार कर रहे हैं।" फिर शाम को यमुना के तट पर टहल रहा था। बालू पर छोटे-छोटे झोपड़े थे, बेर के पेड़ बहुत हैं। गोधूलि का समय था, गौएँ

१. वही, पृष्ठ ४२३।
२. वही, पृष्ठ ५३५—५३७।
३. वही, पृष्ठ ५६४—५६५—५६६।
४. रानी रासमणि के जामाता।

चरागाह से लौट रही थी। देखा, उतरकर यमुना पार कर रहा है। इसके बाद कुछ चरवाहे गौओं को लेकर पार होने लगे। ज्यों ही देखा कि "कृष्ण कहाँ है ? कहकर बेहोश हो गया।"[1]

"उन्होंने मुझे सब कुछ बता दिया है—कितनी बातें दिखाई हैं"। ईसा का दर्शन भी उनको हुआ था, जिसका उल्लेख किया जा चुका है।

"एक दिन दिखाया चारों ओर शिव और शक्ति। शिव और शक्ति का रमण। मनुष्यों, जीव-जन्तुओं, वृक्षों और लताओं—सभी में वही शिव और शक्ति-पुरुष और प्रकृति-सर्वत्र इन्हीं का रमण।"

"दूसरे दिन दिखाया कि नर-मुण्डों की राशि लगी हुई है। पर्वताकार और कहीं कुछ नहीं। उनके बीच में मैं अकेला बैठा हुआ हूँ।"[2] कभी-कभी देखता था तमाम संसार जलता हुआ अंगार है।[3]

ज्योति दर्शन—ज्योति दर्शन के विषय में कहा है—"वह एक उजाला आ रहा है, मैं देख रहा हूँ—परन्तु किस तरफ से आ रहा है, अभी तक कुछ समझ में नहीं आता।"

शक्ति और सिद्धि प्राप्ति के सम्बन्ध में माँ ने क्या दर्शन कराया और इसके सम्बन्ध में उनका कथन है—"माँ ने दिखलाया—एक बूढ़ी वैश्या, उम्र चालीस की होगी, सामने से आकर मेरी ओर पीठ करके पाखाना करने लगी। माँ ने दिखलाया, विभूति इसी बूढ़ी वेश्या की विष्ठा है।"

नरेन्द्र (स्वामी विवेकानन्द जी) के इस कथन पर कि ये सभी दर्शन उनके मन के भ्रम थे, श्री रामकृष्ण ने कहा "क्यों रे वे बात-चीत जो करते हैं। नरेन्द्र ने कहा "मनुष्य ऐसा ही सोचता है"। तब माँ के पास आकर मैं रोने लगा। कहा, "माँ यह क्या हुआ?—क्या सब झूठ है। नरेन्द्र ऐसी बाते कहता है।" तब माँ ने दिखलाया, चैतन्य-अखण्ड चैतन्य-चैतन्यमय रूप। और उन्होंने कहा "अगर ये बातें झूठ होंगी, तो ये सब मिलती किस तरह है।"[4]

"ईश्वर के कितने रूपों के दर्शन हो चुके हैं कुछ कहा नहीं जा सकता। उस समय मुझे पेट की सख्त बीमारी थी। और वह उन सब दर्शनों के समय

---

१. वही, पृष्ठ ६०१।

२. श्री रामकृष्ण वचनामृत, द्वितीय भाग, पृष्ठ ७–११, ४७।

३. वही, पृष्ठ १२०, ३३१, ३३२।

४ श्री वचनामृत तृतीय भाग, पृष्ठ ८१ ९९–१०१, १४९।

और भी अधिक बढ जाती थी। इसलिए जब मुझे वे दर्शन होते थे तब मैं उनपर "थू थू" करने लगता था।—परन्तु वे तो मेरे पीछे भूत के समान लग जाते थे। इन रूपो के भावावेश में मैं मस्त रहा करता था और रात-दिन न जाने कहाँ बीत जाते थे। दूसरे दिन फिर दस्त आने लगते थे।"[१]

ज्योति और माया का भी तालाब तथा काई के रूप मे दर्शन हुआ।[२]

ईश्वरीय रूप तथा भागवती मूर्ति के रूप मे उन्होंने शून्य का भी दर्शन किया।[३]

मनोवैज्ञानिक पर्यालोचना

अब तक हमने श्री रामकृष्ण के आध्यात्मिक अन्वेषण से सम्बन्धित विभिन्न तथ्यों यथा ईश्वर के प्रति व्याकुलता, साधना, दर्शन आदि को देखने का प्रयास किया। इन तथ्यों की मनोवैज्ञानिक पर्यालोचना के लिए अब हम क्रमशः ग्रहण करेंगे।

आध्यात्मिक अन्वेषण के लिए रहस्यवादी मे सर्व प्रथम जो व्याकुलता या विरह की अवस्था पायी जाती है उसे धर्म मनोविज्ञान के पण्डितों ने परिवर्तन (कनवर्जन) की संज्ञा प्रदान की है। जिसका अर्थ होता है धार्मिक चेतना की जागृति और इस अवस्था मे सावेगिक व्यवधान तथा शारीरिक क्लेश सामान्य रूप मे दृष्टिगोचर होते हैं। सेलेबी ने इस अवस्था की ओर सकेत करते हुए कहा है कि इस अवस्था में विभाजित एवं असन्तुष्ट 'अहं' धार्मिक इच्छा, विचार और प्रेरणा मे सन्तुष्ट तथा एकीकृत हो जाता है।[४] जेम्स ने इसे पुनर्जीवन की संज्ञा दी है। दूसरे अर्थ मे धार्मिक विचार जो पहले चेतना के छोर पर थे अब केन्द्र मे आ जाते है।[५] इसमे व्यक्ति का नया जीवन होता है। पहली अवस्था से वह भिन्न होता है। अधिकांशतः रहस्यवादियो के विरहोन्माद की अवस्था की व्याख्या मनोवैज्ञानिक, परिवर्तन के सिद्धान्त के आधार पर ही करते है। प्रश्न है—जीवन मे यह अवस्था (परिवर्तन की) कब और क्यो आती है ? इसके विषय मे मनोवैज्ञानिको की विभिन्न धारणाएँ है। स्टैनले

---

१. वही, पृष्ठ २१९–२२०।
२. वही, पृष्ठ २५०–२५१।
३. वही, पृष्ठ ३२४।
४. सेलेबी, द साइकॉलाजी ऑफ रिलीजन, पृष्ठ १८७ तथा जेम्स, वैराइटीज ऑफ रिलीजस एक्सपीरिएन्स, पृष्ठ १८६।
५ वही पृष्ठ १९५

हाल तथा स्टारबुक के मतानुसार यह अवस्था किशोरा अवस्था से मिलती-जुलती है। इनका कहना है कि परिवर्तन की अवस्था अधिकाश रूप में बीस और पचीस वर्ष की आयु में आती है। उनके अनुसार जो भी परिवर्तन इस अवस्था में होते है वह शारीरिक और मनोवैज्ञानिक परिवर्तन के ही कारण है।

इस अवस्था के कारणो पर जेम्स, ल्यूबा, तथा स्टारबुक के विचार उल्लेखनीय है। जेम्स तथा स्टारबुक ने इसके लिए निम्नलिखित कारणो का उल्लेख किया है—

अपूर्णतया या न्यूनता की भावना, अधिक चिन्तनशीलता, निराशा, दूषित या अस्वस्थ अन्तंदर्शन, पाप की भावना, परलोक के विषय मे चिन्ता तथा शंका से क्लेश की भावना।[1]

डा० ल्यूबा ने परिवर्तन के मनोविज्ञान पर अपने एक लेख[2] मे नैतिक पक्ष पर विशेष बल देते हुए बताया है कि व्यक्ति में अपूर्णता की भावना, नैतिक अपूर्णता, पाप की भावना, एकाकार से प्राप्त शान्ति के लिए इच्छा ही इस अवस्था के मूल कारण हैं। वह धर्म के विषय में कहता है कि धर्म पाप से बचने की इच्छा तथा सवेग को अपने अन्दर अधिक से अधिक पैदा करना है।

सेलेबी ने भी स्टारबुक के विश्लेपणात्मक अध्ययन के आधार पर परिवर्तन मे प्राप्त तथ्यों का उल्लेख किया है, जिनमे से कुछ का कुछ व्यक्तियो के लिए होना स्वीकार किया है कुछ का नही, जैसे भय, आत्म सम्मान की प्रेरणा, परोपकार की भावना, नैतिक आदर्शों का अनुसरण, पाप और पश्चात्ताप की भावना, शिक्षण के प्रति प्रतिक्रिया, अनुकरणशीलता, तथा अन्य सामाजिक प्रभाव।[3] कुछ अन्य मनोवैज्ञानिको ने धार्मिक जगत् मे पदार्पण के लिए असुरक्षा की भावना को भी महत्त्व दिया है। असुरक्षा की भावना बचपन में पिता के सरक्षण और निर्देशन से दूर होती है और बाद मे ईश्वर के ऊपर इस भावना

---

१. वही, पृष्ठ, १९५।

२. स्टडी इन द साइकॉलाजी ऑफ रिलीजस फेनामेना, अमेरिन जर्नल ऑफ साइकॉलाजी ७, ३०९ (१८९६), पृष्ठ १९७। जेम्स वैराइटीज ऑफ रिलीजस एक्सपीरिएन्स, पृ० १९७ पर उद्धृत।

३ सेलेबी द साइकॉलाजी ऑफ रिलीजन पृष्ठ १९३

का आरोपण होता है। ईश्वर मे ही भावी-जीवन की सुरक्षा का अनुभव करते है।[1] फ्रायड का पितृ ग्रन्थि इस धारणा का वृहद रूप है।

थुले ने भी रहस्यवादियो के परिवर्तन की इस अवस्था के विषय मे अपनी धारणा दूसरे रूप मे व्यक्त की है। उसका कहना है कि रहस्यवादी 'लिबिडो' को बाह्य संसार से इसलिए परिवर्तित करता है कि वह पूर्णरूपेण ईश्वर की ओर उन्मुख हो जाय। थुले ने यहाँ लिबिडो को फ्रायड के अर्थ मे न लेकर युग के "मन ऊर्जा" या बर्गसा के 'एलान' के रूप में लिया है।[2]

इन मनोवैज्ञानिको द्वारा प्रतिपादित परिवर्तन की अवस्थाओं, तथ्यों तथा नियमों का यदि आलोचनात्मक दृष्टि से अध्ययन किया जाय तो यही ज्ञात होता है कि कुछ तथ्यो तो किसी अवस्था मे सत्य सिद्ध हो सकते है परन्तु सभी के लिए सभी अवस्था मे समुचित नहीं है। विशेष रूप में उच्च स्तर के रहस्यवादियो की धार्मिक व्याकुलता की व्याख्या इन आधारो से करने मे कठिनाइयाँ उत्पन्न होती है। स्टेनले हाल तथा स्टारबुक के मतानुसार तो परिवर्तन या ईश्वर के प्रति तीव्र अनुराग की अवस्था बीस या पचीस वर्ष की अवस्था मे ही आती है जो कि किशोरावस्था के शारीरिक तथा मानसिक परिवर्तन के कारण सम्भव होता है। परन्तु उनका यह तर्क उचित नही जान पडता। क्योकि बहुत से रहस्यवादियो के ऐसे भी उदाहरण प्राप्त होते है जिनमें यह परिवर्तन किशोरावस्था मे न होकर बहुत बाद मे हुआ है इसके उदाहरण सेन्ट पाल, सेन्ट आगस्टाइन तथा टालस्टाय जी हैं। इसलिए परिवर्तन दो अवस्थाओं मे विभाजित है—प्रौढा तथा किशोरावस्था में, और दोनो की मानसिक अवस्था भिन्न होती है।[3] इसके विपरीत ऐसे रहस्यवादी हुए है जिनके जीवन में परिवर्तन का कोई प्रश्न ही नहीं है। क्राइस्ट, बुद्ध, नानक तथा श्री रामकृष्णदेव की यह अवस्था बचपन से ही परिलक्षित होती है। इनके विषय मे यह नहीं कहा जा सकता कि किसी विशेष समय से एकाएक सभी परिवर्तन उपस्थित हुए। बुद्ध का बचपन में जम्बू-वृक्ष के नीचे समाधि प्राप्त करना, नानक का एकान्त मे ही बचपन मे चिन्तन करना तथा श्री रामकृष्ण का छ वर्ष की अवस्था में समाधि मे लीन होना क्या परिवर्तन की अवस्था को सूचित करता है। बाह्य संसार में लोगों की रहस्यवादी यह अवस्था सामान्य से भिन्न एक नये रूप में जान

---

१. गेरेल्डिन कास्टर, योग एण्ड वेस्टर्न साइकॉलाजी, पृ० ४८।
२. राबर्ट एच० थुले, द साइकॉलाजी ऑफ रिलीजन, पृष्ठ २१२।
३ वही पृष्ठ, १८७।

पड़ती है परन्तु स्वयं उनके लिए कोई नयी जागृति नहीं। उनका जीवन देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि चैतन्योदय होते ही वे ईश्वर-प्रेम में लीन हो जाते हैं।

इसीलिए तो थुले ने किशोरावस्था के परिवर्तन को अलग करके प्रौढावस्था के परिवर्तन को भी दो वर्गों में बाँटा है जिनकी जड़ विभिन्न मानसिक प्रक्रियाओं में निहित है। ऐसा नहीं हो सकता कि दोनों के लिए हम एक ही मानसिक कारण मानें। वे अवस्थाएँ हैं---१: साधारण परिवर्तन (अधार्मिक जीवन से धार्मिक जीवन का होना)। २- रहस्यात्मक परिवर्तन (अर्थात् साधारण धार्मिक जीवन से रहस्यवादी जीवन होना)।[१]

यद्यपि थुले द्वारा वर्णित प्रौढावस्था के परिवर्तन का सम्बन्ध उच्चस्तर के रहस्यवादी से मिलता है, परन्तु उच्चस्तर के रहस्यवादी तो उससे भी भिन्न प्रतीत होते है। क्योंकि उनमें तो यह सतत् सजग अवस्था होती है और विकास के क्रम मे उच्चावस्था में पहुँच जाती है। यह अवस्था, किशोर या साधारण प्रौढ़ अवस्था के परिवर्तन की तरह एकाएक नहीं होती। उच्चस्तर के रहस्यवादियो के विषय मे यही सत्य भी प्रतीत होता है।

परन्तु अन्य मनोवैज्ञानिकों ने तो परिवर्तन के इस वर्गीकरण को नहीं स्वीकार किया है। उन्होंने एक ही कसौटी पर सम्पूर्ण रहस्यवादियो (किशोरा-अवस्था के परिवर्तनों को तथा साधारण प्रौढ़ की अवस्थाओ को) लाने का प्रयास किया है। इसीलिए परिवर्तन की अवस्था के कारणो को सभी पर चरितार्थ करना चाहते हैं। दिये गये अनेक कारणों यथा पाप की भावना से बचने सुरक्षा प्राप्त करने तथा भय की भावना, ही सामान्य रूप से उनमे देखी जाती है।

मनोवैज्ञानिको की यह धारणा पूर्ण रूपेण चरितार्थ होती नहीं जान पड़ती। अन्य को छोड़ कर उच्चस्तर के रहस्यवादियों में ईश्वर-दर्शन की व्याकुलता, भय की भावना या पाप के प्रति पश्चात्ताप की भावना से नहीं उत्पन्न होती। "ऐसे मनुष्यों ने सत्य से प्रेम किया है सत्य के ही लिए और उसकी जो कुछ खोज या प्राप्ति वे कर सकते है उसके लिए उन्होने निर्धनता, यातना एवं साक्षात् मृत्यु तक अंगीकृत की है वे सदा उसकी तलाश करते रहने मात्र में भी सन्तुष्ट रहे हैं, उसका पता नहीं पा सके, फिर भी उन्होंने खोज कदापि नहीं छोड़ी। इससे क्या मतलब निकलता है? यही कि मनुष्य से, देश से, सत्य से और इनके अतिरिक्त अन्य वस्तुओ से भी उनकी निज की खातिर भी प्रेम किया जा सकता है।"[२]

१- वही- पृष्ठ १६१।

२ श्री अरविन्द पत्र भाग २ पष्ठ २९

अपने को अपने मे ही जानने मे भय की भावना की क्या आवश्यकता ? भक्ति की व्याकुलता प्रतिदान के लिए नही होती, भय से बचने के लिए ईश्वर-शरण मे नही जाया जाता। क्योंकि हममें से प्रत्येक मे वह दैवी प्रेम बीज रूप मे निहित है। हमारा सवेग पूर्ण स्वभाव ही यह प्रकट करता है कि दैवी प्रेम हमारे भीतर वर्तमान है।' 'रहस्यवादी दूसरो की दृष्टि मे इस संसार से भय-भीत होकर ईश्वर की ओर जाता हुआ प्रतीत होता है, परन्तु क्राइस्ट के शब्दो मे तो उसका मन वही लगेगा जहाँ उसका खजाना है।'[1] जहाँ तेरा धन है वहाँ तेरा मन लगा ही रहेगा।''[2] वह भक्ति अमृत स्वरूप है, जिस भक्ति को प्राप्त करके वह सिद्ध हो जाता है, तृप्त हो जाता है। भक्ति-भक्त के लिए ही होती है। वह कामना युक्त नही होती। किसी कारण से नहीं।[3]

यद्यपि गीता में चार प्रकार के भक्तो की चर्चा की गयी है[4]—आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु तथा ज्ञानी—जिसमे प्रथम दो प्रकार के भक्त किसी कारण से, कामना से ही भक्ति करते जान पड़ते हैं और यहाँ मनोवैज्ञानिकों के परिवर्तन सम्बन्धी सिद्धान्त लागू भी किये जा सकते है। (यद्यपि यह भी एक भक्ति का रूप ही है) परन्तु हमारा तात्पर्य 'ज्ञानी' से है। उच्चस्तर के रहस्यवादी इसी कोटि मे आते है।

जिस प्रकार थुले ने प्रौढ के साधारण परिवर्तन की अवस्था के पीछे कुछ द्वन्द्वों का महत्त्व बतलाया है—जैसे नैतिक, बौद्धिक तथा सामाजिक[5] अर्थात् साधारण परिवर्तन इन्हीं तत्त्वो का मन में पारस्परिक सघर्ष होने का प्रतिफल होता है। इन कारणों से ही निराश और भयभीत व्यक्ति के जीवन में धर्म के प्रति आकुलता दिखाई पड़ती है। सम्भवतः उसी प्रकार गीता के आर्त, अर्थार्थी तथा जिज्ञासु के विषय मे भी यही कहा जा सकता है और साथ ही जेम्स, स्टार-बुक तथा ल्यूबा के बताए गये कारणो को इनके परिवर्तन की अवस्था मे लागू कर सकते है। परन्तु ज्ञानी अथवा उच्चस्तर के रहस्यवादियों के विषय मे, ये कारण चरितार्थ नही होते। उनकी व्याकुलता केवल भक्ति के लिए है।

---

१. अखिलानन्द, हिन्दू व्यू ऑफ क्राइस्ट, पृष्ठ १०५।
२. मत्ती, ६, २१।
३. नारद भक्ति सूत्र, ३,४,७।
४. गीता, ७–१६।
५ थुले, द ऑफ रिलीजन पृष्ठ १६१

भक्ति क्यों ? इसका उत्तर पहले ही दिया जा चुका है कि भक्ति, भक्त के लिए। यह स्वभाव ही है। यह व्याकुलता मात्र भगवान् के लिए है। साधारण परिवर्तन में तो भय या नैतिकता या स्वार्थ की भावना का उन्नयन कुछ अंशों मे धार्मिक रूप मे हो जाता है, परन्तु उच्चस्तर के रहस्यवादियों के जीवन मे ईश्वर के प्रति व्याकुलता किसी भावना का उदात्तीकरण मात्र नही होता। वह तो सासारिक वस्तुओं से भिन्न अन्य कोटि मे ही आता है।

श्री रामकृष्ण ईश्वर-दर्शन के लिए जो इतने व्याकुल हुए थे, रुदन करते थे, वह निराशा, भय और यातना के कारण नहीं,केवल ईश्वर के लिए। यह उनके इस कथन से स्पष्ट हो सकता है—"स्त्री-पुत्रादि की मृत्यु अथवा जमीन-जायदाद के नष्ट होने पर लोग आँखो से घडो पानी बहाते है, पर ईश्वर का दर्शन हमें नही हुआ, इसके लिए क्या एक चल्लू भर पानी कभी किसी की आँखों से निकला है।[1] ऐसी व्याकुलता किसी कारण से नही ईश्वर-दर्शन के ही लिए होती है। ऐसी जैसे पानी में डूबने पर प्राण निकल रहे हों। श्री रामकृष्ण ने कहा है कि "ईश्वर-दर्शन के लिए जब प्राण डूबते उतराते हैं तब वह व्याकुलता होती है।"[2] अन्य किसी कारण से वह व्याकुलता ने नही होती।

जिस प्रकार लौकिक जगत् मे नौकरी छूट जाने पर व्याकुल होकर नौकरी के लिए आफिस-आफिस घूमते हैं, उसी प्रकार की व्याकुलता ईश्वर के लिए हो। 'व्याकुल होकर प्रार्थना करना। ईश्वर अपने है। उनमे कहना होता हैं तुम कसे हो। दर्शन दो—दर्शन देना होगा—तुमने मुझे पैदा क्यो किया।'[3] ऐसा विश्वास ऐसी दृढ प्रतिज्ञा की आवश्यकता होती है।

सत्य की प्राप्ति के लिए "बालक जैसा विश्वास, बालक माँ को देखने के लिए जिस तरह व्याकुल होता है वैसी व्याकुलता चाहिए।"[4]

श्री रामकृष्ण के उपरोक्त कथनो का विश्लेषण करने पर यही प्रतीत होता है कि ईश्वर के लिए व्याकुलता विश्वास के कारण होती है। जिसको जितना ही उस सत्ता मे विश्वास होगा, उसको पाने के लिए वह उतने ही दृढ़ निश्चय से प्रयास करेगा और उसके लिए उसमे व्याकुलता भी होगी। प्रश्न है—विश्वास

---

१. श्री रामकृष्ण, लीला प्रसंग, प्रथम भाग, पृष्ठ २३७।

२. श्री रामकृष्ण वचनामृत, भाग २, पृष्ठ २४०।

३. श्री रामकृष्ण वचनामृत, प्रथम भाग, पृष्ठ ४६।

४ वही पष्ठ ५४८

क्यों होता है ? इस प्रश्न का न कोई वैज्ञानिक कारण ही दिया जा सकता है और न तो इसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या ही की जा सकती है। यह तो दैनिक जीवन के उदाहरणों से भी समझा जा सकता है कि जिस व्यक्ति का जिस वस्तु में विश्वास हो जाता है, वह उस वस्तु को जानने या प्राप्त करने के लिए अवश्य व्याकुल होता है। श्री रामकृष्ण ने विश्वास जनित व्याकुलता का ही एक उदाहरण वचनामृत में इस प्रकार दिया है—"यदि किसी-चोर को यह विश्वास हो जाय कि जिस कमरे मे वह सोया हुआ है उसके ठीक बगल वाले कमरे में ही अतुल स्वर्ण-राशि है, तो उसको प्राप्त करने के लिए उसके हृदय मे अतीव व्याकुलता होगी। फिर वह रात भर सो नहीं सकता।"

अतः निश्चित है कि रहस्यवादी की व्याकुलता का कारण उसका सत्ता में अटूट विश्वास है, न कि भय, असुरक्षा या निराशा।

बुद्ध को व्याकुलता हुई। भय और पाप की भावना या असुरक्षा की भावना से नहीं। क्या कमी थी उनके जीवन में ? रोग, शोक, उद्दीपन हो सकते है, परन्तु सत्य के प्रति व्याकुलता बाह्य नहीं आन्तरिक होती है। यदि श्री राम-कृष्ण के इस कथन पर कि "वे हमारे माँ-बाप है, पैदा किया है, तो दर्शन अवश्य देंगे", फ्रायड के पितृ-ग्रन्थि के विचार का आरोपण किया जाय तो यह समीचीन नहीं जान पड़ता। क्योंकि बुद्ध मे सत्ता के प्रति व्याकुलता थी। बोध के प्रति व्याकुलता थी। ईश्वर की साकार कल्पना वहाँ नहीं। यही बात जैन धर्म मे भी पाई जाती है। यहाँ पितृ-ग्रन्थि का आरोप सम्भव नहीं।

मनोवैज्ञानिकों का यह कथन है कि "परिवर्तन मे पाप से बचने का संघर्ष होता है न कि पवित्रता प्राप्त करने के लिए, प्रयास, उच्चस्तर के रहस्यवादियों पर चरितार्थ नहीं होता। यह साधारण परिवर्तन की परिस्थिति में हो सकता है परन्तु इस स्तर पर इसकी कल्पना व्यर्थ ज्ञात होती है। जे० बी० प्रेट[1] ने भी इस पाप की धारणा को अस्वीकार किया है। उन्होंने श्री रामकृष्ण के ही उदाहरण को लेकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि "पाप की भावना" उनमे तनिक भी नहीं थी। यदि किसी रहस्यवादी मे हो तो वह अपवाद स्वरूप हो सकती है।[2] परन्तु हमारा तो यह कहना है कि इस अवस्था मे किसी भी उच्चस्तर के रहस्यवादी मे पाप की भावना की धारणा नहीं पायी जाती—पाप की भावना से 'प्रेम की धारणा' कैसे बन सकती है। वह प्रेम खोखला होगा

---

१. प्रेट, द रिलीजस कान्ससनेस, पृष्ठ १३१-१३२।

२ प्रट द रिलीजस कान्ससनेस, पृष्ठ १३१ १३२

जिसके उद्रेक मे "पाप" की बात निहित होगी। श्री रामकृष्ण ने सन्तान भाव से प्रेम का अपने को अधिकारी समझा था न कि पाप की भावना या यन्त्रणा से बचने की भावना से प्यार किया था। उनका कहना था "क्या मैने उनका नाम लिया है—मुझे पाप। मैं उनकी सन्तान हूँ—उनके ऐश्वर्य का अधिकारी हूँ।"[1] उनका कहना था कि जो मूर्ख होगा वही यह कहेगा कि मैं बद्ध हूँ "मैं पापी हूँ" ऐसा कहने से वास्तव में वह पापी हो जाता है।" सौ बार में पापी हूँ, मैं पापी हूँ, ऐसा कहने से वैसा ही हो जाता है। ऐसा विश्वास करना चाहिए कि उनका नाम लिया है—मेरा फिर पाप कैसा"।[2]

पाश्चात्य विचारको ने 'पाप की धारणा" पर अधिक जोर दिया है, क्योंकि ईसाई धर्म मे पाप को ही अधिक महत्व दिया जाता है। उनके अनुसार पाप से बचने के लिए ही ईश्वर से प्यार किया जाता है। पाश्चात्य आलोचक इसी भावना तथा धारणा मे पले होने के कारण ही इसको अधिक महत्त्व देते हैं"। भारतीय धर्मो में वैष्णव धर्म को छोड़ कर अन्यत्र इसकी धारणा नही प्राप्त होती। यदि धर्म को भौतिक जीवन तक ही सीमित न कर आध्यात्मिकता के अर्थ मे ले तो पाप की भावना निराधार सिद्ध हो सकती है, क्योंकि ऐसा धर्म भौतिक जीवन से ऊपर है। ऐसे धर्म मे इस प्रकार की धारणा का कोई महत्त्व नही है। यदि हम मनोवैज्ञानिको के "पाप की धारणा" को स्थान देते है तो हमे यह भी स्वीकार करना चाहिए कि अत्यन्त महान् सन्त अत्यन्त पाप की भावना से ओत-प्रोत हैं। परन्तु क्या यह सम्भव है कि जितने धार्मिक महापुरुष हुए है वे सब पापी रहे हैं। या उनका जीवन पापमय रहा है। हम समझते है कि महापुरूषों के इतिहास मे ऐसा कोई भी नही रहा होगा जो पापी रहा हो। उनका तो जीवन ही सदाचार, पवित्रता और प्रेम का पुंज होता है।[3]

मनोवैज्ञानिक, धार्मिक जागरण (परिवर्तन) और व्याकुलता के सम्बन्ध मे आत्म समर्पण की भावना को मुख्य स्थान देते हैं और कहते हैं कि इसके पीछे अवचेतन का महत्त्व होता है। नैतिकता तथा पाप की भावना के प्रति जो संघर्ष चलता रहता है वही व्याकुलता, शान्ति पाने की इच्छा तथा असन्तोष के रूप मे बाह्य जीवन में प्रकट होता है। इसीलिए रहस्यवादी आत्म समर्पण करते

---

१. श्री रामकृष्ण वचनामृत, प्रथम भाग, पृष्ठ १३८।

२. वही, पृष्ठ १६४।

३ जैकाब हेस वेस्टर्न साइकोथिरापी एण्ड हिन्दू साधना पृष्ठ ८८।

हैं। परन्तु यह धारणा समीचीन नहीं ज्ञात होती। धार्मिक व्याकुलता केवल आत्म समर्पण के ही लिए नहीं होती वरन् आत्मानुभूति के लिए होती है। आत्म-दान आत्मानुभूति की उच्चतम कसौटी है। यहाँ प्राप्ति की नहीं त्याग की आवश्यकता है। किसके लिए ऐश्वर्य के लिए नहीं, प्रभुत्व के लिए नहीं, वरन् स्वात्म ज्ञान के लिए। इसी विषय पर जेम्स ने 'विभाजित अहं" पर बल दिया है। उनका कहना है कि धार्मिक परिवर्तन असन्तोष तथा अप्रसन्नतापूर्ण अहं को सन्तोष और पूर्णता प्रदान करने का प्रयास है। अर्थात् निम्न अहं से उच्च अहं को प्राप्त करना लक्ष्य होना है। अपूर्णता की भावना पूर्णता में परिणत होना चाहती है। इसी के बीच 'आँधी और तूफान" का सामना करना पड़ता है। प्रेट ने श्री रामकृष्ण के इसी पक्ष का उदाहरण दिया है[२] और बताया है कि उनको ब्राह्मणत्व का अभिमान था परन्तु बाद में प्राणि मात्र को एक समान समझने लगे, सभी में एक ही सत्ता का आभास पाने लगे। प्रथम समय में अपने अभिमानपूर्ण अहं को उच्चावस्था में ले जाने के लिए उनको बड़ा तनाव का सामना करना पड़ा था। परन्तु प्रेट की इस धारणा से हम सहमत होने में असमर्थ है, क्योंकि उनको जितनी व्याकुलता काम-कांचन को त्यागने में, पाप-पुण्य के पालन में और शुद्ध-अशुद्ध के विचार को पूर्ण करने में नहीं थी, उतनी व्याकुलता ईश्वर-दर्शन के लिए थी। उनका संघर्ष या प्रयास आत्म दर्शन के लिए ही था। हाँ, सामाजिक वाह्य प्रभाव तो कुछ हो ही सकते है; परन्तु उनके बीच में पड़कर उन्होंने अपनी शक्ति का ह्रास नहीं किया था। काम की भावना के प्रति, उस पर विजय पाने के लिए उनके मन में कोई संघर्ष नहीं हुआ। क्योंकि प्रारम्भ से ही वे भावगत प्रेम से ओत-प्रोत थे। यदि अपने निम्न अहं से ही लड़ते रहते तो उनको इतनी उच्च उपलब्धि न हुई होती। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उस प्रेमास्पद की व्याकुलता में अहं की इन तुच्छ वासनाओं का कोई महत्व नहीं रहता और न साधक ध्यान ही देता है। पूर्णावस्था प्राप्त होने पर उनका विभाजित अहं अपने आप साम्यावस्था में पहुँच जाता है। तब वहाँ पाप-पुण्य, शत्रुता-मित्रता, शुचिता-अशुचिता एक समान हो जाते है। उच्चस्तर के रहस्यवादियों में विभाजित अहं पहले ही महत् को समर्पित हो जाता है। वह उनसे संघर्ष नहीं करता। उसकी सम्पूर्ण साधना प्रेम को प्राप्त करने में ही होती है। इसमें यदि निम्न अहं सिर उठाता भी है तो उस पर नियन्त्रण आवश्यक होता है। हम इस अहं को अस्वीकार नहीं कर रहे है परन्तु

---

२ प्रेट रिलीजस कान्सशनेस, पृष्ठ १३०—१३१।

यह भी नहीं स्वीकार कर पाएंगे कि उनका संघर्ष उच्च और निम्न अहं के बीच का ही संघर्ष था।[1] वह संघर्ष तो ईश्वर दर्शन की व्याकुलता मे लगे रहने का था। वही प्रधान लक्ष्य था, शेष गौण। यदि ऐसा न होता तो वे पाप की भावना को क्यो अस्वीकार करते ? प्रेट ने तो उनकी पाप की अस्वीकृति को स्वीकार ही किया है। फिर विभाजित अहं को लेकर उनके विषय मे कहना विरोधपूर्ण ज्ञात होता है। जेम्स के कथनानुसार तो अहं की पूर्णता ही साध्य ज्ञात पडता है परन्तु धार्मिक महापुरुषो के जीवन मे साध्य कुछ और ही है। वैराग्य, त्याग आदि तो साधन है।

धार्मिक व्याकुलता के विषय मे ल्यूबा ने इस विषय को अधिक महत्त्व दिया है कि साधक एक महान् सहायक की आकाक्षा से पीड़ित होकर व्याकुल होता है और उसकी व्याकुलता इस भावना से समाप्त हो जाती है कि उस महान् शक्ति ने सहायता कर दी।[2]

यदि ल्यूबा का कथन सासारिक वस्तुओं की 'सहायता' के विषय में है तो ठीक भी हो सकता है, परन्तु उच्चस्तर के रहस्यवादियो मे यह तर्क उचित नहीं ज्ञात पडता। क्योंकि श्री रामकृष्ण ने तो सासारिक वस्तुओ की कामना नही की थी। ऐहिक वस्तुओ की सहायता के लिए प्रार्थना नही की। उनका कथन है "मैंने माता के पास एक मात्र भक्ति की प्रार्थना की थी। —मैने कहा था "माँ, यह लो तुम अपना ज्ञान और यह लो तुम अपना अज्ञान, मुझे शुद्ध भक्ति दो।"[3] इसी प्रकार उन्होने शुचिता, अशुचिता, पाप-पुण्य तथा धर्म-अधर्म आदि के स्थान पर मात्र शुद्ध भक्ति की प्रार्थना की। अत यहाँ ल्यूबा का कथन सत्य सिद्ध नही होता। यहाँ मनोविज्ञान के कल्पित कारण सिद्ध होते नहीं ज्ञात पडते। मनोविज्ञान तो केवल यही दिखा सकता है कि इस अवस्था मे किस प्रकार मानसिक क्रियाएँ होती है।[4]

पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि रहस्यवादी में स्वात्म प्रेम (नार्सिसिज्म) अधिक मात्रा में पाया जाता है। उसकी मोक्ष की धारणा एक

---

१. इसको चाहे निम्न अहं कहे या उच्च परन्तु इस अवस्था में रहस्यवादी अन्धकार से प्रकाश की ओर जाता है।

२. जेम्स, वैराइटीज ऑफ रिलीजस एक्सपीरियेन्स, पृष्ठ २०० पर उद्धृत ल्यूबा का मत।

३. श्री रामकृष्ण वचनामृत, तृतीय भाग, पृ० ३८०।

४ सेलेबी, आफ रिलीजन पृ० १९७।

प्रकार से स्वात्म प्रेम है। इसीलिए वह घोर साधना भी करता है। वे यह भी कहते है कि वह पाप की भावना से पीडित रहता है इसलिए कृच्छ साधना एक प्रकार से दण्ड है। वह पाप की भावना मे अपने को दण्डित करता है।" गर्व द्वितीय आत्म प्रेम का रूप है। अह स्वय को सद् कार्य करने के लिए प्रेम करता है। "सत्कार्य अपना पुरस्कार स्वय है।" उसी तरह यह कहा जा सकता है कि पाप अपना दण्ड स्वय है।"[1]

कृच्छ साधना के पीछे इदं, अह तथा पराअहम् का भी सघर्ष छिपा हुआ रहता है। हम देखते है कि इदं से प्राप्त तथा परा-अह मे तादात्मीकरण की प्रक्रिया द्वारा प्रवाहित होती है। इसके बाद ऊर्जा अह या पराअहम् के द्वारा इदं के उद्देश्य को पूर्ण या निष्फल करने मे व्यय होती है। यह उद्देश्य है सुख की खोज और पीडा मे बचाव। यह भी है कि अह प्रवृत्तियो को सन्तुष्ट करने के लिए इद से मिल जाता है। दूसरी ओर ऐसा मालूम पडता है कि पराअहम् अनैतिक तथा कुल का भी मूल प्रवृत्तियो का शत्रु होने के कारण, इद का सदा विरोध करता है। किन्तु प्रवृत्तियो की सन्तुष्टि के लिए इद पराअहम् को साध सकता है। अर्थात् पराअहम् बाह्य जगत् तथा अह दोनो के सम्बन्ध में इद के प्रतिनिधि के रूप मे कार्य कर सकता है। उदाहरणार्थ एक नीति-परायण व्यक्ति का पराअहम् अपने अहं के प्रति अत्यन्त आक्रमणकारी हो सकता है। अहं को अयोग्य तथा दुष्ट होने का अनुभव कराया जाता है। इस प्रकार का व्यक्ति अपने शरीर को हानि पहुँचा सकता है या आत्महत्या कर सकता है। आत्म आक्रमण की क्रियाएँ इद की आक्रमणकारी प्रवृत्तियो को सन्तुष्ट करती है।[2]

उपरोक्त आक्षेपो के सम्बन्ध मे सर्व-प्रथम आत्म प्रेम के विषय मे यह कहा जा सकता है कि इस स्तर का प्रेम निश्चित रूप से निम्न कोटि का है। इस प्रकार का व्यक्ति जो स्वात्म प्रेमी होता है, निश्चित रूप से समाज विरोधी, अप्रसन्न तथा स्नायु विकृत भी हो जाता है। प्रो० हारवर्ट ने इस प्रकार के प्रेम को अपरिपक्व प्रेम कहा है और अपने चिकित्सा मनोविज्ञान के आधार पर यह व्यक्त किया है कि इस प्रकार का प्रेम जो स्वार्थ पर आधारित होता है, प्रेम नही कहा जा सकता। मानसिक व्याधियों का इसे मूल स्रोत भी माना जाता

---

१. कैल्विन एस० हाल, ए प्राइमर ऑफ फ्रायडियन साइकोलाजी, पृष्ठ ४१।

२. वही, पृष्ठ ४१।

है।[1] फिर रहस्यवादियों की साधना को मोक्ष के आधार पर भी यदि ले तो उसे स्वात्म प्रेम भी नही कह सकते। क्योंकि उनका जीवन ही यह सिद्ध करता है कि वे अपनी मुक्ति के लिए ही नही साधना करते वरन् लोक संग्रह की भावना से करते है। उनकी साधना और व्यवहार के पीछे "बहुजन सुखाय, बहुजन हिताय' की भावना होती है।[2] हरबर्ट के अनुसार तो हम यह भी कह सकते है कि यदि उनमे आत्म प्रेम की ही भावना होती तो जितने रहस्यवादी होते वे समाज विरोधी तथा मानसिक व्याधियो से प्रपीडित भी होते। परन्तु हमे ऐसे किसी रहस्यवादी का उदाहरण नही प्राप्त होता जिसका जीवन इस प्रकार का रहा हो।

स्वामी अखिलानन्द ने प्रेम के तीन रूपो की चर्चा की है। आत्म प्रेम-जिसमें व्यक्ति स्वार्थ केन्द्रित होता है। पारस्परिक प्रेम—जिसमे दान-प्रतिदान की भावना होती है और तीसरा आत्मदान से पूर्ण प्रेम, जिसमे तेरी ही इच्छा पूर्ण हो की भावना निहित रहती है। इस प्रकार का प्रेम ही भक्तो, साधको और रहस्यवादियो का प्रेम कहलाता है। इस प्रकार का प्रेम ही ईश्वरोन्मुख होता है और तब वह 'प्रेम ही ईश्वर है' समझता है और उसी मे अपने को लीन कर देता है। उसके लिए जगत् ही प्रेममय भासता है। उसका अपना अहं नही रहता जिसके लिए वह प्रतिदिन चाहे।[3]

दूसरे तर्क के लिए हम पहले ही देख चुके है—जिसमे ल्यूबा तथा जेम्स के पाप सम्बन्धी विचार का खण्डन किया जा चुका है। उसी आधार पर हम इद, अहं तथा पराअहम् के संघर्ष को भी निरर्थक कर सकते है। यद्यपि चेतना के इन तीनों स्तरों का संघर्ष सामान्य व्यक्ति के जीवन मे उत्पन्न हो सकता है क्योंकि उनका पराअहम् निर्बल रूप मे रहता है, परन्तु उच्च कोटि के रहस्यवादियो का पराअहम् उस कोटि का नही होता। इद पराअहम् को साध कर प्रतारणा की स्थिति उनके जीवन में नही उत्पन्न कर सकता। वे अपने पूर्ण जीवन से अवगत रहकर ही परम सत्ता की खोज में रहते हैं। वे अपने पराअहम् से केवल अहं को ही शुद्ध नही करते वरन् उससे परा शक्ति कड़ा अन्वेपण करते है। अहं अपने आप उस पराशक्ति मे विलीन हो जाता है। उनकी साधना का यह अभिप्राय नही होता कि वे अहं को प्रताडित कर रहे है। श्री रामकृष्ण

---

१. हारबर्ट मोवरर, न्यूरोसिस ऐण्ड इट्स ट्रीटमेन्ट, पृष्ठ ७५७।
२. जैकाब हैन्स, वेस्टर्न साइकोथिरापी ऐण्ड हिन्दू साधना, पृष्ठ ८६—८७।
३. मेन्टल हेल्थ ऐण्ड हिन्दू साइकॉलाजी, अखिलानन्द, पृष्ठ १२६—१४२।

तथा अन्य साधकों की कठोर साधना अह को दण्डित करने का प्रयास नहीं था वरन् उसका शोधन तथा परिमार्जन महत् के साक्षात्कार के लिए था। तभी तो उन्होंने अपने धार्मिक अनुभवों में साधना के समय कहा कि—"जब अवस्था आती थी तब मेरु मज्जा के भीतर से जैसे कोई हल चला देता था। "अब जी गया—अब जी गया" यही रट लगी रहती थी। परन्तु फिर उसके बाद बड़ा आनन्द होता था"। इस आनन्द की दशा का वर्णन फिर अहं नहीं कर सकता। वह आनन्द तो अनिर्वचनीय कहा गया है। वहाँ तो "यतोवाचानिवर्तन्ते" ही कहना पड़ता है। फिर हम कैसे कह सकते है कि कठोर साधना अपने को दण्डित करना है।

तपस्या, साधना तथा कठोर अनुशासन का अर्थ अपने को दण्डित करना नहीं है। साधकों का जीवन बतलाता है कि "तप का अर्थ है निरन्तर ईश्वर में वास करना और एक नया रूपान्तरित जीवन प्राप्त करना। इसका अर्थ समस्त बिखरी हुई ऊर्जाओं को, बौद्धिक शक्तियों को, हृदय की भावनाओं को, प्राण की कामनाओं को, बल्कि स्वय अपनी भौतिक सत्ता को समेटना और उन सब को सर्वोच्च लक्ष्य पर केन्द्रित करना है।"[1]

कुछ मनोवैज्ञानिक, धार्मिक साधना को रहस्यवादियों के व्यामोह का परिणाम बताते है। जिस प्रकार दण्ड और बड़प्पन के व्यामोह होते हैं उसी प्रकार धर्म का भी व्यामोह होता है। इसमे धार्मिक पुरुष अपने को सबसे बड़े धर्म का संस्थापक समझता है। शायद उसी व्यामोह मे कभी कठोर साधना करता है, कभी उपदेश करता है।[2]

परन्तु इस प्रकार की स्थिति मानसिक रूप से विकृत व्यक्ति की ही हो सकती है। यह स्थिति कितने दिन तक रहेगी ? उसका प्रभाव क्या होगा ? उस व्यक्ति के कथन मे कितनी सत्यता होगी। इन प्रश्नों का उत्तर हम क्राइस्ट, बुद्ध, नानक, मुहम्मद, चैतन्य तथा रामकृष्ण के जीवन और व्यवहारो के प्रभावों तथा कार्य के फलो से ही प्राप्त कर सकते है। अनुभवो की सत्यता व्यवहार की कसौटी पर चरितार्थ होती है। समय की गतिशीलता पर निर्भर करती है। हजारो वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी ऋषियो और धार्मिक महापुरुषो का बताया हुआ निष्कर्ष आज भी व्यवहृत है। उसको हम धर्म-व्यामोह कैसे कह सकते है। इसके विपरीत जो मानसिक रूप से विकृत हैं उनकी अनुभूति उनके जीवन मे ही नही चरितार्थ होती वर्षों तक कौन कहे। उनके विचारो की मौलिकता या

---

१. राधाकृष्णन्-जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि—पृष्ठ ११२।
२. कोलमैन-अबनार्मल साइकालॉजी एण्ड माडर्न लाइफ—पृष्ठ २६०।

सार्थकता भी तो नही प्रकट होती। अतः हम रहस्यवादियो को तथा धार्मिक व्यामोही को सरलतापूर्वक अलग कर सकते है। यह भी आक्षेप किया जाता है कि पूजा, ध्यान, प्रार्थना आदि जो साधना के अग है यह सब और कुछ नही एक प्रकार का आत्मनिर्देशन है—जिससे साधक अपने मन को कल्पित आदर्शों से निर्देशित करता है। ल्यूबा तथा फ्रायड इस प्रकार के निर्देशन को असामान्य व्यक्ति के गुण मानते हैं। इस प्रकार साधकों की साधना एक प्रकार का आत्म निर्देशन है—जिससे साधक अपने को अभिभूत करता है।

परन्तु हम देखते है कि सामान्य जीवन में भी सामाजिक, आर्थिक, और राजनैतिक क्षेत्र में बहुत से कार्य प्रति दिन प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष निर्देशन के आधार पर ही होते है। क्या इन निर्देशनों के आधार पर हम अपनी स्मृति को विकृत कह सकते हैं। जब हमारे सभी ज्ञान निर्देशन से प्राप्त होते हैं और हम उनको विकृत नहीं मानते तो धार्मिक पूजा और साधना को ही आत्म निर्देशन कहकर विकृत कैसे सिद्ध कर सकते हैं।

दूसरी बात यह कि निर्देशन अच्छे और बुरे दोनो कार्यों के लिए होते हैं। अतः निर्देशन ही किसी अनुभूति के निर्णय का स्तर नही माना जा सकता। अनुभव ही अपने स्तर होते हैं।

आधुनिक मतों में नैन्सी सम्प्रदाय ने यह सिद्ध किया है कि निर्देशनशीलता असामान्य व्यक्तियो का गुण नही है। यद्यपि टाटर इस विचार को मानता है कि सामान्य तथा असामान्य दोनों मनुष्यों का गुण है।[1]

जो भी हो इतना तो स्वीकार ही किया जा सकता है कि निर्देशन से मनुष्य को ऊँचा भी उठाया जा सकता है और निम्नस्तर तक भी ले जाया जा सकता है। जैसा कि सम्मोहन की क्रिया में पत्र से चाहे जो भी क्रिया करा ली जाती है। परन्तु धार्मिक महापुरुष का उपासना सम्बन्धी निर्देशन व्यक्ति को असामान्य की श्रेणी मे नही उपस्थित करता। इस प्रकार के निर्देशन से तो जीवन उज्ज्वल तथा अत्यन्त व्यवहार्य होता है। फिर कैसे कहा जा सकता है कि आत्म निर्देशन असामान्य व्यक्ति का गुण है।

थुले ने तो यहाँ तक स्वीकार किया है कि उपासना या प्रार्थना वह क्रिया नही है जिससे केवल, मन या चरित्र को ही प्रभावित किया जाय—वरन् इसका

---

१. ह्युग्स टी० एच० न्यू साइकालॉजी एण्ड रिलीजस एक्सपीरियन्स, पृ० २७५–७६।

तो मुख्य उद्देश्य होता है उस सत्ता को प्रभावित करना जिसके लिए वह प्रार्थना की जाती है।[१]

इसके अतिरिक्त थुले यहाँ तक बल देता है कि प्रार्थना सम्भवत: अधिक प्रभावकारी है अपेक्षाकृत आत्म निर्देशन के। चाहे वह आत्म निर्देशन कितना ही विचारपूर्वक क्यों न लिया गया हो।[२]

साधकों की कृच्छ भावना की व्याख्या मनोवैज्ञानिक यह कारण भी देकर करते हैं कि वह अपने लिबिडो (युग के अर्थ में मन ऊर्जा या बर्गसा के अर्थ में एलान) को बाह्य संसार से पूर्णत: ईश्वर की ओर मोड़ देता है। इसीलिए तपस्या करता है और अपनी सभी प्राकृतिक इच्छाओं, भावनाओं तथा प्रेम को कुचल देता है। वह अपनी सभी सुख-सुविधा को उपवास तथा तपस्या के बलपर हिंसक रूप में नष्ट कर देता है। वह समाज से इसलिए विमुख रहता है कि सामाजिक मूल प्रवत्तियों का आनन्द उसे न मिले वह अपने आत्म सम्मान के स्थायी भाव को, शरीर को, विरूप तथा विकृत करके समाप्त करता है।[३]

इसमें सन्देह नहीं कि रहस्यवादी का जीवन एक आदर्श उदात्तीकरण के रूप में होता है, परन्तु यह कहाँ तक सत्य माना जा सकता है कि उसकी सभी इच्छाएँ तथा प्रेम की भावना इच्छापूर्वक नष्ट कर दी जाती हैं। यदि वह उन्हें नष्ट ही कर देता तो संसार में प्रेम का ज्योति पुंज कहाँ से फैलता। इसके लिए तो यही कहना चाहिए कि उसका जीवन तपस्या में सम्पूर्ण शक्तियों को लेकर तल्लीन होता है। उसका अपना कुछ नहीं रहता, क्योंकि वह सब कुछ उस महत्-सत्ता को सौंप चुका होता है। यदि वह समाज से विमुख होता तो समाज को प्रतिदान कैसे कर सकता। वह अपने आत्म सम्मान के भाव को शारीरिक प्रतारणा से नहीं नष्ट करता वरन् इच्छा के परिवर्तन मात्र से ऐसा हो जाता है। क्योंकि वह इच्छाओं को भगवान् के समक्ष सम्मिर्पित कर देता है। वह द्वैत से अद्वैत में आकर यह नहीं सोचता कि कौन 'तू' और कौन 'मैं'। उस स्थिति में पहुँच कर अपना और पराया समाप्त हो जाता है। वह साधना के समय और बाद में भी इसी स्थिति में रहता है। अन्यथा उस मार्ग पर जा ही नहीं सकता। उसकी साधना लिबिडो से लड़ने के लिए नहीं होती वरन् चरम सत्ता को समर्पण करने तथा साक्षात्कार के लिए होती है।

---

१. थुले, द साइकालॉजी ऑफ रिलीजन, पृष्ठ १७१।

२. वही, पृष्ठ १७१।

३. वही, पृष्ठ २१२।

यद्यपि साधना मे अपने को पीडित करने की बात कभी-कभी साधक मे मिल सकती है, परन्तु श्री रामकृष्ण के विषय में ऐसी बात प्रतीत नही होती। क्योंकि उन्होंने अपनी वासनाओं का परिमार्जन तो भक्ति की भावना मे मत्ता की ओर मोड़कर किया है। इसके विषय मे उनका कथन है कि—"ये काम, क्रोध, लोभ आदि छः रिपु एक दम तो जाएंगे नहीं, इसीलिए ईश्वर की ओर उनका मुँह फेर देना होगा। यदि कामना करनी हो, लोभ करना हो तो ईश्वर की भक्ति की कामना करनी चाहिए और उन्हे पाने के लिए लोभ करना चाहिए। यदि मद अर्थात् मत्तता करनी है, अहकार करना है, तो "मै ईश्वर का दास हूँ, ईश्वर की सन्तान हूँ" यह कहकर मत्तता, अहकार करना चाहिए। सम्पूर्ण मन उन्हे दिए बिना उनका दर्शन नही होता।"[1]

अतः इस प्रकार के उदात्तीकरण मे तो मनोवैज्ञानिकों का उपरोक्त आक्षेप उचित नहीं जान पड़ता।

रहस्यवादियों के आध्यात्मिक विरह की व्याख्या हम मानवीय स्तर पर करते है, परन्तु वह इससे भिन्न कोटि का अलौकिक ही प्रतीत होता है। इस समय की शारीरिक और मानसिक स्थिति को शरीर शास्त्र तथा मनोविज्ञान के नियमों से विश्लेषित नही किया जा सकता। हाँ, समझने के लिए मानवीय प्रेम के विरह और आध्यात्मिक विरह मे थोडा सादृश्य देख सकते है। "भक्ति की परिशुद्धि (दृढता एवं निर्मलता) का ज्ञान लौकिक प्रीति की भांति बाह्य चिन्हों से होता है। जैसे लोक मे प्रियतम की चर्चा से प्रिया के पुलक–अश्रुपात आदि होते देख उसकी आन्तरिक प्रीति पहचानी जाती है, उसी प्रकार भगवत्–कथा श्रवण, नाम-कीर्तन आदि मे रोमाच अश्रुपात आदि चिन्ह देखकर विशुद्ध एव दृढ़ भक्ति का अनुमान किया जा सकता है।

जब सासारिक प्रेम मे शरीर और मन की दशा मे परिवर्तन हो जाता है तो भला उस प्रेम मे, जो अमृत स्वरूपा[2] है, जिसको प्राप्त कर मनुष्य सिद्ध हो जाता है, अमर हो जाता है, और तृप्त हो जाता है उसके शरीर और मन की क्या दशा होती होगी?

शास्त्रों का कथन है कि इस स्थिति को प्राप्त कर भक्त उन्मत्त हो जाता है, स्तब्ध हो जाता है, और आत्माराम बन जाता है।[3]

---

१. श्री रामकृष्ण वचनामृत, द्वितीय भाग, पृष्ठ ११०।

२. नारद भक्ति सूत्र ३, 'अमृतस्वरूपा च', यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतोभवति, तृप्तो भवति', ४।

३ वही सूत्र ६, 'यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवति, भवति'।

इस उन्मत्तता अपलाप तथा शान्ति को हम मनोवैज्ञानिक रूप मे उन्माद की अवस्था कैसे कह सकते हैं।

कुछ मनोवैज्ञानिकों ने रहस्यवादियो की इस भक्ति की अवस्था की समता विकृत अवस्था के साथ करके रहस्यवादियों को भी उन्मादिक कहने का प्रयत्न किया है।[1] उनकी समाधि और हर्ष की स्थिति को मनोविकृति का लक्षण मानते है। क्योंकि उनके धार्मिक क्रिया-कलाप उन्मत्तवत् होते हैं।

श्री रामकृष्ण की साधना के समय की व्याकुलता की स्थिति, रुदन तथा विरह के हाव-भाव अवश्य ही मनोविकृति के लक्षणो से मिलते जुलते हैं। परन्तु वह स्थिति कहाँ तक उस रूप में थी, यह विचारणीय है।

श्री रामकृष्ण विरह की अवस्था में व्याकुल होकर भूमि पर लोटते थे, चिल्लाते थे, भूमि पर मुँह रगड़ते थे और बिना भोजन के दिन व्यतीत कर देते थे। इसी प्रकार के लक्षण अपस्मार के रोगी मे भी देखने मे आते हैं। अपस्मार का तीसरा रूप उन्मादात्मक दौरे के रूप में होता है—जिसमें मनोवैज्ञानिकों के अनुसार निर्देशन का प्रभाव रहता है। इसके आवेग में रोगी में, चीखना ठोकर मारना, जमीन पर इधर-उधर लोटना, विभिन्न आसनों में बैठना, अपने बाल उखाड़ना और पास खड़े व्यक्तियो को काटना आदि जैसे लक्षण प्रकट होते हैं। परन्तु इन लक्षणो के साथ रोगी को कही चोट न लग जाय इस बात का उसको ध्यान रहता है। कभी-कभी रोगी अनियन्त्रित रूप में रोता और हँसता भी है। उसकी चेतना सुरक्षित रहती है।[2]

तो क्या श्री रामकृष्ण के आध्यात्मिक अन्वेषण से सम्बन्धित लक्षण अपस्मार या उन्माद सम्बन्धी दौरे थे।[1] क्या प्रेम विरह में जो भी उपलब्धियाँ उनको हुई थीं वही उपलब्धि उन्मादिक दौरे वाले रोगी को भी होती है ? क्या इन रोगियों का चेतना-स्तर वही होता है, जो श्री रामकृष्णादि रहस्यवादियों का रहा है ? क्या उनके उन्मत्तवत् आचरण के कारण वही माने जा सकते हैं, जो उन्मादिक रोगियों के रोग के होते हैं ? यदि हम रोग के कारणों को लें तो वंश-परम्परा, शारीरिक तथा मनोवैज्ञानिक कारणों को इस रोग में पाते हैं।[3] परन्तु हम देख चुके हैं श्री रामकृष्ण की वश परम्परा मे सभी स्वस्थ तथा समा-

---

१. ल्यूबा, द साइकालॉजी ऑफ रिलीजस मिस्टिसिज्म, पृष्ठ १५६।
२. कोलमैन—अबनार्मल साइकालॉजी ऐण्ड माडर्न लाइफ, पृष्ठ ४६८—६९। रामकुमार राय—असामान्य मनोविज्ञान, पृष्ठ ३७३—७४।
३ वही, पृष्ठ ४७१ ७२।

योजित थे। पूर्वजो तथा बाद के परिवार में भी किसी को इस प्रकार के रोग का पता नहीं चलता। स्वयं श्री रामकृष्ण बचपन से ही स्वस्थ तथा निरोग रहे हैं। उनका शरीर इतना सुगठित था कि दो-एक बार साधारण बीमारी के अतिरिक्त वे कभी अस्वस्थ नही रहे। उन्मादिक रोग का मनोवैज्ञानिक कारण आक्रामक संवेग और काम-भावना को भी माना जाता है।[1] परन्तु श्री रामकृष्ण की सरलता तथा बचपन से ही धार्मिक निष्ठा इस बात को सिद्ध करती है कि न तो उनमे आक्रोश की विध्वंसात्मक भावना ही थी और न बाल्यावस्था की काम-भावना ही। मस्तिष्क के आघात को भी इस रोग का कारण माना जाता है परन्तु श्री रामकृष्ण के जीवन मे ऐसी कोई घटना नही मिलती।

रही बात चेतना स्तर तथा उपलब्धियो की। श्री रामकृष्ण जिस भाव-भूमि पर थे उसका वर्णन भक्ति-शास्त्रो मे भली प्रकार मिलता है और उसी के कारण उनको जो उपलब्धियाँ हुयी हैं, उनमें जो परिवर्तन हुए है, उसे अच्छी तरह से देखा जा सकता है और उनके व्यवहारो तथा अनुभवो की प्रामाणिकता सिद्ध की जा सकती है। इससे यह भी स्पष्ट हो सकता है कि उनका उन्मत्त-वत् आचरण उन्मादिक दौरा नही था।

शाण्डिल्य ने भक्ति की अवस्था के भेदो का वर्णन किया है और श्रीमद्-भागवत् ने उन अवस्थाओं का प्रमाण भी प्रस्तुत किया है। श्री रामकृष्ण का विरह, उनकी व्याकुलता, उनकी ईश्वर-भक्ति के ही कारण थी। यह भक्ति विभिन्न रूपों में प्रकाशित होती है—"श्रद्धा", "प्रीति", "विरह", "इतरविचि-कित्सा", "तदर्थ प्राण-संस्थान", और "तदीयता"।[2] श्रद्धा-भक्ति का प्रथम सोपान है। मनोवैज्ञानिक चाहे इसे आत्मनिर्देशन कहे परन्तु यह मानव जीवन में सन्निहित है। यह विकृतावस्था का द्योतक नही है। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति का एक श्रद्धेय होता है, परन्तु सभी विकृत नही होते। प्रत्येक देश में लोग धर्म के आचार्यों के प्रति श्रद्धा क्यो प्रकट करते है। इसीलिए कि ऐसा करना नितान्त स्वाभाविक है। इस श्रद्धा का मूल है प्रेम। हम जिससे प्रेम नही करते उसके प्रति कभी भी श्रद्धालु नहीं हो सकते। इसके बाद है प्रीति अर्थात् ईश्वर चिन्तन में आनन्द। मनुष्य इन्द्रिय-विषयों में कितना तीव्र आनन्द अनुभव करता है। इन्द्रियों को अच्छी लगने वाली चीजो के लिए वह कहाँ-कहाँ भटकता फिरता है और बड़ा से बड़ा जोखिम उठाने को तैयार रहता है। भक्त इसी प्रकार

---

१. ब्राउन-साइको डाइनमिक्स ऑफ अबनार्मल बिहेवियर, पृष्ठ ३४८।
२. शाण्डिल्य, भक्ति, सूत्र २।१।४४।

की प्रीति भगवान् से करता है।[1] इसके उपरान्त आता है 'विरह'—प्रेमास्पद के अभाव में उत्पन्न होने वाला तीव्र दुःख। यह दुख संसार के समस्त दुखों मे सबसे मधुर है। जब मनुष्य भगवान् को न पा सकने के कारण, संसार में एक मात्र जानने योग्य वस्तु को न जान सकने के कारण, भीतर से तीव्र वेदना का अनुभव करने लगता है और फलस्वरूप अत्यन्त व्याकुल हो बिल्कुल पागल-सा हो जाता है, तब उस दशा को विरह कहते है। मन की ऐसी दशा मे प्रेमास्पद को छोड उसे और कुछ अच्छा नही लगता ('इतरविचिकित्सा')। बहुधा यह विरह सासारिक प्रणय मे देखा जाता है। जब स्त्री और पुरुष मे प्रगाढ प्रेम होता है तो उन्हे ऐसे किसी भी व्यक्ति की उपस्थिति अच्छी नहीं लगती जो उनके मन का नही होता। ठीक इसी प्रकार जब पराभक्ति हृदय पर अपना प्रभाव जमा लेती है तो अन्य अप्रिय विषयो की उपस्थिति भक्त को खटकने लगती है। यहाँ तक कि प्रेमास्पद भगवान् के अतिरिक्त अन्य किसी विषय पर बात-चीत तक करना अरुचिकर हो जाता है। उस समय साधक या भक्त का मानसिक स्तर प्रेयस की प्रीति पर रहता है उसी के विरह मे व्याकुल रहता है। उस समय उसका मन अक्षर पुरुष मे ओत-प्रोत रहता है।[2] "प्रेम की इससे भी उच्च अवस्था तो वह है जब उन प्रेमास्पद भगवान् के लिए ही जीवन धारणा किया जाता है। उसी का चिन्तन हृदय मे सदैव बने रहने के कारण ही भक्त को अपना जीवन मधुर प्रतीत होता है। यही अवस्था "तदर्थप्राणसस्थान' है। 'तदीयता' तब आती है जब साधक भक्ति-मत के अनुसार पूर्णावस्था को प्राप्त हो जाता है। तब उसकी प्रकृति विशुद्ध हो जाती है। जब भक्त अपने आप को बिल्कुल भूल जाता है और उसे यह भी ज्ञान नही रहता कि कोई चीज अपनी है तभी उसे यह 'तदीयता' की अवस्था प्राप्त होती है।"[3]

यहीं "तदीयता" रहस्यवादी की उपलब्धि होती है और श्रद्धा, प्रीति, विरह इतरविचिकित्सा तथा 'तदर्थप्राणसंस्थान' उसकी चेतना का स्तर होता है। श्री रामकृष्ण को इसी अवस्था की प्राप्ति हुई थी। तभी वे सामान्य जीवन से विमुख होकर प्रेम-विरह मे मतवाले होकर और प्राप्त लौकिक वैभव को त्याग कर, भागवत प्रेम मे तल्लीन थे। क्या हम अपस्मार के रोगी के मानसिक स्तर तथा उपलब्धि को इसी कोटि मे रख सकते है?

---

१. विवेकानन्द, भक्ति योग, पृष्ठ ८२।
२. मुण्डकोपनिषद्, २।२।५।
३. विवेकानन्द, भक्तियोग, पृष्ठ ८२—८४।

यही नहीं श्री रामकृष्ण के उक्त सभी विरह के लक्षणों को हम भक्ति-शास्त्र में पूर्ण रूप से पाते हैं। श्रीमद्भागवत का कथन है कि "जो नियम पूर्वक उस प्रेम को प्राप्त करता है, उसके हृदय में अपने परम प्रियतम प्रभु के नाम-कीर्तन से अनुराग का अंकुर उग आता है। उसका चित्त द्रवित हो जाता है। अब वह साधारण लोगों की स्थिति से ऊपर उठ जाता है। लोगों की मान्यताओं, धारणाओं से परे हो जाता है। और दम्भ से नहीं, स्वभाव से ही मतवाला-सा होकर कभी खिलखिलाकर हँसने लगता है तो कभी फूट-फूट कर रोने लगता है। कभी ऊँचे स्वर से भगवान् को पुकारने लगता है तो कभी मधुर स्वर से उनके गुणों का गान करने लगता है। कभी-कभी जब वह अपने प्रियतम को अपने नेत्रों के सामने अनुभव करता है, तब उन्हें रिझाने के लिए नृत्य भी करने लगता है।"[1]

ठीक यही लक्षण श्री रामकृष्ण के विरहोन्माद में भी मिलते हैं। महाप्रभु चैतन्य का विरहोन्माद इसी कोटि का था। इस स्थिति का मनोविज्ञान कहाँ तक निर्णय कर सका है या कर पायेगा, इसके विषय में कोई निश्चित निर्णय नहीं दिया जा सकता। क्योंकि मनोविज्ञान केवल बाह्य-चेतन और अचेतन का ही अध्ययन कर सका है। भक्ति-शास्त्र के 'महाभाव' की दशा का विश्लेषण करना इसके लिए कठिन ज्ञात होता है।

श्री रामकृष्ण के शरीर में उनके प्रेम-विरह के समय (जब मधुरभाव की साधना में थे) एक अन्य परिवर्तन-गात्रदाह के रूप में भी हुआ था। इसकी व्याख्या शरीर शास्त्रीय दृष्टिकोण या मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से कहाँ तक की जा सकती है, सन्देहात्मक है। मनोविज्ञान में मनोविदलता (स्कीजोफेनिया) के रोगी में शारीरिक तापमान कुछ घटता-बढ़ता अवश्य पाया जाता है, जिसे शरीर में ताप की कमी (अटलपोसिया) और शीतलता का लोप (एरीगोसिया) कहते हैं। यह अवस्था बहुत कम लोगों में और बड़ी कठिनाई से पायी जाती है।[2] परन्तु श्री रामकृष्ण की विरहावस्था में शरीर का ताप अतीव रूप में था। वे इसके शमन के लिए सरिता में बैठे रहते थे, शरीर का वस्त्र भी जलता था। यह एक अद्भुत लक्षण देखने को मिलता है। इसकी तुलना तो हम मनोविदलता

---

१. एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गायत्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥
श्रीमद्भागवत—११।२।४०, ११।३।३२।

२. ब्राउन, साइकोडाइनमिक्स ऑफ अबनार्मल बिहेवियर, पृष्ठ ६०।

या अन्य रोगों के साथ भी नहीं कर सकते। क्योंकि इससे उन रोगों की कोई समता नहीं जान पड़ती। फिर इसकी व्याख्या भावराज्य में निहित भक्ति-शास्त्र के लक्षणों से ही तो की जा सकती है। यह अवस्था होती है महाभाव की। चैतन्य को इसी अवस्था में इस प्रकार का परिवर्तन हुआ था। रूप सनातन को विरह-ज्वाला में तो पेड़ की पत्तियाँ तक झुलस जाती थीं ऐसा उल्लेख मिलता है।

मनोवैज्ञानिक सामान्य रूप में इस अवस्था को एक शारीरिक रोग ही मान सकते हैं परन्तु भक्ति-शास्त्र के अनुसार यह स्थिति भागवत विरह के चरम-सीमा पर पहुँचने से अवश्य आती है। गात्र-दाह महाभाव का एक लक्षण माना जाता है। भक्ति की जिन अवस्थाओं का हमने वर्णन किया है उसी में एक अवस्था यह भी है। महाभाव के उन्नीस लक्षण शास्त्रों में मिलते है। श्री रामकृष्ण इस अवस्था को प्राप्त हुए थे और उनमे ये सभी मनोदैहिक लक्षण विद्यमान थे।[1]

श्री रामकृष्ण की ऐसी स्थिति को देखकर उस समय भी उनके हितैषी, रोग समझ कर दवा कर रहे थे, परन्तु भैरवी ब्राह्मणी ने इस दशा को भक्ति-विरह की दशा बताकर चन्दन तथा पुष्प के द्वारा दग्धता का शमन कराया। उसने कहा कि "यह रोग नहीं है श्री रामकृष्ण के मन की प्रबल आध्यात्मिकता एवं ईश्वरानुराग के फलस्वरूप उनकी यह अवस्था हुयी है। ब्राह्मणी ने ऐसी स्थिति में सुगन्धित पुष्पों का माल्यावारण तथा सर्वांग पर सुवासित चन्दन के लेप के लिए सुझाव दिया।"[2]

---

१. १९ लक्षण इस प्रकार हैं:—१. मुंह और छाती का आरक्त रहना, २. एकाएक स्वेदपूर्ण होना ३. रोमांच होना, ४. रुदन, ५. हास, ६. भ्रमण (खोज के लिए), ७. अनिद्रा, ८. नेत्र खुले रहना—स्थिर दृष्टि से घूरना, ९. उदासीन होकर पड़ा रहना, १०. भूमि पर लोटना, ११. वस्त्र का ध्यान न रहना, १२. शारीरिक आवश्यकताओं का ध्यान न रखना या उनसे उदास रहना, १३. अद्भुत दर्शन, १४. गात्रदाह, १५. मात्र ईश्वर चिन्तन में एक निष्ठता, १६. ईश्वर पर एकाधिकार, १७. ईश्वर में अपना विलय, १८. शान्ति, १९. ईश्वरीय अनुभूति में आनन्द।
प्रसंगानुसार, नारद भक्ति-सूत्र, ६, भागवत ११।२।३९–४०, ७।४।३६–४०, ११।३।३२, ७।७।३४–३५, १०।३२।५, १०।४७।४४।

२. लीला प्रसंग, द्वि० भाग, पृ० ३५१–५२।

ऐसा ही हुआ भी, विष्णु तेल के मालिश से कोई लाभ नहीं हुआ और चन्दन-लेप तथा पुष्प-धारण से उनके गात्रदाह का शमन हुआ। यह है प्रेम-विरह की ज्वाला। इन घटनाओं के आधार पर ही लीला प्रसंगकार ने ठीक ही लिखा है कि—"श्री रामकृष्ण देव के मुँह से हमने ऐसी अनेक घटनाएँ सुनी हैं, जिनके आधार पर वर्तमान काल के 'मनोविज्ञान' तथा 'शरीरविज्ञान' द्वारा निर्धारित नियमों को बदलना आवश्यक प्रतीत होता है। यदि हम उनका उल्लेख भी करें तो क्या लोग उन बातों पर विश्वास कर सकेंगे ?[1]

श्री रामकृष्ण की पूजन-पद्धति को देखते हुए सामान्य दृष्टिकोण से हम यही समझ सकते है कि उनके पूजन के विचित्र उपचार पागल व्यक्ति के किए गए व्यवहारों के ही समान थे। पुष्प को देवता के मस्तक पर न चढ़ाकर अपने ही मस्तक पर रखना, हाथ पकड़कर नृत्य करना, भोजन स्वयं करके शेष अंश मूर्ति के मुँह मे देना, जूठन खाना, कुत्ते और बिल्ली तक को पूड़ियाँ खिलाना और उसका बचा हुआ अंश, जूठन के रूप में स्वयं खाना। ये क्या सूचित करते है ? यही कि उनका आचरण उन्मादपूर्ण था। परन्तु 'तदीयता' के आधार पर भक्त और भगवान् में प्रेमी और प्रेमास्पद मे कोई अन्तर नहीं रह जाता। जब हम सामान्य जीवन मे अपने घनिष्ठ मित्र, पुत्र, पत्नी के साथ तदाकार हो सकते है, 'उनका' 'अपना' और 'अपना', 'उनका' समझने लगते हैं तो हमें इस अवस्था मे कोई व्यवहार असामान्य नहीं समझ पडता। उसी प्रकार भगवान् को तन, मन, धन, सब कुछ देकर तदाकार हो जाने पर भक्त उससे अपने को विलग नही समझता। उसको सम्पूर्ण संसार एक ही, अपना ही दीख पड़ता है। वह 'तत्वमसि' का पूर्ण बोध कर चुका होता है। ऐसी अवस्था में पूजा के विभिन्न उपचार पागल के रूप मे नहीं हो सकते। भक्तों का जीवन ही इसके उदाहरण हो सकते है। श्री रामकृष्ण ने स्वय कहा है कि "उस समय मझे एक दिन दिखाया चारों ओर शिव और शक्ति। शिव और शक्ति का रमण, मनुष्यों, जीव-जन्तुओं, वृक्षों और लताओं सभी में वही शिव और शक्ति-पुरुष और प्रकृति-सर्वत्र इन्हीं का रमण।"

उन्हे सर्व भूतो मे देखने लगा। मैने पेड़ में चेतना देखी, दुर्वादल लेते समय देखा।"[2]

जो सभी को चिन्मय देखता है स्वयं अद्वैत रूप में अपने को 'वही' पाता है,

१. वही, पृ० १७–१८।

२. रामकृष्ण वचनामृत, द्वि० भाग, पृष्ठ ७,११,३३१–३३२।

उसका पूजन का इस प्रकार का व्यवहार पागलपन कैसे समझा जा सकता है ? जिस प्रकार सामान्य जीवन में इस प्रकार के व्यवहार करते हुए हम अपने को पागल नहीं कह सकते उसी प्रकार उस चैतन्यमय स्थिति में रहकर इस प्रकार का व्यवहार करना कैसे पागलपन कहा जा सकता है ?

इसी स्थिति में रह कर भक्त निर्भय और आप्त काम हो जाता है। उसमें सामान्य जीवन की चिन्ता तथा भय का कोई स्थान नहीं रह जाता। श्री रामकृष्ण इस अवस्था में बिना परवाह किए सत्य बातें करते थे। सत्य का प्रत्यक्ष द्रष्टा होने के कारण ऐसा रहस्यवादी असत्य और प्रवचना को प्रश्रय नहीं देता। इसीलिए श्री रामकृष्ण ने जय मुकर्जी तथा रानी रासमणि को थप्पड़ मार दिया था।

उनके इस व्यवहार को देखकर मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि यह व्यवहार उनके बहुव्यक्तित्व का लक्षण प्रकट करता है। क्योंकि बहुव्यक्तित्व वाले व्यक्ति क्षण भर के आवेश में ही प्रहार कर बैठते हैं। ऐसे लोग सोच-विचार तर्क-वितर्क करके किसी पर प्रहार नहीं करते। ऐसे व्यक्तित्व वाले बहुधा एक समय में उच्छृंखल तथा दूसरे समय में बड़े गम्भीर व्यक्तित्व को प्रकट करते हैं। इस प्रकार वे एक से दूसरे व्यक्तित्व में बदलते रहते हैं। किसी-किसी में तीन व्यक्तित्व या इससे भी अधिक पाया जाता है।[1] जिस समय जिस व्यक्तित्व का अधिकार होता है वह पहले वाले व्यक्तित्व के सम्बन्ध की बातों को बहुधा अस्वीकार करता है, परन्तु कभी-कभी पहले व्यक्तित्व के बुरे कार्यों के लिए क्षमा की याचना भी करता है।[2]

क्या वास्तव में श्री रामकृष्ण का रानी रासमणि तथा जय मुकर्जी को थप्पड़ मार देना बहुव्यक्तित्व का ही लक्षण था ? यह विचारणीय है।

बहुव्यक्तित्व वाला व्यक्ति जो व्यवहार कर जाता है उसके पीछे उसका क्या उद्देश्य रहता है, इसका उसे पता नहीं चलता, परन्तु श्रीरामकृष्ण के विषय

---

१. मौर्टन प्रिन्स ने कुमारी बीचैम्प का दस वर्ष तक अध्ययन करके बताया कि इस युवती में पांच स्पष्ट व्यक्तित्व थे। जो एक के बाद दूसरे प्रकट होते रहते थे। वह कभी "सन्त" "स्त्री" और कभी राक्षसी जैसी प्रतीत होती थी।

प्रिन्स मौर्टन, द डिसोसियेसन ऑफ परसनालिटी, कोलमैन, अबनार्मल साइकालॉजी एण्ड माडर्न लाइफ—पृष्ठ २०२ पर उल्लिखित।

२. वही, पृष्ठ २०२।

से स्पष्ट है कि उन्होंने यह व्यवहार किसी उद्देश्य से किया था। उनका उद्देश्य था सत् मार्ग पर से चलने का। उन्होंने स्वय कहा है कि जय मुकर्जी को इसलिए मारा कि 'वह जप कर रहा है, पर अनमना होकर, तब मैंने पास जा कर दो थप्पड जड दिए।' और रानी राममणि के द्वारा कहे जाने पर जब वे भजन गाकर सुनाने लगे तो 'वे अन्यमनस्क होकर फूल चुन रही है। किसी सांसारिक विषय-वासना की बातों का चिन्तन कर रही हैं इसलिए उनको दो थप्पड़ जड दिया। तब होश सँभाल कर हाथ बाँधे रहीं'।

इन दोनों घटनाओ के पीछे उनका तर्क था, उनका उद्देश्य था, फिर क्षमा-याचना की कोई बात नहीं, प्रायश्चित की कोई चर्चा नही। फिर कैसे कहा जा सकता है कि यह बहुव्यक्तित्व का लक्षण है। इसके पीछे फिर क्या भाव था ? भाव था गुरु का, सन्तान के उपकार का। जिस प्रकार सन्तान के किसी अनुचित कार्य पर असन्तुष्ट हो पिता जैसे कभी-कभी उसे दण्ड दे देते है, श्री राम कृष्ण का भी उस समय ठीक वही भाव था।

इस घटना से उनमे बहुव्यक्तित्व को नहीं देखा जा सकता वरन् परा-मनोविज्ञान की दृष्टि से मन.शक्ति से विचारो का अध्ययन कहा जा सकता है।[१] वे उनके मन की बात जान गए कि रानी विषय चिन्तन मे मग्न है और जय मुकर्जी अन्य मनस्क है। ईश्वर चिन्तन इस प्रकार नही किया जाता, इसकी शिक्षा उनको देनी थी। रानी ने बाद में यह स्वीकार भी किया कि वे उस समय के चल रहे एक मुकदमे के विषय में सोच रही थी ? यदि ऐसी बात न होती तो रानी इस घटना को अपराध कहकर श्री रामकृष्ण को दण्डित करने की बात सोचती परन्तु उनके प्रति रानी की श्रद्धा-भक्ति प्रगाढ थी। यदि वे पागल या उन्मादपूर्ण होते तो उनसे श्रद्धा की बात भी क्या होती।

बहुव्यक्तित्व बहुधा असमायोजित व्यक्तियों मे पाया जाता है। परन्तु श्री रामकृष्ण का धार्मिक जीवन अत्यन्त ही समायोजित देखा जाता है। उनको थोड़ी-थोड़ी बातों का भी ध्यान रहता था। तो फिर श्री रामकृष्ण में,

---

१. जयपुर (राजस्थान) विश्वविद्यालय के परामनोविज्ञान विभाग के निदेशक डॉ० हेमेन्द्र नाथ बनर्जी ने श्री रामकृष्ण के ठीक इसी घटना का उदाहरण देकर इस क्रिया को "दूरदर्शन" बतलाया है। और इसी प्रकार का एक उदाहरण ड्यूक विश्वविद्यालय से भी लिया है।

धर्मयुग, भेंट, वार्ता पुनर्जन्म की प्रयोगशाला में मनोजगत् के रहस्य (ले० कन्हैया लाल नन्दन) १६ जुलाई, १९६७, पृष्ठ १४–१५, २४

जिनका जीवन समायोजित था, भावमयता के साथ बुद्धि और युक्ति से पूर्ण था, बहुव्यक्तित्व कैसे पाया जा सकता है ?

यदि उनमें इस घटना के अनुसार बहुव्यक्तित्व पाते है तो स्वस्थ और उन्माद-पूर्ण व्यक्ति दोनों, बहुव्यक्तित्व वाले समझे जा सकते हैं। क्योंकि दोनों ही प्रकार के व्यक्ति समय-समय पर अपने अन्तर की नैतिक और श्रेष्ठ तथा अनैतिक और पतित प्रवृत्तियों के परस्पर संघर्ष का अनुभव करते हैं। परन्तु अन्तर यह है कि एक इतनी क्षमता रखता है कि अपना संतुलन बनाए रखता है। जबकि दूसरा संतुलन मे असफल रहता है। श्री रामकृष्ण की सन्तुलन की क्षमता किस कोटि की थी, यह उनके जीवन से ही परिलक्षित हो सकता है।

दूसरी ओर इस प्रकार की घटना हम अन्य महान् रहस्यवादियो में भी तो पाते है। क्या वे बहुव्यक्तित्व वाले थे ? श्री चैतन्य देव का काजी-उद्धार, गुरु-भाव मे विह्वल होकर श्री अद्वैताचार्य को प्रहार करके भक्तिदान करना, ईसा का जेरुसलम के मन्दिर में घुसकर दूकानदारो और पण्डो के अत्याचार को देखकर सबको दण्डित करना[1] दैवी शक्ति का प्रकटीकरण है, सुधार की चेतना का सूचक है या बहुव्यक्तित्व का ? यह व्यक्तित्व है—सुधारक का, निरपेक्ष द्रष्टा और रहस्यवादी का।

श्री रामकृष्ण के वात्सल्य भाव की साधना के समय रामलला के साथ घनिष्ठ लीला सम्भोग को भी देखकर यही ज्ञात होता है कि उनका उस समय का आचरण सामान्य व्यक्ति का आचरण नही था। एक अष्टधातुओं की बनी हुई मूर्ति को लेकर पागलो की तरह घूमना, उसको नहलाना, सुलाना, उसके लिए रोना आदि व्यवहार क्या प्रमाणित करते है ? सामान्य दृष्टिकोण से देखने पर तो यही ज्ञात होता है कि उनका यह आचरण उन्मादपूर्ण ही था। मनोविदिलता के रोगियो की भांति इसे भी व्यामोह की स्थिति कह सकते हैं। यह एक प्रकार का मिथ्या विश्वास और विचार ही जान पडता है। कभी-कभी मनोविदिलता के रोगी में भी इस प्रकार के मिथ्या विश्वास, उन्मादपूर्ण आचरण और व्यामोह देखे जाते हैं। असामान्य मनोविज्ञान में इसी प्रकार का उदाहरण मिलता भी है।

"एक अविवाहित महिला रोगी ने चीथडों के छोटे से बण्डल के चारो ओर रस्सी बाँध रखा था और उसे वह अपना पुत्र कहती थी। अस्पताल के जिस कक्ष में वह रखी गयी थी उसके चिकित्सक को ही उस बच्चे का पिता

---

१. बाइबिल, मत्ती, २१।१२–१३।

बताती थी। जब चिकित्सक उसके कक्ष मे आता तो वह दौड़कर बच्चा उसे समर्पित कर देती थी। अन्य किसी को वह बच्चा छूने तक नही देती थी। प्रति दिन, रात को नियमित रूप से उस बच्चे को अपने साथ ही चारपाई पर सुलाती भी थी।"[1]

श्री रामकृष्ण के रामलला के साथ घनिष्ठ लीला सम्भोग सम्बन्धी आचरण देखने पर उनमें मनोविदिलता सम्बन्धी आचरण स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। उनके लिए रामलला सम्बन्धी सभी बाते उसी प्रकार सत्य और सम्भव थी जिस प्रकार मनोविदिलता के रोगी को अपनी बाते सत्य मालूम होती हैं। एक सामान्य व्यक्ति को तो वह मूर्ति एक खिलौने के अतिरिक्त और कुछ नहीं प्रदीत हो सकती।

यदि यहाँ मनोविदिलता के रोगी के विभिन्न लक्षणो के साथ श्री रामकृष्ण को देखा जाय तो वास्तविकता का पता चल सकता है। मनोविदिलता के रोगी मे संवेगात्मक विकृतियाँ अत्यधिक मात्रा में होती है। उसके लिए मैत्री सम्बन्ध स्थापित करना असम्भव हो जाता है। वह किसी सम्बन्धी की मृत्यु अथवा अन्य सुख दु:ख की घटनाओं से अछूता रहता है। उसमें निष्क्रियता देखी जाती है, जिससे वह हर समय शून्य दृष्टि से देखता रहता है। दैहिक आवश्यकताओं की रुचि समाप्त होने पर वह भूख-प्यास के कारण मर भी सकता है। अकारण हँसना या क्रुद्ध होकर किसी को मार देना भी देखा जाता है। रोगी कभी-कभी आँसू भी गिराता है और हँसता भी है। उसमें व्यामोह और अवस्तुबोधन की मात्रा अत्यधिक होती है। वाक्-विकृति के कारण रोगी मूक हो जाता है या बहुत कम बोलता है। अवस्तुबोधनों के अन्तर्गत सुनाई पड़ने वाली आवाजें उसे बोलने से रोक सकती है। यदि रोगी मूक न रहा तो इसके विपरीत अधिक वाचाल हो जाता है और उसके द्वारा व्यक्ति किए गए शब्द अनुचित, असम्बद्ध और निरर्थक होते हैं। नव-शब्द-रचना भी रोगियों की एक विशेषता होती है। परन्तु इस के अर्थ दूसरो के लिए अज्ञात होते हैं। विचार सम्बन्धी विकृतियों में यह देखा जाता है कि रोगियो के विचारों में शृंखला, संगठन, समन्वय अथवा प्रत्यक्ष उद्देश्य नहीं होता। रोगियो मे बौद्धिक अवरोध भी देखा जाता है। सीखना, स्मृति, गत्यात्मक क्षमता तथा कल्पना-शक्ति मे भी अवरोध पाया जाता है।[2]

---

१. डॉ० रामकुमार राय, असामान्य मनोविज्ञान, पृष्ठ २१९, २० पर उद्धृत।

२. ब्राउन, द साईकोडिनैमिक्स ऑफ अबनार्मल बिहैवियर, पृ० ३१९–२१।

दैहिक लक्षणों को देखने से यही ज्ञान होता है कि मनोविदिलता के रोगियों का शारीरिक स्वास्थ्य साधारणतया खराब ही होता है। उनके शरीर का ताप-नमीय नियन्त्रण बहुधा दोषपूर्ण और घटता-बढता रहता है।[1]

श्री रामकृष्ण की संवेगात्मक अवस्था को देखने से पता चलता है कि उनमें कोई भी संवेगात्मक विकृति नहीं थी। यदि उनके मैत्री सम्बन्ध को देखा जाय तो हम पाएँगे कि उनके भक्तों के अतिरिक्त देश के विभिन्न गण्य-मान्य व्यक्तियों यथा, केशवचन्द्र सेन, देवेन्द्रनाथ टैगोर, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर आदि से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। उनमें दूसरों के सुख-दुःख में सम्मिलित होने का तो यहां तक उदाहरण मिलता है कि नाविक को मार खाते देख रो पड़े। सम्भवतः सामान्य जीवन में भी ऐसे उदाहरण कम मिलेंगे। उनकी हास-परिहास-प्रियता, उनकी उक्तियों तथा कथनों से ही ज्ञात होती है। मथुर बाबू के साथ काशी में गरीबों को सहायता देने का भी उल्लेख आता है।[2] उनमें विद्यमान प्रेम, सहानुभूति तथा कोमल भावनाओं का उदाहरण उनके भक्तों पर पड़ी हुई छाप से मिल सकता है। क्योंकि उनके दर्शनार्थ जाने पर वे जिस प्रेम से भक्तों को ग्रहण करते थे उसका परिचय बड़े मार्मिक ढंग से भक्तों ने दिया है। श्री रामकृष्ण ने साधना के समय भोजन आदि को अवश्य कभी-कभी त्याग दिया है, परन्तु उससे न तो उनकी मृत्यु ही हुई और न तो उन्होंने दैहिक आवश्यकताओं की पूर्ति में अरुचि ही रखी। वे अच्छे-अच्छे भोजन स्वयं प्राप्त करते तथा भक्तों को भी प्रदान करते। वे फटे वस्त्र को पहनने के पक्ष में कभी नहीं थे। जय मुकर्जी तथा रानी रासमणि को उनका मारना निरुद्देश्य नहीं था, यह हम देख ही चुके हैं। अतः उनकी इस क्रिया को रोगजन्य नहीं कह सकते। इसके पहले हम देख ही चुके हैं कि उनमें किसी प्रकार का व्यामोह पाया ही नहीं जाता। अभी तक अवस्तुबोधन की भी कोई घटना नहीं प्राप्त हुई। दर्शन के उदाहरणों में हम इसकी आलोचनात्मक व्याख्या करेंगे, जिससे ज्ञात होगा कि उनके विभिन्न दर्शन अवस्तुबोधन नहीं थे। वचनामृत में संग्रहीत वार्तालाप को देखने से यही ज्ञात होता है कि उनमें वाक्-विकृति नहीं थी। न वे मूक ही रहते थे और न तो वाचाल ही। उनके शब्दों और वाक्यों का सार गर्भित अर्थ होता है। उनके विचारों में प्राप्त तारतम्य को देखकर कौन कह सकता है कि उनमें विचार-विकृतियाँ थीं ? उनकी सीखने, स्मरण, तथा

---

१. डॉ० रामकुमार राय—असामान्य मनोविज्ञान, पृष्ठ २६२–२६४।

२. लीला प्रसंग, द्वितीय खण्ड पृष्ठ १११।

कल्पना की शक्ति को हम देख ही चुके है, जिससे यह ज्ञात नहीं होता कि उनमें बौद्धिक अवरोध था। यही नहीं उनके सुगठित, कोमल और सुडौल शरीर मे किसी प्रकार का रोग भी नहीं था, यह भी हम देख चुके है।

इस प्रकार यदि मनोविदिलता के रोग का श्री रामकृष्ण में अन्य कोई लक्षण नही मिलता तो हम कैसे कह सकते है कि रामलला के साथ उनका लीला सम्भोग मनोविदिलता के रोग का लक्षण है ?

यहाँ यह भी विचारणीय है कि यदि श्री रामकृष्ण को मनोविदिलता का रोगी मानते है तो मूर्ति को देने वाला भी (जटाधारी) मनोविदिलता का रोगी रहा होगा। यदि वह रोगी ही रहा, तो उसने मूर्ति कैसे दी और साधना के विस्तृत नियमों को कैसे समझाया। क्योंकि रोगी ऐसा नहीं कर सकता।

दूसरी ओर मूर्ति के उदाहरण मे यह भी तथ्य प्राप्त होता है कि मूर्ति डोलती-बोलती[1] थी। परन्तु उपर्युक्त मनोविदिलता के उदाहरण मे चीथडे की सन्तान बोलती-डोलती नहीं थी। अत दोनों मे कोई समता नहीं है।

अतः यह निश्चित है कि जब रामलला का उदाहरण मनोविदिलता के लक्षणों में नहीं आता तो मनोविज्ञान इसकी व्याख्या नही कर सकता।

ऋषियों ने बहुत-सी बाते साक्षात् द्रष्टा होकर बतायीं है। वैज्ञानिकों ने बहुत से कार्य करके दिखलाये है। उनमे क्या सब की गति हो सकती है? क्या सभी वैसा कर सकते है? कर वही सकते है जिनमें उस प्रकार की क्षमता हो, प्रयास हो, तन्मयता हो अन्यथा जैसा कहे वैसा मान लेना पड़ता है और हम मानते भी है। वास्तविकता क्या है, इसको जानना सब के लिए सम्भव नही दीखता। कोई वस्तु तभी सत्य प्रतीत होती है जब उसे उसके सम्पूर्ण आयामों मे देखा जाय। किसी एक आयाम से वह अधूरी ही दीख पड़ेगी। यदि श्री रामकृष्ण के रामलला सम्बन्धी आचरण और अनुभूति को सही नहीं मान सकते तो हम उसे मनोविदिलता सम्बन्धी व्यामोह भी कहने में असमर्थ हैं। क्योंकि अन्य व्यवहारों मे मनोविदिलता के लक्षण नहीं देखे गये।

श्री रामकृष्ण ने विभिन्न साधनाएँ की है और उन साधनाओं के समय उनको विचित्र-विचित्र प्रकार के अनुभव और दर्शन हुए हैं तथा रूप भी पकड़ना पड़ा है—जिनको हम सामान्य दृष्टिकोण से अवस्तुबोधन या मनोकल्पना ही कह सकते है। दास्य-भाव की साधना में हनुमान् के रूप में आकर साधना करते समय उनका आचरण हनुमान् के ही रूप में होता था—पेड़ पर रहना,

---

१. श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग, द्वितीय भाग, पृष्ठ २९१—२९२।

छिलके सहित फलों को खाना, पूंछ लगाकर साधना के लिए बैठना, एक अद्भुत आचरण ही है। राधा भाव में आकर साधना करते समय उनके शरीर में हुए परिवर्तन तथा विभिन्न प्रकार के दर्शन विचित्र ही ज्ञात होते हैं।

हनुमान् भाव की साधना में उनको भी इस बात का आश्चर्य था कि उस समय उनके रीढ की हड्डी का अन्तिम छोर भी लगभग एक इंच बढ़ गया था। इसका कारण उन्होंने ही बताया कि यह सब मन के ऊपर उस भाव के प्रभाव से ही हुआ था। मन के प्रभुत्व के हट जाने पर वह फिर जैसा था वैसा हो गया। यह परिवर्तन और इसी प्रकार के अन्य परिवर्तन जो मधुर भाव की साधना में स्त्री भाव में होने पर हुए थे, दुर्वादल को पद-दलित रूप में देखने पर व्याकुलता हुई थी, या एक नाविक के दूसरे नाविक को मारने पर उनके पीठ पर चोट का जो अनुभव हुआ था, मन के प्रभाव के कारण ही सम्भव जान पड़ता है। इस प्रकार के शारीरिक परिवर्तन केवल उन्हीं को नहीं वरन् सेण्ट फ्रान्सिस के जीवन में भी देखने में आया है। उन्होंने अपने मन को ईसा के साथ एकीकृत कर दिया था। ईसा से ऐसा तादात्म्य स्थापित कर लिया कि शारीरिक रूप में अपने को ईसा रूप में ही देखने लगे। एक तपस्विनी ने अपने में अनेक उन शारीरिक लक्षणों को विकसित कर लिया था जो ईसा में थे। रोम की एक दूसरी तपस्विनी की चर्चा है जिसमें प्रत्येक गुड फ्राइडे को ईसा के शारीरिक लक्षणों को देखने को मिलता था।[1] स्वामी अखिलानन्द का कहना है कि इस प्रकार के शारीरिक परिवर्तन अपनी इच्छा-शक्ति को संगठित करने के कारण सम्भव होते हैं। साधारण जीवन में भी जब हम क्रोध या अन्य किसी भाव में होते हैं तब हमारे सम्पूर्ण नाडी मण्डल और मांसपेशियों में परिवर्तन देखे जाते हैं जिसे आधुनिक मनोविज्ञान स्वीकार भी करता है। इसी प्रकार प्रेम में हमारा शरीर शिथिल होते देखा जाता है। इन सामान्य अनुभवों से साधकों में प्राप्त परिवर्तनों की सरलता पूर्वक व्याख्या की जा सकती है—जो अपने प्रियतम से उच्चावस्था में अपना तादात्म्य स्थापित करके एकाकार हो जाते है।

पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों के 'सम्मिलन' की क्रिया (इनकारपोरेशन) के सिद्धान्तानुसार भी इस क्रिया की व्याख्या की जा सकती है, परन्तु किसी सीमा

---

१ अखिलानन्द, हिन्दू साइकोलॉजी, पृ० ८७–८८।

भय या हर्षपूर्ण शब्द सुनता है।[1] परन्तु योगी जब समाधिस्थ होता है तो उसके शून्य अथवा आकाश (ब्रह्म रध्र के समीप) मे एक प्रकार की ध्वनि होती है। जिससे वह आह्लादित होकर ईश्वर में मन लगाए रहता है। यह अवस्था रोगजनित नही वरन् अभ्यास, साधना, चित्तशुद्धि से प्राप्त एक अवस्था है। 'आवर्तन अथवा जप-यज्ञ इत्यादि के अभ्यास से जब वैखरी शब्द से आगन्तुक समस्त मल दूर हो जाते है, तब इड़ा पिंगला का अपेक्षाकृत स्तम्भन हो जाता है और सुषुम्ना पथ कुछ परिमाण मे उन्मुक्त हो जाता है। फिर प्राणशक्ति की सहायता से शोधित होकर शब्द-शक्ति सुषुम्ना-रूप ब्रह्मपथ का आश्रय लेकर क्रमशः उर्ध्वगामिनी होती है। यही शब्द की सूक्ष्म या मध्यमा नामक अवस्था है। इसी अवस्था मे—'आनहत-नाद' प्रकट होता है और स्थूल शब्द इस विराट् प्रवाह मे निमग्न होकर उससे भर जाता है तथा चेतनाभाव धारण कर लेता है।'[2]

साधना की जिस आधार-भूमि से योगी को इस ध्वनि का ज्ञान होता है उसकी तुलना मनोविदिलता के रोगी से नहीं की जा सकती।

श्री रामकृष्ण को समाधि की विभिन्न अवस्थाएँ प्राप्त हुई थी। हमने देखा है कि बचपन मे ही उनको समाधि की अवस्थाएँ हुई। क्या उन अवस्थाओ-को वास्तव मे समाधि की ही अवस्था कह सकते है। या शारीरिक तथा मानसिक विकार। उनमे समाधि की किन-किन अवस्थाओ के लक्षण विद्यमान थे तथा योग और भगवत् मे वर्णित समाधि से उनकी कहाँ तक समता है? इन प्रश्नो का उत्तर हम अध्याय आठ मे प्राप्त करने का प्रयास करेगे।

श्री रामकृष्ण के जीवन मे केवल समाधि की अवस्थाएँ ही आश्चर्यजनक नही है, वरन् उनके उत्तरकालीन जीवन मे और भी अनेक विस्मयकारी घटनाएँ प्राप्त है, जिनका उल्लेख और मनोवैज्ञानिक पर्यालोचना आवश्यक है।

---

१. वही, पृष्ठ २८३।
२. डॉ० गोपीनाथ कविराज—भारतीय संस्कृति और साधना, पृ० ३८४।

वस्तु के उपस्थित न होने पर भी बाह्य जगत् मे वस्तु को देखा जाता है। मनोविदिलता के रोगी को बहुधा दिव्य और अलौकिक दृश्य दिखाई पडते है। कभी वह देखता है कि भगवान स्वयं साकार होकर प्रकट होने है और कभी किसी दिव्य प्रकाश अथवा असाधारण उल्कापात के रूप मे उनको सन्देश प्राप्त होता है। इस प्रकार के रोगी को सभी प्रकार के अवस्तुबोधन (श्रवण, दृष्टि, स्वाद, गन्ध और स्पर्श) होते रहते हैं।[1] तो क्या श्री रामकृष्ण के विभिन्न प्रकार के दर्शन जैसे संसार की सम्पूर्ण वस्तुओ मे चिन्मय का दर्शन, राम-कृष्णादि अवतारों का दर्शन, ईसा, मुहम्मद तथा चैतन्य आदि महापुरुषो के दर्शन तथा ईश्वर के अन्य रूपों के दर्शनों को अवस्तुबोधन ही कहा जा सकता है। यही नही अनेक उच्च स्तर के पाश्चात्य रहस्यवादियों को ऐसे दर्शन प्राप्त हुए हैं—ऑगस्टाइन कहते है 'मैने अपनी अन्तरतम आत्मा में प्रवेश किया और अपने प्रकाश और अपनी आत्मा से भी परे मैने एक अपरिवर्तनीय नित्य प्रकाश देखा।.....और मैंने देखा है कि तू हर चीज को अच्छा बनाता है और तेरे लिए कोई चीज बुरी नही है।[2]

प्रसिद्ध ईसाई रहस्यवादी एरवार्ट का दर्शन श्री रामकृष्ण की ही भाँति सर्वत्र चिन्मय दर्शन ही था[3]।

क्या इन रहस्यवादियों के दर्शन तथा अनुभवो को अवस्तुबोधन ही कहा जा सकता है।

हम रहस्यवादी अनुभवों तथा दर्शनो की व्याख्या सामान्य जीवन के स्तर पर अवस्थित होकर करना चाहते है। परन्तु इस प्रकार की अनुभूति की भाव-भूमि, रहस्यवादियों के अनुसार कुछ और ही है। भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार यह अवस्था मन के भाव समाधि के स्तर पर पहुँचने पर होनी है और पाश्चात्य रहस्यवादियों के अनुसार ठीक यही अवस्था ध्यान (कन्टेमप्लेशन) के रूप में है।

पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक दर्शनों को अवस्तुबोधन मानता है, क्योंकि उसकी पहुँच निम्न मन, अह या चेतना तक ही है। समाधि की अवस्था तक पहुँचा हुआ मन वैराग्य से पूर्ण, ईश्वरीय प्रेम और उन्माद से पूरित होता है। उसी

---

१. कोलमैन, अबनार्मल साइकालॉजी एण्ड माडर्न लाइफ, पृष्ठ २६९।

२. डा० राधाकृष्णन्—जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि, पृष्ठ ११६–११७, पर उद्धृत कन्फेशन्स ७।१०।

३ स्पस—टीचिंग ऑफ द मिस्टिक्स पृष्ठ १६ पर उद्धृत।

मन से 'सर्वभूतों' मे ईश्वर का साक्षात्कार होता है। इसी मन से बुद्ध, क्राइस्ट, मुहम्मद, चैतन्य, ऑगस्टाइन, टेरेसा, एखार्ट आदि "रहस्यवादियों को चैतन्य-दर्शन तथा साक्षात्कार ईश्वर-दर्शन हुआ था। यदि इनके दर्शनों को अवस्तु-बोधन या भ्रम कहा जाय तो असंगत प्रतीत होता है, क्योंकि जिसमें अवस्तु-बोधन और मति भ्रम होता है उनका प्रमुख लक्षण यह होता है कि उनमे मानसिक असंगठन विद्यमान रहता है। उनके संवेग अनियन्त्रित होते है, उनका नाडी मण्डल क्षत-विक्षत हो जाता है। वास्तव मे ऐसे ही व्यक्ति मनोविकृत की श्रेणी में आते है, और इनमें ही अवस्तुबोधन, व्यामोह तथा अन्य प्रकार की मानसिक व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। इनका व्यवहार कपोल-कल्पना तथा मिथ्या प्रत्यक्ष से पूर्ण होता है। मनोविकृत व्यक्ति की सबसे बड़ी कसौटी है उसके चरित्र पर मानसिक व्याधियों का पडा हुआ प्रभाव। यदि वे प्रभाव व्यक्तित्व को असमायोजित कर देते हैं तो उनको व्यामोही या अन्य मानसिक रोगों से ग्रसित कहा जा सकता है।

इस अर्थ में सभी प्रकार के अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष अवस्तुबोधन नही माने जा सकते। हम सरलतापूर्वक रहस्यवादियों को उनसे अलग कर सकते हैं जो व्यामोह के प्रभावों से प्रभावित है। उन महापुरुषो में जिनकी अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष होते है ऐसे चारित्रिक गुण वर्तमान रहते है जो उनके जीवन को महान् बनाते है। उनकी तुलना मे मनोविकृत व्यक्तित्व में महान् गुणों के दर्शन नही होते। इस प्रकार सबसे बडी कसौटी उनके जीवन के महान् गुण ही माने जा सकते हैं। एक का व्यक्तित्व जहाँ द्वन्द्वात्मक तथा संघर्षपूर्ण तत्वों से भरा होता है वही दूसरी ओर अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष वाले पुरुष मे नवीनता तथा सुव्यवस्थितता का आभास देखने को मिलता है।

जैकाब हेन्स ने तो कुछ उदाहरणो के द्वारा यहाँ तक सिद्ध करने का प्रयास किया है कि सभी प्रकार के मनोविकृत के अनुभव अवस्तुबोधन कहे जा सकते। क्योंकि हो सकता है कि उसका अवचेतन व्यक्ति को पराभौतिक सतह पर लाकर सत्य का अनुभव कराए। उनके अनुभवों मे पर्याप्त मात्रा में सत्यता रहती है, इसे समझने के लिए सूझ की आवश्यकता है। रहस्यवादियों का अलौकिक प्रत्यक्ष भी उसके अन्त.करण से ही प्राप्त होता है, उसकी वस्तुगत कसौटी यहं होती है कि वह संसार में प्रत्यक्ष रूप में उसे देखता है।[1] जैसे ईसा ने शैतान को बिजली की तरह स्वर्ग से नीचे गिरते हुए देखा था।[2]

---

१ जैकाब हेन्स—वेस्टर्न साइकोथिरोपी एण्ड हिन्दू साधना, पृष्ठ २११।
२ बाइबिल, लूका, १०।१८।

संकीर्तन तथा नृत्य मे भी उनको बार-बार भाव समाधि हो जाती थी।[1] कभी-कभी किसी भाव या दृश्यमात्र से ही यह अवस्था उपस्थित होती थी। गहरी भाव-समाधि में मग्न होने पर उनकी दशा महाप्रभु चैतन्य के समान हो जाती थी। 'श्री गौराग की तरह श्री रामकृष्ण की भी तीन दशाएँ है, कभी अन्तर्दशा—तब जड़ वस्तु की भाँति आप बेहोश और निःस्पन्द हो जाते है, कभी अर्ध बाह्य दशा—तब प्रेम से भरपूर होकर नाचते है, और फिर बाह्य दशा तब भक्तो के साथ कीर्तन करते है।[2]

यह है उनकी समाधि की अवस्था में शारीरिक तथा मनोवैज्ञानिक विशेषता। उनका मन नित्य तथा लीला दोनो का आस्वादन करता जान पड़ता है। शरीर इस अवस्था मे पुलकायमान हो जाता है। इसीलिए कभी नृत्य करते हैं, कभी सकीर्तन, कभी भागवती शक्ति से वार्तालाप।

श्री रामकृष्ण का भागवती शक्ति से सतत् सान्निध्य रहता है। उससे विमुक्त होने पर उनको व्याकुलता होती थी और उनके सम्बन्ध के अतिरिक्त कोई दूसरी ऐहिक जीवन की वार्ता उनके लिए सह्य न थी। भागवती शक्ति को ही वे ब्रह्म, माँ या आद्याशक्ति के रूप मे मानते थे।

'जो ब्रह्म है, वही माँ, वही आद्या शक्ति है।'[3] वे कभी माता और पुत्र का सम्बन्ध रख कर चिन्तन करते, कभी सेव्य और सेवक के रूप मे।

'माँ पूजा गई, जप गया। देखना माँ! कहीं जड़ न बना डालना। सेव्य-सेवक भाव मे रखो, जिससे बात कर सकूँ, तुम्हारा नाम—सकीर्तन और गान कर सकूँ, और शरीर मे थोड़ा बल दो माँ! जहाँ पर तुम्हारी कृपा होती हो, जहाँ पर तुम्हारे भक्तगण हो, उन सब स्थानो मे जा सकूँ।'[4]

समाधि से ही उनको यह भी ज्ञात हुआ था कि वे जो कुछ कहते थे, करते थे, किसी शक्ति के आधार पर। वह शक्ति चालक शक्ति था। 'इसके भीतर कोई एक रहता है। वही मुझे इस तरह चला रहा है। मैं यन्त्र हूँ और वे

---

१. वही, पृष्ठ ३८, ४३, ५३, ११८, १२०, १८९, २०३, २०८, २१५, २३१, २४६, २६६, २७८, ३३७, ३७३, ३९६, ४५६, ४८५, ५०६, ५७१, ५९२, ६२५। तृतीय भाग, पृष्ठ ३, ८१, १५४, १९९, २०५, ४३०, ४३६।

२. श्री रामकृष्ण वचनामृत, भाग, १ पृष्ठ २३३।

३. वही, पृष्ठ ४५७।

४ वही, पृष्ठ ४५६।

तक। 'इनकारपोरेशन वह मनोवैज्ञानिक क्रिया है जिसमें किसी बाह्य वस्तु मानवीय अथवा अमानवीय, को शरीर में धारण किया जा सकता है। यह क्रिया अधिकतर मुँह से और कभी-कभी नाक, कान आदि ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा भी सम्पन्न होती है। इस क्रिया मे व्यक्ति किसी भी सिद्धान्त या विचार को अपने में आत्मसात् करता है। इस आत्मसातीकरण में मन और शरीर दोनो का सम्मिलित योग है। वे विचार केवल भाव रूप ही नही बल्कि देहस्वरूप ग्रहण होते है। इसीलिए धर्म के क्षेत्र में कोई व्यक्ति ईसा के साथ सदेह निवास कर जाता है। यह आत्मसातीकरण बाह्य इन्द्रियो के माध्यम से होता है। जो 'कुछ' हम अपनी ज्ञानेन्द्रियो से ग्रहण करते है, वही 'कुछ' सन्दर्भगत विभूति के विचार मे ग्रथित होता जाता है। इस प्रकार मनुष्य का शरीर उक्त विभूति के साथ एकाकार होता जाता है।[1]

इस सिद्धान्त से इतना तो सिद्ध किया जा सकता है कि व्यक्ति किसी भी सिद्धान्त या विचार को अपने में आत्मसात् कर लेता है। या सदेह एकाकार भी हो सकता है परन्तु अब प्रश्न है, कि क्या इससे कोई दैहिक रचनाओं में भी परिवर्तन आ सकता है ? सम्भवत. इस सिद्धान्त से इसका उत्तर नही दिया जा सकता। क्योंकि इससे तो इतना ही सिद्ध होता है कि व्यक्ति, सामान्य भावों या विचारों को ही आत्मसात् कर सकता है। असाधारण रूप में श्री रामकृष्ण जैसे रहस्यवादियो में प्राप्त शारीरिक परिवर्तन के उदाहरणो की व्याख्या, इस सिद्धान्त से सम्भव नही जान पड़ती। हमारे विचार से ध्यान की एकाग्रता के कारण ही यह सम्भव होता है। यह वह स्तर है जो केवल समाधिस्थ पुरुषों मे ही सम्भव है। साधारण साधकों में ऐसा स्तर नही होता। चूकि साधारण साधको मे ऐसे परिवर्तन दृष्टिगोचर नही होते, इसलिए यह अलौकिक लगता है। यहाँ हम यह अस्वीकार नहीं कर रहे है कि 'सम्मिलन की क्रिया' सम्भव ही नही है। इस सिद्धान्त से सामान्य उदाहरणो की तो व्याख्या की जा सकती है परन्तु ऐसे अद्भुत शारीरिक परिवर्तनों के उदाहरण जो श्री रामकृष्ण मे मिलते हैं, उनकी व्याख्या करना इस सिद्धान्त से असम्भव है, ऐसा प्रतीत होता है।

श्री रामकृष्ण के विभिन्न प्रकार के दर्शनों को देखकर पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक अवस्तुबोधन कह सकते है। अधिकाश रूप में मनोविकृति होने पर

---

१. ओ० स्पर्जन इंगिलिश, गेराल्ड एच० जे० पियर्सन, इमोशनल प्राबलम्स ऑफ लिविंग, पृष्ठ ३५–३६।

6

उत्तरकालीन जीवन

आध्यात्मिक अन्वेषण तथा घोर साधना के पश्चात् श्री रामकृष्ण का जीवन कई रूपो मे परिवर्तित जान पड़ता है। जिस प्रकार आँधी और तूफान के पश्चात् वातावरण मे एक नवीनता, शान्ति तथा विराम मालूम होता है, उसी प्रकार श्री रामकृष्ण का उत्तरकालीन जीवन साधाना रूपी आँधी के पश्चात् की प्रतिक्रिया थी। उनका प्रवाहित जीवन धर्म-साधना की दृष्टि से स्थिर तथा शान्त हो गया। उपलब्धियो के पश्चात् हृदय का हाहाकार शान्त होता भी है। श्री रामकृष्ण की उपलब्धि थी आत्मसाक्षात्कार। उनकी साधना की चरम सीमा समाधि की अवस्था थी। प्रथम दर्शन प्राप्त करने के पश्चात् भी साधना की पूर्णता समाधि में ही देखी जाती है। सब से बड़ी विशेषता तो यह है कि समाधि अवस्था को प्राप्त कर लेने के पश्चात् भी उनका प्रत्यावर्तन लीलाभूमि की ओर हुआ। इस प्रकार का प्रत्यावर्तन उच्चस्तर के रहस्य-वादियों के जीवन में ही होता है; जिन्हें संसार और ईश्वर को लेकर रहना होता है। बुद्ध तथा ईसा इसी कोटि में आते हैं। पाश्चात्य विद्वत्तवर्ग का यह कहना है कि योगियों की साधना स्वार्थ के लिए (मोक्ष) होती है, ऐसे रहस्य-वादियो के जीवन से यह कथन असत्य सिद्ध हो जाता है। वह तो गीता का लोक सग्रही होकर संसार का उपकार करता है, शान्ति, दया, क्षमा, प्रेम आदि का पारावार प्रवाहित करता है। क्योंकि रहस्यवादी देखता है कि विश्व मे सभी कुछ वही सत्ता ही है। फिर वह भक्ति लेकर रहता है।

साधना के समय श्री रामकृष्ण को निर्विकल्प समाधि की अवस्था प्राप्त हुई थी। उस समय उनका मन विराट् में लीन हो जाता था (रूप में तन्मयता की अनुभूति होती थी। इस भावातीत अवस्था मे "मैं" "तुम" का बोध लुप्त हो जाता था। शारीरिक अवस्था पहले से भिन्न हो जाती थी। बाह्य ज्ञान लुप्त हो जाता था। देखना, सुनना सम्भव नहीं था, वार्तालाप करना कठिन था।

साधना के पश्चात् यही समाधि की अवस्था कुछ भिन्न रूपो में देखने में आती है। यह अवस्था उनके अनुसार भाव समाधि की है। भावना के उद्रेक-मात्र से उनको समाधि हो जाया करती थी। इस प्रकार उनको बार-बार

समाधि होती थी। भक्त और सत्ता का सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूप मे इस अवस्था मे बना रहता है। वे किसी एक भाव को लेकर रहते थे। निर्विकल्प समाधि या जड़ समाधि मे इस प्रकार की अवस्था नही रह जाती। लेकिन उस अवस्था के प्राप्त हो जाने के बाद भी श्री रामकृष्ण की अवस्था दूसरे रूप की थी, जो समाधि के रूप मे प्रकट होती थी। भक्तों के पूछने पर कि—"इस समाधि की अवस्था में भला आप को क्या जान पडता है।"[१] उत्तर दिया—'सुना नही किस तरह होता है, सुनो।" "जैसे हण्डी की मछली गंगा मे छोड देने से फिर वह गगा की मछली हो जाती है।"[१]

प्रश्न यह उठता है कि क्या इस अवस्था मे "अहं" नही रह जाता। वैसे तो अह सामान्य रूप से नही ही होता परन्तु उच्चस्तर के रहस्यवादियो को लीलाभूमि मे उतरना पड़ता है, इसलिए उनका कुछ अह रह जाता है। वे भक्ति का स्वाद लेते है। श्री रामकृष्ण ने स्वय अपने विषय मे इस अवस्था का वर्णन किया है। 'नही पर मेरा कुछ अहकार रह जाता है।' सोने के एक टुकड़े को तुम चाहे जितना घिस डालो, पर अन्त मे एक छोटा-सा कण बचा ही रहता है। और जैसे कोई बडी भारी अग्निराशि है, उसकी एक जरा-सी चिनगारी हो। बाह्य ज्ञान चला जाता है, परन्तु थोडा-सा अहकार रह जाता है, शायद वे विलास के लिए रख छोडते है। "मैं" और "तुम" इन दोनो के रहने ही से स्वाद मिलता है। कभी-कभी वे अहं को भी मिटा देते है। इसे "जड़ समाधि" या "निर्विकल्प समाधि" कहते है। तब क्या अवस्था होती है, यह कहा नही जा सकता। नमक का पुतला समुद्र नापने गया था। ज्यो ही समुद्र मे उतरा कि गल गया। "तदाकारकारित"। अब लौट कर कौन बतलाए कि समुद्र कितना गहरा है।[२]

भक्ति के स्वाद के लिए ही वे निर्विकल्प समाधि से भाव समाधि में अवस्थित थे। उत्तरकालीन जीवन मे वे बहुधा समाधि मग्न ही रहा करते थे।" थोडे से ही उद्दीपन से बाह्य ज्ञान शून्य हो जाते हैं। जब भक्तगण आते है तो थोडा-सा वार्तालाप करते है, अन्यथा सदा ही अन्तर्मुख रहते हैं। अब पूजा, जप आदि नहीं कर सकते।[३]

---

१. श्री रामकृष्ण वचनामृत, प्रथम भाग, पृ० २५०।
२. वही, पृष्ठ २५०।
३ वही, पृष्ठ ४५६

इसमें सन्देह नही कि जैकाब हेन्स ने रहस्यवादियों के दर्शन सम्बन्धी तथ्यों को पूर्णरूपेण स्वीकार किया है, परन्तु साथ ही मनोविकृत व्यक्तित्व के अतीन्द्रिय अनुभवों तथा दर्शनों को अस्वीकार नही किया है। हमारे विचार से यह समुचित नही जान पडता। क्योंकि दोनो की आधार-भूमि में बड़ा अन्तर है। यदि किसी रोगी मे कोई विशेष लक्षण दिखायी भी पडे तो उससे हम रहस्यवादियों के अनुभवों की तुलना नही कर सकते। कारण यह है कि रोगी का अवचेतन तो उस पराभौतिक सतह पर पहुँच भी नही सकता, क्योंकि रोगी तो पूर्णत: भौतिक स्तर पर रहने वाला होता है। फिर उसके भीतर पराभौतिक सत्य कैसे जा भी सकता है ? मनोविश्लेषणवादियो ने यह भी बतलाया है कि अवचेतन मूल प्रवृत्तियों एवं वासनाओं का भण्डार होता है। अत: यह कैसे कहा जा सकता है कि रोगी का अवचेतन उसे पराभौतिक सत्य का दर्शन करा सकता है ?

श्री रामकृष्ण का अनाहत शब्द को सुनना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से आश्चर्यजनक ही ज्ञात हो सकता है, परन्तु योग-मनोविज्ञान के आधार पर इसकी व्याख्या कठिन नही जान पडती। अनाहत शब्द की समता कुछ-कुछ मनोविदिलता के रोगी के अवस्तुबोधन से देखी जा सकती है क्योंकि मनोविदिलता के रोगी को विभिन्न प्रकार की धमकी, तिरस्कार अथवा प्रशंसा भरी आवाजें सुनाई पडती है। रोगी की प्रारम्भिक अवस्था में इन आवाजों का रोगी पर चाहे कम प्रभाव पड़ता हो परन्तु कुछ दिन पश्चात् उसी आवाज के निर्देश के अनुसार ही वह अपना व्यवहार भी करने लगता है। रोगी कभी-कभी इन आवाजो को सुनकर क्रुद्ध भी होता है और लडने तथा झगडा करने का प्रयास भी करते देखा जाता है। जिस रोगी को प्रसन्नतापूर्ण आवाज ज्ञात होती है वह एकान्त मे उसको सुनने के लिए बैठ जाता है और सुन-सुन कर प्रसन्न भी होता है। कभी-कभी रोगी इन शब्दो को सुनकर समझता है कि यह ईश्वर की या हमारे शुभेच्छु की वाणी है।[1]

रोगी की इस अवस्था की समता अनाहत शब्द के सुनने की अवस्था से किसी भी रूप में समीचीन नही जान पड़ती। क्योंकि अनाहत शब्द योगी को विक्षिप्तावस्था में नही सुनाई पडता बल्कि यह साधना के एक स्तर पर होता है। रोगी के विषय में यह कहा जाता है कि वह अपनी अपूर्ण वासनाओ तथा इच्छाओं का प्रक्षेपण करता है तथा अपने असह्यनीय अपराधों से पीड़ित होकर

१ कोलमैन एब्स मार्डन लाइफ, पृ० २८१।

श्री रामकृष्ण भावाविष्ट होकर जब शिष्यों को स्पर्श करते थे उस समय शिष्यों में धर्म-शक्ति जागृत हो जाती। स्वामी शारदानन्द द्वारा उल्लिखित १ जनवरी, १८८६ की घटना से यही विदित होता है।

'उस दिन श्री रामकृष्ण देव ने उसी तरह भावाविष्ट होकर वहाँ जो भक्त उपस्थित थे, उन्हे स्पर्श कर उनके भीतर धर्मशक्ति को संचारित अथवा उनके सुप्त धर्मभाव को जागृत कर दिया–था–' चरण स्पर्श कर पहला व्यक्ति ज्यो ही खडा हुआ, त्यों ही श्री रामकृष्ण उसी अर्धभाव दशा में उसका वक्षस्थल स्पर्श कर नीचे से ऊपर की तरफ हाथ फेर कर बोले, 'तुझे चैतन्य प्राप्त हो'। इसी प्रकार....समुपस्थित भक्तों में से सभी को क्रमशः वे इस प्रकार स्पर्श करने लगे और इस अद्भुत स्पर्श के प्रभाव से प्रत्येक के भीतर भावान्तर उपस्थित होने के कारण कोई हँसने, कोई रोने तथा कोई ध्यान करने लगा और कोई स्वयं आनन्द विह्वल होकर अहैतुक दयानिधि श्री रामकृष्ण देव की कृपा प्राप्त कर धन्य होने के निमित्त दूसरे लोगो को जोर-जोर से पुकारने लगा। उस चिल्लाहट तथा जय ध्वनि को सुनकर त्यागी भक्तों में से कोई सोए हुए भक्त जागकर तथा कोई अपने हाथ का काम छोडकर वहाँ पर दौडे हुए आ पहुँचे तथा उन्होने देखा कि नीचे के मार्ग पर सब लोग श्री रामकृष्ण देव को घेरे हुए पागल की भाँति आचरण कर रहे हैं।"

"यह पूछने पर कि उस समय उनको कैसा अनुभव हुआ था, यह विदित हुआ कि भाँग पीने से जैसे नशा होता है, किसी को उस प्रकार का नशा तथा आनन्द किसी को, जब वे नेत्र बन्द कर जिस मूर्ति का नित्य ध्यान किया करते थे, किन्तु उन्हें दर्शन नहीं प्राप्त होता था, अपने अन्दर उस मूर्ति का अत्यन्त स्पष्ट दर्शन-किसी को इससे पूर्व अनुभव न होने वाली कोई वस्तु या शक्ति सर-सर करती ऊपर चढ़ रही है, इस प्रकार का अनुभव तथा आनन्द एवम् किसी को नेत्र बन्द करते ही अदृष्टपूर्व ज्योति का दर्शन तथा आनन्दानुभव हुआ था'।[1] किसी-किसी को उनके दर्शन मात्र से ही भावावस्था हो जाने का भी उदाहरण मिलता है। पंचवटी मे दो व्यक्ति मल्लाह या तमोली थे, उनके पास जाते रहते थे, उनकी ऐसी अवस्था हो गई थी—'एक दिन पचवटी मे मै उनके साथ बैठा हुआ था—उस समय उनमे से एक की बडी विचित्र दशा हुई। मैंने देखा कि उसका वक्षःस्थल आरक्त हो उठा है, आँखे घोर लाल है,

१. श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग, द्वितीय भाग, पृष्ठ ९७–१०० तथा तृतीय भाग पृष्ठ १८७।

वार्तालाप करते। भावावेश में पुनः श्री रामकृष्ण माता से बातें कर रहे है। कह रहे है—'भोजन करके इस समय चला जाऊंगा। तू आई ! पोटली बाँध कर, जहाँ रहेगी वह घर ठीक करके तू आई है क्या ?

'अब मुझे कोई नही सुहाता'।

'माँ गाना क्यो सुनु ? उससे तो मन कुछ बाहर चला जाता है।"[१]

भागवती शक्ति से वार्तालाप करना उनके जीवन की रहस्यमय घटना तो है ही। इसके अतिरिक्त साधना के पश्चात् उपलब्धियों का वितरण करने के लिए तथा लोक शिक्षा तथा कल्याण के लिए भक्तो के आगमन के प्रति अग्र-द्रष्टा होना भी आश्चर्यजनक है। उस समय लब्धप्रतिष्ठ ब्राह्म समाज के संस्थापक श्री केशवचन्द्र सेन के साथ शिष्यों का समागम तो आश्चर्य की बात नही। क्योंकि उनका प्रचार-कार्य बहिर्मुखी रूप में विस्तृत रूप से हो रहा था। उस समय स्वाभाविक ही था कि उनके आकर्षण से धीरे-धीरे अनेक शिष्य प्रभावित होकर एकत्रित होते। परन्तु एक मन्दिर के पुजारी के सन्निकट बिना किसी प्रचार के कैसे शिष्य वर्ग आने लगा ? यह आश्चर्यजनक ही था। श्री रामकृष्ण के जीवन को देखा जाय तो यही विदित होता है कि उन्हे शिष्यों के आगमन का आभास हुआ। वे अग्रद्रष्टा थे। यह भी है कि योगी के लिए अग्रद्रष्टा होना कोई बड़ी बात नही जान पड़ती। अग्रद्रष्टा होना सिद्धियो की श्रेणी मे हो सकता है परन्तु श्री रामकृष्ण ने भक्ति को ही महत्त्व दिया। सिद्धि के लिए नही। जो सत्य का द्रष्टा होता है उसका अग्रद्रष्टा होना, साधारण बात हो सकती है। वे शिष्यो के आगमन के प्रति अग्रद्रष्टा थे। उनके पास सभी प्रकार के शिष्य अन्तरंग, बहिरग और रसददार (आवश्यकताओ को पूरा करने वाले) आए। भक्तों के एकत्रित होने का आभास उनको पहले ही हुआ था :—

'जब आरती होती थी तब मै कोठी के ऊपर से चिल्लाता था, 'अरे भक्तो, तुम सब कहाँ हो ? आओ जल्दी आओ। सासारिक मनुष्यो के बीच में मेरे प्राण निकले जा रहे हैं'। इगलिशमैनों (अग्रेजी पढ़े आदमियों) से अपना हाल कहा तो उन्होंने बतलाया, 'यह सब मन की भूल है'। तब अपने मन में यह कहकर 'शायद ऐसा ही हो', मैं चुप हो गया। परन्तु अब तो वह सब ठीक उतर रहा है। अब भक्त आकर एकत्रित हो रहे है।"

---

१. वही, तृतीय भाग पृष्ठ १५४।

"फिर माँ ने दिखलाया पाँच आदमी सेवा करने वाले है। मथुर बाबू हैं। फिर हैं शम्भु मल्लिक, उसे पहले मैंने कभी नहीं देखा था। भावावेश में मैंने देखा, गोरे रग का आदमी, सिर पर टोपी पहने हुए। जब बहुत दिनो बाद शम्भू को देखा, तब याद आ गया कि इसी को मैंने भावावस्था में देखा था। सेवा करने वाले और तीन आदमी अभी ठीक नहीं हुए, परन्तु सब गोरे रंग के है। सुरेन्द्र बहुत करके रसददार की तरह जान पड़ता है। यह अवस्था जब हुई, तब ठीक मेरी तरह का एक आदमी आकर मेरी इड़ा, पिगला और सुषुम्ना नाड़ियो को खूब हिला गया।"

'कब किस तरह का आदमी आएगा, यह पहले ही से माँ मुझे दिखा देती थी। इन्हीं आँखो से मैं देखा करता था—भावावेश मे नही। मैंने देखा, चैतन्य देव का सकीर्तन बकुल वृक्ष से वट वृक्ष की ओर जा रहा है।उसमें मैंने बलराम को देखा था और शायद तुम्हें "माँ" भी देखा था। मेरे पास बार-बार आने से तुम मे और चुन्नी मे आध्यात्मिक जागृति हुई है।'

'शशि और शरद को देखा था, ये ईशु के दल में थे।'

'बट वृक्ष के नीचे एक बच्चे को देखा था। वह लडका राखाल है।'

"मैंने कहा—'माँ जब तुमने मेरी ऐसी ही अवस्था कर दी है तब एक बड़ा आदमी भी मिला दो'। इसीलिए मथुर बाबू ने चौदह वर्ष तक सेवा की और उसने कितना किया? साधुओं की सेवा के लिए अलग भण्डार कर दिया, गाड़ी, पालकी जो वस्तु जिसे देने के लिए मैं कहता था, वह तुरन्त दे देता था।"[1]

"माँ ने कहा था—'अब भक्त आएँगे'" अब देखा सब बातें मिल रही है।[2]

"अखण्ड सच्चिदानन्द—दर्शन भी हो चुका है। उसके भीतर मैंने देखा है, बीच मे घेरा लगाकर उसके दो हिस्से कर दिए गये है। एक हिस्से में केदार, चुन्नी तथा अन्य साकारवादी भक्त है, घेरे के दूसरी ओर खूब लाल सुर्खी की ढेरी की तरह प्रकाश है, उसके बीच में समाधि मग्न नरेन्द्र (विवेकानन्द) बैठा हुआ है।"

"ध्यानस्थ देखकर मैंने पुकारा—'नरेन्द्र'? उसने जरा आँख खोली। मै समझ गया वही एक रूप मे, सिमला (कलकत्ता) में, कायस्थ के यहाँ पैदा होकर रह रहा है। तब मैने कहा, 'माँ उसे माया मे बाँध लो, नही तो समाधि

---

१ वही. पृष्ठ. ४३७–३८।

२ वही, पृष्ठ ६१२।

"रामलाल सुबह उठ कर जब रुपये फेर कर आया, तब तबीयत ठीक हुई"।[1]

इसके पहले उन्होंने वैयक्तिक रूप से अपने को पूर्ण मुक्त कर लिया था। 'रुपया मिट्टी है, और मिट्टी ही रुपया है। सोना मिट्टी है, और मिट्टी ही सोना है, ऐसा कह कर गगा जी मे फेंक दिया[2] था।' इसी से वह संस्कार अब उनको रुपया एकत्रित करने मे कष्ट देता है। पाँच रुपये की तो बात ही क्या है। लक्ष्मीनारायण मारवाडी उनके नाम दस हजार रुपये लिख देने के लिए तैयार थे, परन्तु उसके सुनने मात्र से ही उनको बडा कष्ट हुआ।

"उसने यह बात कही नहीं कि मैं जैसे लाठी की चोट खाकर बेहोश हो गया"। होश आने पर उससे कहा, तुम्हे अगर ऐसी बातें करनी हो, तो यहाँ फिर कभी न आना। मुझमे रुपया छूने की शक्ति ही नहीं है, और न मैं रुपया पास ही रख सकता हूँ।[3]

उनके जीवन की ये अलौकिक तथा अद्‌भुत बाते कथन मात्र ही नहीं थीं। उनके आचरण मे उनके कर्त्तव्य और विचारों में सत्यनिष्ठा के प्रमाण भी मिलते है। कोरा आदर्शवाद हास्यास्पद हो सकता है, परन्तु व्यावहारिक धरातल पर निष्ठा पूर्वक सत्य का पालन करना महापुरुषो के जीवन में ही सम्भव हो सकता है। श्री रामकृष्ण ने भागवत प्रेम मे एकनिष्ठ हो अपनेपन को त्याग दिया था। सब कुछ अर्पित कर चुके थे—प्रभु को। लेकिन अर्पण की सत्यता उनमे बनी हुई थी। सत्यनिष्ठा उनके प्रत्येक कार्य मे परिलक्षित होती थी। जिस दिन जहाँ जाने के लिए कहते थे, उस दिन ठीक समय पर वहाँ वे उपस्थित होते थे, जिस व्यक्ति से जो लेने के लिए कहते थे, उसे छोड कर अन्य किसी से भी उस वस्तु को ग्रहण नही कर पाते थे। जिस दिन जो वस्तु न खाने के लिए कहते या अमुक कार्य न करने की घोषणा करते, उस वस्तु को ग्रहण करना या कार्य को करना उनके लिए सम्भव नही होता था। 'सत्य ही ईश्वर है' इसका उन्हे पूर्ण बोध था, वे यह कहते कि—"सत्य बोलना कलिकाल की तपस्या है। दृढ़ता के साथ सत्य को पकडे रहने से ईश्वर-लाभ होता है। सत्य की दृढ़ता के न रहने से क्रमश सब नष्ट हो जाता है। यही सोच कर मैं अगर कह डालता हूँ, मुझे शौच को जाना है, और शौच को जाने की आवश्यकता फिर न भी रहे, तो भी एक बार गडुआ लेकर झाउतल्ले की ओर

१. श्री रामकृष्ण वचनामृत, प्रथम भाग, पृष्ठ ४३०–३१।

२. श्री रामकृष्ण वचनामृत, द्वितीय भाग, पृष्ठ ३८६।

३ वही पृष्ठ, ४०७।

यन्त्री। वे जैसा कराते है, वैसा ही करता हूँ। जो कुछ बुलवाते हैं, वही बोलता हूँ।'[1]

उनके कथन से यह भी जान पड़ता है कि उनमे दैवी शक्ति काम करती थी। क्योकि उनकी अपनी संकल्प शक्ति दैवी-संकल्प मे मिल गयी थी। इसलिए कोई भी कार्य माता से बात-चीत करने के बाद ही सम्पन्न करते थे—'श्री रामकृष्ण समाधि मग्न है। सायकाल हुआ। अपने कमरे मे छोटी खाट पर बैठे जगन्माता के साथ वार्तालाप कर रहे है। कह रहे है,—'माँ तू इतना कष्ट क्यो उठाती है। माँ क्या मैं वहाँ पर जाऊँ। यदि तू ले जायगी तो जाऊँगा'। पुनः 'माँ, उसे शुद्ध बना दो। अच्छा माँ, उसे एक कला क्यो दी ?' ओफ ! समझा इसी से तेरा काम होगा।[2]

माता से वार्तालाप करने का कोई अर्थ होगा। देखने से लगता है कि यह उनका प्रताप है। परन्तु है कुछ रहस्यमय ही। भावावेश मे बात-चीत करते ही है 'माँ, मै या तुम ! क्या मै करता हूँ ! नही-नहीं, तुम करती हो।'

'अब तक तुमने विचार सुना या मैने ? ना—मैने नही सुना तुम्ही ने सुना है'।[3] पुन. श्री रामकृष्ण भावावेश में माता से बात-चीत कर रहे है—'माँ, मै कहूँ तब तू करे, यह भी कोई बात है ? बात-चीत करना क्या है ? इशारा ही तो है। कोई कहता है 'मै खाऊँगा'—कोई कहता है, 'जा, मै न सुनूँगा।'

'अच्छा माँ, मान लो मैने भले ही प्रकट रूप मे यह न कहा हो कि मुझे भूख लगी है, तो क्या मुझे असल मे भूख नही लगी है। क्या यह सम्भव है कि तुम केवल उसी की प्रार्थना सुनो जो जोर-जोर से पुकारता है और उसकी न सुनो जो भीतर ही भीतर व्याकुलतापूर्वक प्रार्थना करता रहा है।'

'तुम जो हो सो हो, फिर मै क्यो बोलता हूँ, क्यो प्रार्थना करता हूँ' ?

'हाँ जैसा कराती हो, वैसा करता हूँ।'

'लो ! सब गोलमाल हो गया ? क्यों विचार कराती हो।'[4] भक्तो के के बीच में बैठे ही बैठे जब उनको भावावेश होता था उसी समय माता से

१. वही, पृष्ठ २००।

२. वही, पृष्ठ ४२१।

३. वही, द्वितीय भाग, पृष्ठ २९८।

४. वही, पृष्ठ, ३२४–३२५।

नेत्रों से अजस्र अश्रुपात हो रहा है, बोलने की सामर्थ्य नही है, खड़ा भी नही हो पा रहा है, दो बोतल शराब पिला देने से जो दशा होती है, ठीक वैसी ही स्थिति है। किसी भी तरह उसका वह भावावेश दूर हो रहा था। तब भयभीत हो माँ से मैं कहने लगा 'माँ, यह तूने क्या किया ? लोग कहेगे कि मैंने ही ऐसा कर दिया है। घर उसके पिता-माता आदि सब कोई है, अभी उसे घर लौटना पडेगा। बारम्बार उसकी छाती पर हाथ फेरता हुआ माँ से मै इसी प्रकार कहने लगा। तब कही कुछ देर बाद कुछ सम्भल कर वह घर जा सका।'[१]

श्री रामकृष्ण के उत्तरकालीन जीवन मे एक नवीन परिवर्तन और भी देखने को मिलता है। वे किसी धातु या रुपये-पैसे को स्पर्श नही कर पाते थे। स्पर्श करने पर उनके शरीर मे परिवर्तन होने लगता था। उन्होंने स्वतः इस दशा का वर्णन किया है।

"देखो अब एक स्थिति आ रही है, पहले की स्थिति अब उलट गयी है। अब धातु की चीजे छू नही सकता हूँ।"[२]

"यह जो नवीन स्थिति है, इसका एक बहुत ही गुप्त रहस्य है"। श्री "माँ" का कथन है कि "श्री रामकृष्ण की एक विचित्र अवस्था है। किसी धातु की वस्तु को छू नही सकते। उन्होंने कहा था, माँ अब ऐश्वर्य की बाते शायद मन से बिल्कुल हटा रही है"। अब वे केले के पत्ते मे—भोजन करते है। मिट्टी के बर्तन मे पानी पीते है। गडुआ नही छू सकते। इसीलिए भक्तो से मिट्टी का बर्तन ले आने के लिए कहा था।"[३]

स्वय श्री रामकृष्ण इस आश्चर्यजनक परिवर्तन के प्रति चिन्तित जान पड़ते है और कहते है—क्यो जी, कुछ दिनों से लगातार मुझे ऐसा क्यो हो रहा है ! धातु के किसी बर्तन को मैं छू नही सकता। एक बार कटोरे मे हाथ लगाया तो ऐसा हो गया जैसे सिंगी मछली ने हाथ मे काँटा मार दिया हो। हाथ मे झुनझुनी सी चढ गई और दर्द होने लगा। गडुए को बिना छुए तो काम चल ही नही सकता, इस ख्याल से मैंने सोचा, जरा गमछे से ढ़क कर तो देखूँ, उठा सकता हूँ या नही। यह सोच कर ज्यो ही उसे छुआ कि हाथ मे झुनझुनी

---

१. वही, द्वितीय भाग, पृष्ठ १५६।

२. श्री रामकृष्ण वचनामृत, तृतीय भाग, पृष्ठ २७।

३. वही, पृष्ठ ५४–५५।

चढ़ गई और बहुत दर्द होने लगा। अन्त में माता से प्रार्थना की—"माँ, अब ऐसा काम न करूँगा, अबकी बार माँ, क्षमा करो।"[1]

इसी प्रकार उनको रुपये-पैसे के छू जाने पर भी कष्ट होता था। उनमे शारीरिक परिवर्तन हुए बिना नही रहता था। डॉ० रुद्र से कह रहे हैं—

"अच्छा, यह तुम्हे क्या जान पड़ता है ? रुपया छूने पर हाथ टेढा हो जाता है और अगर मैं धोती में गाँठ दे दूँ, तो जब तक खोल न दी जाय तब तक के लिए साँस बन्द हो जाती है।"

"यह कहकर उन्होंने एक रुपया ले आने के लिए कहा। डॉ० को यह देख कर बड़ा आश्चर्य हुआ कि रुपये को हाथ पर रखते ही हाथ टेढा हो गया और उनकी साँस बन्द हो गयी। रुपये को हटा देने पर तीन बार साँस कुछ जोर से चली और तब हाथ कहीं ठीक हुआ। डॉ० ने मास्टर से कहा, स्नायु के ऊपर क्रिया है।"[2]

स्वामी विवेकानन्द ने भी अपने न्यूयार्क मे दिए हुए भाषण मे द्रव्य स्पर्श से उत्पन्न शारीरिक परिवर्तन का उल्लेख किया है—"यह विचार कि मैं धन कभी नहीं छुऊँगा "उनके शरीर का मानो एक अंश हो गया। सम्भव है यह बात तुम सभी को कुछ गूढ सी जान पड़े, परन्तु निद्रावस्था मे भी यदि मैं उनके शरीर को किसी सिक्के से छू लेता था तो उनका हाथ टेढ़ा हो जाता था और उनका सारा शरीर ऐसा प्रतीत होता था मानो लकवा मार गया है"।[3]

इसी प्रकर वे किसी वस्तु का सचय भी नही कर सकते थे।

उनकी सहायता के लिए किसी का रुपया जमाकर जाना भी उनके लिए कष्टदायक था—"यहाँ सीती का महेन्द्र पाल पाँच रुपये दे गया था, रामलाल के पास। उसके चले जाने पर रामलाल ने मुझसे कहा। मैंने पूछा, क्यों दिया। रामलाल ने कहा, यहाँ के खर्च के लिए दिया है। तब याद आया, दूध वाले को कुछ देना है, हो न हो इन्ही रुपयों से कुछ दे दिया जाय। परन्तु यह क्या आश्चर्य ! मे रात को सोया हुआ था, एकाएक छाती के भीतर बिल्ली की तरह जैसे कोई खरोचने लगा। तब रामलाल के पास जाकर मैने कहा, किसे दिया है ? अपनी चाची को ? रामलाल ने कहा, नही, आप के लिए। तब मैंने कहा, नही, रुपये जाकर अभी फेर दे, नही तो मुझे शान्ति नही होगी"।

---

१. वही, पृष्ठ ५९–६०।

२. वही, पृष्ठ २७८।

३. विवेकानन्द, मेरे गुरुदेव, पृष्ठ २६।

में वह देह छोड़ देगा'। केदार साकारवादी है, उसने झाँक कर देखा, उसे रोमाञ्च हो आया और वह भागा।"[1]

श्री रामकृष्ण ने स्वामी विवेकानन्द तथा अन्य भक्तों के प्रति भविष्य-वाणियाँ भी की थीं, जिसकी यथार्थता उनकी मृत्यु के पश्चात् आज संसार में दृष्टिगोचर हो रही है। स्वामी विवेकानन्द, पूर्ण, तथा भवनाथ के प्रति उनके विचार भविष्यवाणी के रूप में हमारे समक्ष आज भी वर्तमान है।

पूर्ण के अनुराग को देखकर, उनके साकार भक्ति की भविष्यवाणी की—'पूर्ण साकार ईश्वर के राज्य का है। उसका जन्म विष्णु के अंश से है। अहा! कैसा अनुराग है। नरेन्द्र के लिए उनकी वाणी सर्वांश रूप में सत्य सिद्ध हुई। उनको देखकर बताया—'नरेन्द्र का स्थान बहुत ऊँचा है। निराकार का घर है। पुरुष की सत्ता है।'

"एक बार मैं बैठ कर हिसाब लगाता हूँ। देखता हूँ—दूसरों में से कोई तो पद्मों में दस दल का है, कोई सोलह दल का, कोई सौ दल का, परन्तु नरेन्द्र सहस्र दल का है।"

'दूसरे लोग यदि लोटा, घड़ा आदि है तो नरेन्द्र बड़ा मटका है'।

'गड़हियों और तालाबों में नरेन्द्र सरोवर है।—जैसे हालदार सरोवर।'

'नरेन्द्र बहुत बड़ा आधार है—उसमें बहुत-सी चीजें समा जाती हैं।'

'नरेन्द्र किसी के वश नहीं है। वह आसक्ति और इन्द्रिय सुख के वश नहीं है। नर-कबूतर है। नर कबूतर की चोंच पकड़ने पर वह चोंच खींच कर छुड़ा लेता है—मादा चुपचाप रह जाती है।'

"बेल घर में तारक को 'मृगाल' (एक प्रकार की मछली चालाक और बड़ी) कह सकते हैं।"[2]

श्री रामकृष्ण ने नरेन्द्रादि भक्तों के प्रति भविष्यवाणी ही नहीं की वरन् उनके मात्र स्पर्श से ही भक्तों में दैवी विश्वास, ईश्वर—दर्शन तथा समाधि की स्थिति भी उत्पन्न हुई।

"नरेन्द्र के साथ पहले भेंट हुई, देखा देह-बुद्धि नहीं है। जरा छाती को स्पर्श करके ही उसका बाह्य ज्ञान लोप हो गया। होश आने पर कहने लगा, आपने यह क्या किया। मेरे तो माता-पिता हैं।"[3]

---

१. वही, पृष्ठ २५२।

२. श्री रामकृष्ण वचनामृत, तृतीय भाग, पृष्ठ २१४-२१५।

३. श्री रामकृष्ण वचनामृत, प्रथम भाग, पृष्ठ ३१८, श्री रामकृष्ण वचनामृत, तृतीय भाग, पृष्ठ ६५, १६५।

जाता हूँ। यही भय लगा रहता है कि कहीं सत्य की दृढ़ता न खो जाय। इस अवस्था के पश्चात् हाथ में फूल लेकर माँ से मैंने कहा था "माँ यह लो तुम अपना ज्ञान, यह लो अपना अज्ञान, मुझे शुद्धा भक्ति दो। माँ यह लो अपना भला, यह लो अपना बुरा, मुझे शुद्धा भक्ति दो, माँ, यह लो अपना पुण्य, यह लो अपना पाप, मुझे शुद्धा भक्ति दो" जब यह सब मैंने कहा था, तब यह बात नहीं कह सका कि माँ, यह लो अपना सत्य, यह लो अपना असत्य। माँ को सब कुछ तो दे सका, परन्तु सत्य न दे सका।[1]

"संसार में रहने पर सत्य का खूब ध्यान चाहिए। सत्य से ही परमात्मा की प्राप्ति होती है।.. "नहाऊँगा" यह कहा नहीं कि गंगा में उतरा, मंत्रोच्चारण किया, सिर पर पानी भी डाला, परन्तु फिर भी सन्देह होता था कि शायद अच्छी तरह नहाना अभी नहीं हुआ। अमुक स्थान पर शौच के लिए जाऊँगा, यह सोचा नहीं कि वहीं गया। राम के मकान गया, कलकत्ते में। कह दिया कि पूडियाँ न खाऊँगा तो मजबूरन मिठाई से पेट भरा।"[2]

यदि वे किसी को वचन देते तो उसे अवश्य पूर्ण करते। मणि मल्लिक को वचन दिया कि घर पर मिलूँगा। किसी कारण से भूलने पर रात में उन्हें नींद न आई और व्यग्रता पूर्वक शिष्य के साथ मिलने के लिए गये।

मनोवैज्ञानिक पर्यालोचना

श्री रामकृष्ण का भागवती शक्ति से वार्तालाप करना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से श्रवण सम्बन्धी अवस्तुबोधन ही जान पड़ता है, क्योंकि मनोविदिलता का रोगी भी विभिन्न प्रकार की धमकी, तिरस्कार अथवा प्रशंसा भरी आवाजें सुनता है और उनके निर्देशानुसार कभी-कभी यह कार्य या व्यवहार भी करने लग जाता है। वह इन शब्दों का प्रतिवाद भी करने लगता है। तो प्रश्न उठता है कि क्या श्री रामकृष्ण द्वारा भागवती शक्ति से वार्तालाप करना किसी शब्द को सुन कर प्रतिवाद स्वरूप ही था ?

यदि उनके वार्तालाप सम्बन्धी विषयों का विश्लेषण करके देखा जाय तो निश्चित रूप से यह भी नहीं कहा जा सकता कि मनोविदिलता के रोगियों की भाँति उनकी बात-चीत निराधार और निरर्थक होती थी। या उसके प्रति वे आत्म चैतन्य नहीं थे। रोगियों के प्रलाप में कोई उद्देश्य या पूर्व ज्ञान नहीं रहता। परन्तु श्री रामकृष्ण के इस कथन से कि "मैं यन्त्र हूँ और वे यन्त्री",

१. श्री रामकृष्ण वचनामृत, प्रथम भाग, पृष्ठ, ४९३–४९४।
२. श्री रामकृष्ण वचनामृत, द्वितीय भाग, पृष्ठ ९१।

यही पता चलता है कि आत्म समर्पण के पश्चात् उनका जीवन दैवी निर्देशन पर ही आधारित था। उनके वार्तालाप में उद्देश्य और अर्थ निहित जान पड़ते है। यही नहीं वार्ता की एक उक्ति व्याख्या भी की जा सकती है, जब कि रोगी की वार्ता मे न कोई तारतम्य होता है और न तो कोई उद्देश्य या अर्थ ही प्राप्त होता है।

भक्ति की दृष्टि से यदि देखा जाय तो उनके वार्तालाप को 'प्रार्थना' की भी संज्ञा दे सकते हैं। प्रार्थना मे भक्त कभी अपने को मुखर करता है कभी मौन रूप मे ही निवेदन करता है। अन्तर यह है कि बात-चीत में उत्तर-प्रत्युत्तर आवश्यक है। साधारण मनुष्य प्रत्यक्ष रूप मे किसी की उपस्थिति मे ही वार्तालाप को सम्भव समझता है। परन्तु श्री रामकृष्ण के दर्शन, और श्रवण की आलौकिकता का ज्ञान साधारण मनुष्य के लिए कैसे सम्भव कहा जा सकता है ? क्योंकि योगियों की यह स्थिति सब को तो नही प्राप्त हो सकती, जिस अवस्था मे कि वह रह कर इन अलौकिक गुणों को प्राप्त करता है। साधना की जिस भूमि पर वे अवस्थित थे और जो उनकी उपलब्धियाँ थी, उनके आधार पर तो वार्तालाप की व्याख्या से ही योग कर सकता है।[1] पाश्चात्य मनोविज्ञान द्वारा इस तथ्य की व्याख्या सम्भव नहीं जान पड़ती।

आधुनिक मनोविज्ञान केवल मानसिक विकृत की प्रक्रियाओं का यान्त्रिक सम्भावनाओं तथा बाह्य वस्तु के निरीक्षण द्वारा ही अध्ययन करता है। इसके द्वारा हम केवल पर्यावरण में प्राप्त उत्तेजना तथा उसके प्रति की गयी प्रतिक्रिया का ही अध्यन करते है। अपने मन तथा दूसरो के मन-विचार तथा भावनाओ का बाह्य इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान द्वारा ही विश्लेषण किया जाता है। हमारे सभी विचार, प्रतिभा और धारणाएँ इन्हीं बाह्य ज्ञानेन्द्रियों के प्रभाव की प्रतिनिधि मात्र होती है। हम अपने मन में उन्ही ज्ञानात्मक तत्वों को प्राप्त करते है, जो ज्ञानेन्द्रियों द्वारा हमें प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त हमारे पास अन्य कोई साधन नहीं है, जिससे कि वाह्य संसार का ज्ञान प्राप्त करे। यदि आधुनिक मनोविज्ञान मन को केवल मस्तिष्क का एक कार्य मानता है तो उस मन के पास कोई साधन नहीं है जिससे कि वह अन्य ज्ञानात्मक विषयों को प्राप्त कर सके।[2] इसके लिए तो मात्र शरीर की यान्त्रिक क्रिया-नाड़ी-तन्त्र तथा ज्ञानेन्द्रियाँ ही साधन स्वरूप हैं। इन साधनो की क्रिया तो वर्त्तमान स्थान

---

१. पातंजलि, योगदर्शन, विभूतिपाद, ३।३६।
ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते।

१. डॉ० बी० एल० आत्रेय, ऐन इन्ट्रोडक्शन टू पैरा साइकालॉजी, पृष्ठ ६८–६९।

और काल तक ही सीमित जान पडती है। सावेदिनक प्रत्यक्षीकरण द्वारा यदि हम चाहे कि भूत और भविष्य का ज्ञान प्राप्त कर सके तो सम्भव नहीं। हाँ, इतना अवश्य कर सकते है कि भूत की कुछ घटनाओं को याद कर सकते है तथा भविष्य के विषयो में अनुमान लगा सकते हैं। भूत तथा भविष्य के विषय का हम उसी प्रकार से अपरोक्ष रूप में प्रत्यक्षीकरण नहीं कर सकते जैसा कि ज्ञानेन्द्रियो द्वारा उत्तेजना के प्राप्त होने पर प्रत्यक्षीकरण करते है। इस मनोविज्ञान के अनुसार वर्त्तमान जीवन की वस्तुओं और घटनाओं का प्रत्यक्षीकरण भी एक सीमित रूप मे ही होता है। मन और इन्द्रियों के स्वस्थ रहने पर भी हमारा प्रत्यक्षीकरण बहुधा भ्रमपूर्ण हो जाता है। तो फिर उन विषयों का ज्ञान, (सामान्य तथा असामान्य) जो ज्ञानेन्द्रियो के क्षेत्र से परे है कैसे प्राप्त हो सकता है ? एक व्यक्ति के मन के विषयों का दूसरे व्यक्ति के द्वारा बिना इन ज्ञानेन्द्रियो के उपयोग के किस प्रकार ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। उस जीवन के विषय में, जिसके सान्निध्य में पूर्व समय मे कभी नही रहे हैं, कैसे जान सकते है। इन प्रश्नों का उत्तर आधुनिक मनोविज्ञान-जिसके साधनो की सीमाएँ है, नही देता जान पडता।

यह भी नही कहा जा सकता कि इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त ही नही हो सकता। क्योंकि अधिकांश रूप मे मानव जाति का यह विश्वास है कि ज्ञानेन्द्रियो तथा देश और काल की सीमा के परे के ज्ञान को प्राप्त करने की सम्भावना है। प्रत्येक युग और देश मे कुछ ऐसे व्यक्ति हैं या हुए हैं जिनमें ऐसे ज्ञान को प्राप्त करने की क्षमता रही है। अधिकांश रूप मे कुछ अलौकिक अनुभव सभी व्यक्तियों को होते भी है जिनकी व्याख्या इस प्रयोगात्मक यान्त्रिक मनोविज्ञान द्वारा सरलतापूर्वक नहीं की जा सकती।

वर्त्तमान समय मे ऐसे अलौकिक ज्ञान की व्याख्या जब से परामनोविज्ञान अनुसन्धान-समितियों की स्थापना हुई है, वैज्ञानिक रूप में होने लगी है।[1]

अतः ऐसे अलौकिक अनुभवो की व्याख्या के लिए जहाँ वर्त्तमान मनोविज्ञान

---

१. सर्व प्रथम १८८२ ई० में परामनोविज्ञान अनुसन्धान, समिति की स्थापना इंग्लैण्ड में हेनरी सिजविक की अध्यक्षता में हुयी। जिसका उद्देश्य आध्यात्मिक तथा मनोवैज्ञानिक अलौकिक ज्ञान की वैज्ञानिक व्याख्या करना था। इसका प्रचार यूरोप के विभिन्न देशों में हुआ। प्रयोगशालाओं का भी निर्माण हुआ और वर्तमान समय में अनेक प्रतिष्ठालब्ध विद्वान् मनोवैज्ञानिक, कार्य कर रहे हैं।

असमर्थ है, वहाँ परामनोविज्ञान के वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा सरलतापूर्वक समझने का प्रयास किया जाने लगा है। यहाँ हम श्री रामकृष्ण के, जगत्माता से हुए वार्तालाप की व्याख्या परामनोविज्ञान के 'ट्रान्समिडियमशिप' के आधार पर कर सकते हैं।[1] जब माध्यम किसी अदृश्य व्यक्ति से बात कर सकता है तो श्री रामकृष्ण को माता से वार्तालाप करना असम्भव नहीं कहा जा सकता और न अपलाप या अवस्तुबोधन ही। क्योंकि माध्यम की बात-चीत आत्मा की सत्ता से ही सम्भव है। यदि कोई है नहीं तो फिर वह बात किससे करता है। प्रयोगों से भी यह सिद्ध हो चुका है कि वह किसी व्यक्ति से ही बात करता है। अतः श्री रामकृष्ण किसी उच्च सत्ता (बीईंग) से वार्तालाप करते थे, इसमें सन्देह नहीं किया जाना चाहिए।

यदि हम योग-मनोविज्ञान के आधार पर देखें तो इन अनुभवों की व्याख्या और भी सरल जान पड़ती है। योग मानव जाति की सर्वप्रथम परामनोविज्ञान की पुस्तक है।[2] इसमें परामनोविज्ञान के पर्याप्त प्रसंग वर्तमान हैं। सिद्धियों को प्राप्त करने वाला योगी इन्द्रियों तथा देश और काल की सीमा के परे का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। वह भूत तथा भविष्य का द्रष्टा हो सकता है—जिसे परामनोविज्ञान में क्रिस्टल गेजिंग तथा प्रीकागनीशन की संज्ञा दी जाती है। योग के प्रातिभ ज्ञान से भूत भविष्य तथा वर्तमान एवं सूक्ष्म ढकी हुई और दूर देश में स्थित वस्तुएँ प्राप्त हो जाती हैं। जिस प्रकार सूर्योदय के पहले सूर्य की प्रभा से मनुष्य सब वस्तुएँ देख सकता है, उसी प्रकार प्रातिभ ज्ञान उत्पन्न होने से योगी सब कुछ जान जाता है।[3]

---

१. मिसेस लियोनोर ई० पाइपर माध्यम के रूप में प्रसिद्ध हैं। इसके विषय में जेम्स, रिचर्ड हौजसन, ओलिवर लाज, हेनरी सिजविक, मायर्स आदि ने वैज्ञानिक अध्ययन किया। इन लोगों ने उसकी समाधियों, समाधि में अपने को प्रकट करने वाले और वार्तालाप करने वाले व्यक्तियों तथा इनके द्वारा दिये गये सन्देशों का सांगोपांग तथा आलोचनात्मक अध्ययन किया। ऐसे ही अनेक माध्यमों के उदाहरण हैं।
डॉ० बी०एल० आत्रेय—परामनोविज्ञान एक परिचय, पृष्ठ ६०।

२. राम जी सिंह—पैरासाइकालॉजीकल रिफ़रेन्सेस इन योग सूत्र—पैरासाइकालॉजी एण्ड योग, प्रथम भाग, पृष्ठ १२०।
सम्पादक डॉ० रामनाथ शर्मा—रिसर्च जर्नल ऑफ फिलासफी एण्ड सोसल सलाइन्सेस—

३. प्रातिभाद्वा सर्वम्—योगदर्शन—विभूतिपाद ३।३३।

शिष्यों के आगमन के सम्बन्ध में अग्रद्रष्टा होना तथा स्वामी विवेकानन्द और अन्य भक्तों के प्रति भविष्यवाणी करने को परामनोविज्ञान तथा योग के प्रातिभ ज्ञान के द्वारा ही समझा जा सकता है।[1] इसक आधुकि मनोसिान के सीमित साधनों द्वारा समझने का प्रयास निरर्थक ज्ञात होगा।

उच्चस्तर के रहस्यवादियों के जीवन मे अग्रद्रष्टा होने तथा भविष्यवाणी करने की बात सामान्य रूप से पायी जाती है। यदि किसी एक ही रहस्य-वादी के जीवन मे ऐसी घटना होती तो अविश्वास किया जा सकता था। परन्तु सामान्य रूप से घटना घटित होने पर उसमें सत्य का अंश स्वीकार किया जा सकता है। कुरान तथा बाइबिल में भी ऐसी भविष्यवाणियाँ मिलती[2] है। क्राइस्ट ने अपने शिष्यों के प्रति अनेक भविष्यवाणियाँ करके अपने को अग्र-द्रष्टा सिद्ध किया है।[3]

अग्रद्रष्टा या भविष्यवाणी सम्बन्धी अनुभवो की प्रामाणिकता सिद्ध होने पर निरर्थक नहीं कहा जा सकता। श्री रामकृष्ण ने भक्तों के आगमन के लिए जो कुछ भी कहा, हम देखते है कि वह सर्वांश रूप मे सत्य सिद्ध हुआ। सभी प्रकार के भक्त उनके समक्ष उपस्थित हुए और भारतवर्ष मे ही नही आज विदेशो मे भी उनके शिष्यो के प्रभावस्वरूप ही अद्वैत मत का प्रचार हो रहा है। उनके जीवन काल म ही सभी भक्त उपस्थित हुए थे।

स्वामी विवेकानन्द के प्रति उनकी की गयी भविष्यवाणी सर्वांश रूप म सत्य सिद्ध हुई। इसमे तनिक भी सन्देह का स्थान नही कि स्वामी विवेकानन्द ने शिष्यों मे सर्वोच्च स्थान ग्रहण किया। इसकी प्रामाणिकता विश्व मे उनके क्रियाकलापो द्वारा सिद्ध की जा सकती है।

भविष्यवाणी तथा अग्रदृष्टि के सम्बन्ध मे चाहे वर्तमान मनोविज्ञान किसी निष्कर्ष पर न पहुँचे, परन्तु बहुत सी खोजो से यह ज्ञात होता है कि यह विषय कपोल-कल्पित नही है। भारत में अनेक ऐसे साधक और महापुरुष हो चुके है जिन्होने इन अनुभवो की प्रामाणिकता सिद्ध की है। वर्तमान काल में बहुत

१. हेमेन्द्र नाथ बनर्जी—निदेशक परामनोविज्ञान विभाग—राजस्थान विश्व-विद्यालय : ने भविष्य दर्शन की घटनाओं को परामनोविज्ञान का ही विषय बताया है और श्री रामकृष्ण के इस उदाहरण को भविष्य दर्शन ही माना है।
धर्मयुग, जुलाई १६—१९६७, पृष्ठ २४।
२. कुरान—सूरा १२।४८—४९।१११।४—५।
३ बाइबिल न्यूटेस्टामेण्ट, लूका, १८।३१ ३३, यूहन्ना, १३ २१, ३८

से शोधक इस विषय मे काम करते हुए पाये जाते हैं। जान लैंगडन डैवीज ने अपनी पुस्तक 'मनुष्य ज्ञात और अज्ञात' में तथ्यों के आधार पर यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि जैविक मनुष्य का पूर्ण विकास हो चुका है। जहाँ तक मनुष्य के भावी विकास का प्रश्न है अब उसकी सम्भावना मन तथा चित्त के क्षेत्र में है। मनुष्य का अचेतन मन किस प्रकर उसकी अलौकिक मानसिक शक्तियों को प्रेरित करता है यह अनुसन्धान का विषय हो सकता है। इसे लेखक ने व्यक्ति के सहजबोध तथा किसी अनुपस्थित व्यक्ति के विषय मे अचेतन मन के द्वारा समाचार प्राप्त कर लेना या भविष्य में होने वाली घटना के बारे में बता देना जैसे तथ्यों के स्वरूप पर आधिकारिक रूप से प्रकाश डाला है। अभी हाल में सोवियत रूस मे ऐसे प्रमाण उपलब्ध हुए है जो वास्तव मे प्रसिद्ध चमत्कारी व्यक्ति 'रासपुटिन' के जीवन पर नवीन प्रकाश डालते है। इस आधार पर रासपुटिन सम्बन्धी एक पुस्तक, (रासपुटिन ए न्यू जजमेण्ट) सन् १६५६ मे प्रकाशित हुई है। जिसमे यह सिद्ध किया गया है कि रासपुटिन मे ऐसी मानसिक शक्तियाँ थी जिनकी व्याख्या करना कठिन है। वास्तव में रासपुटिन में जो मानसिक शक्तियाँ थी उनका सम्बन्ध परामनोविज्ञान से था। उसे भूत, भविष्य, वर्तमान सब का ज्ञान हो जाता था। वह दूसरो के मन की बाते प्राय उसी प्रकार जान लेता था जिस प्रकार की एक्स-रे के द्वारा वर्तमान चिकित्सक किसी रोगी के भीतर की दशा मालूम कर लेता है। इतना ही नही, रासपुटिन में इतनी प्रबल इच्छा-शक्ति थी कि उसके द्वारा वह अपने को मदिरा तथा विष के प्रभावों से मुक्त रख सकता था।[1]

आधुनिक मनोविज्ञान के लिए रासपुटिन के चमत्कार ही असम्भव प्रतीत हो सकते हैं, परन्तु महापुरुषो के जीवन मे घटने वाली घटनाओ के समक्ष रासपुटिन के ये कार्य बहुत साधारण हैं। श्री रामकृष्ण की अग्रदृष्टि और भविष्यवाणी की तुलना रासपुटिन से नही की जा सकती। यहाँ भेद स्तर का है। जहाँ रासपुटिन तथा-कथित इच्छा-शक्ति से चमत्कार करता था वहाँ श्री रामकृष्ण तथा अन्य महापुरुषों में वह इच्छा-शक्ति दैवी इच्छा-शक्ति से अभिन्न जान पड़ती है। दैवी जीवन मे यह सब चमत्कार सामान्य जान पड़ते हैं।

---

१. डॉ० सीताराम जायसवाल—मनोविज्ञान की ऐतिहासिक रूप रेखा, पृष्ठ ५०२–५०३।

ऐसे महापुरुषों में प्राप्त अलौकिकता, सिद्धों की सिद्धियों से भी भिन्न होती है। क्योंकि सिद्धियाँ वहाँ त्याज्य है।[1]

पाश्चात्य विचारकों के मस्तिष्क में ये प्रश्न आते है कि क्या दैवी या अलौकिक ज्ञान दूसरे व्यक्ति में संचारित किए जा सकते है ? क्या महापुरुषों के स्पर्श मात्र से दूसरे व्यक्तियों मे दैवी विश्वास तथा समाधि की स्थिति उत्पन्न हो सकती है ? यदि इन प्रश्नों का वैज्ञानिक विश्लेषण तथा अन्वेषण किया जाय तो इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि कुछ सीमा तक दैवी ज्ञान दूसरों में संचारित किया जा सकता है। यह तो हम पहले देख ही चुके हैं कि इस प्रकार का ज्ञान बहुधा दैवी-शक्ति का परिणाम समझा जाता है। ऐसे उदाहरण कुछ महापुरुषों के जीवन मे प्राप्त हुए है, जिनमे अतिमानसिक चेतना का अवतरण हुआ है। इसके अतिरिक्त साधनों में कुछ निश्चित विधियों और नियमों के पालन से इस प्रकार की उपलब्धि होती है। यह उनके जीवन का प्रायोगिक सत्य जान पड़ता है। जिस प्रकार किसी विशिष्ट विज्ञान के नियमों तथा विधियों का पालन किया जाय तो निश्चित निष्कर्ष अवश्य प्राप्त किया जा सकता है उसी प्रकार धार्मिक क्षेत्र मे भी यदि उसके नियमों के अनुसार चलकर देखा जाय तो उसके निष्कर्ष अवश्य प्राप्त किये जा सकते है। जिस प्रकार वैज्ञानिक ज्ञान के निष्कर्षों को दूसरों के लिए भी अनुमान किया जा सकता है,. उसी प्रकार इस तरह के ज्ञान को भी दूसरों मे संचारित करना सम्भव कहा जा सकता है। प्रश्न यहाँ पात्र भेद का है। जिस प्रकार वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त करने की सामर्थ्य सब के अन्दर नहीं हो सकती उसी प्रकार इस अलौकिक ज्ञान प्राप्त करने की सामर्थ्य सबके अन्दर नहीं हो सकती उसी प्रकार इस अलौकिक ज्ञान को प्राप्त करने के लिए विशिष्ट क्षमता तथा सामर्थ्य वाला व्यक्ति होना आवश्यक है। इस प्रकार की ज्ञान-प्राप्ति के लिए कुछ आवश्यक दशाएँ हैं जिनको पूर्ण करना होता है।

ऐसे महापुरुष जो अभ्यास पूर्वक (साधना) या दैवी कृपा द्वारा शक्ति (ज्ञान) को प्राप्त करते हैं, वे उस शक्ति को दूसरों मे, जो उनके योग्य होते हैं, प्रत्यक्ष रूप मे संचारित करते हैं। धर्म के इतिहास मे ऐसे भी उदाहरण मिलते है कि कभी-कभी पतितों का भी जीवन इन महापुरुषों के सम्पर्क, दर्शन, तथा स्पर्श से पुनीत तथा दैवी विश्वास से अनुप्राणित हो गया है। भारतवर्ष

---

१. पातंजलयोग—विभूतिपाद ३।३७।
ते   व्युत्थाने सिद्धय

में अनेक ऐसे उदाहरण प्राप्त हैं और क्राइस्ट जीवन में भी ऐसी अनेक घटनाएँ प्राप्त हैं।[1] क्राइस्ट ने अपने बारह शिष्यों को दुष्टात्माओं को निकालने की शक्ति प्रदान की थी।[2]

पतितों का जीवन बिना साधना तथा अभ्यास के ही, सम्पर्क मात्र से कैसे पवित्र हो जाता है? इसका उत्तर इतना ही दिया जा सकता है कि सम्भव है उनके कुसंस्कार जब क्षीण हो जाते है तब उनको ऐसा योग मिलता हो। स्वामी विवेकानन्द ने सम्भव है इसी आधार पर कहा है कि "अवतार-गण छू कर लोगों में चैतन्य उत्पन्न करते है। जो लोग दुराचारी है, वे भी उनके स्पर्श से सदाचारी बन जाते हैं। 'अपि चेत् सु दुराचारो भजते मामनन्यभाक्, साधुरेव स मन्तव्य. सम्यक् व्यवसितो हि स.' साधारण गुरुओं से श्रेष्ट एक और श्रेणी के गुरु होते है, जो इस ससार मे ईश्वर के अवतार होते हैं। केवल स्पर्श से ही वे आध्यात्मिकता प्रदान कर सकते है, यहाँ तक कि इच्छा मात्र से ही।"[3]

परन्तु दुराचारी का महापुरुषों का सम्पर्क प्राप्त कर दैवी विश्वास से आपूर्ण हो जाना अपवाद स्वरूप ही कह सकते हैं। यदि हम वैज्ञानिक दृष्टि से देखना चाहे कि स्पर्श मात्र से दैवी विश्वास तथा समाधि की स्थिति कैसे उत्पन्न हो सकती है तो इसके लिए पात्र-भेद स्वीकार करना पड़ता है। दैवी-शक्ति का संचरण कई विधियों से करता पाया जाता है। कुछ महापुरुष मन्त्र दान से, कुछ स्पर्श तथा कुछ ऐसे है जो मौन रूप में दृष्टि मात्र से ही शक्ति संचारित करते है।

इसके विषय में यह कहा जा सकता है कि यह क्रिया संकल्प-शक्ति पर निर्भर होती है। गुरु या उस महापुरुष की संकल्प-शक्ति दैवी संकल्प-शक्ति को प्राप्त हो चुकी होती है। वह अपने प्रतिभ ज्ञान द्वारा शिष्य के भीतर अपनी सूक्ष्म शक्ति का समावेश कर सकता है। दैनिक जीवन में भी देखा जा सकता है कि हम किसी-किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व से अत्यधिक प्रभावित होते हैं। जिस व्यक्ति को हमने कभी देखा भी नहीं हो, उसके कथन तथा दर्शन मात्र का ही हमारे ऊपर अती प्रभाव पड़ता है। बुद्ध, क्राइस्ट आदि महापुरुषों के कथन शताब्दियों से जगत् को प्रभावित करते आ रहे है। यह

१. मत्ती, ७।१६, यूहन्ना, ६, लूका, १३।१२।
२. मत्ती १०।१–४।
३. श्री रामकृष्ण वचनामृत, तृतीय भाग, पृष्ठ ५८७–५८८।

उनकी संकल्प-शक्ति तथा व्यक्तित्व का ही प्रभाव कहा जा सकता है। जीवन में ऐसे भी व्यक्ति देखे जाते है जिनके कथन या दर्शन का हमारे ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, परन्तु कोई-कोई ऐसे भी होते है कि उनका प्रभाव जादू का-सा कार्य करता है। यह सब खेल संकल्प-शक्ति का ही कहा जा सकता है। गुरु भी संकल्प-शक्ति द्वारा ही दैवी या भागवती शक्ति को शिष्य मे प्रविष्ट कर देता है, जिसका प्रभाव कुछ लोगों में तत्काल देखा जाता है। कुछ लोगों में वह शक्ति सम्भावना के रूप मे होती है और अभ्यास से जागृत होती है। शर्त यह है कि जो दैवी शक्ति से पूर्णैक्य प्राप्त कर चुका होता है, जिसकी अपनी संकल्प-शक्ति दैवी-संकल्प शक्ति हो जाती है, वही प्रतिनिधि बन कर ऐसा कर सकता है। वह उस दैवी-शक्ति की एक धारा शिष्य मे प्रवाहित कर देता है, जैसे विद्युत शक्ति कुचालक वस्तुओं में नही प्रवाहित हो सकती और सुचालक मे शीघ्र ही प्रवहमान हो जाती है, उसी प्रकार ग्रहणशील अधिकारी[1] शिष्य मे ही भागवती शक्ति संचालित हो जाती है। मन्त्र तथा मौन भाव से भी महापुरुष अपनी सूक्ष्म शक्ति को स्पन्दन के रूप में दूसरी चेतनधारा में सम्मिलित कर देता है। इसके द्वारा व्यक्ति की निम्नतर चेतना को उच्चतर स्तर पर पहुँचा दिया जाता है। कहा जा सकता है कि गुरु के स्पन्दन से ही व्यक्ति की चेतना उठ जाती है। जैसे संगीत की मधुर ध्वनि से सर्प, हिरण आदि स्तम्भित हो जाते है वैसे ही व्यक्ति की चेतना मन्त्र-ध्वनि से ऊपर उठ जाती है और शारीरिक, मानसिक आदि निम्न चेतनाओं से ऊपर उठ जाना ही दैवी शक्ति का अवरोहण है। भिन्न-भिन्न शब्दों में भिन्न-भिन्न भाव व विचार निहित होते है। भाषा शब्द का एक लघु रूप है। जिस प्रकार विज्ञान में शब्द कई रूप मे कार्य करता है उसी प्रकार मन्त्रदान चाहे वह स्पर्श द्वारा स्पन्दित किया जाय, चाहे श्रवणेन्द्रिय द्वारा, वह उत्तेजना के रूप में होकर शक्ति प्रवाहित करता है।[2]

स्पर्शकर्त्ता पूर्णरूपेण संगठित होता है। अतः उसका स्पर्श या सान्निध्य मात्र दूसरों में भी संगठन ला देता है। मन स्थिर होने पर महत् शक्ति व्यक्ति की चेतना मे उतरती जान पड़ती है जिससे उसमे परिवर्तन प्रारम्भ हो जाता है।

श्री रामकृष्ण ने स्वामी विवेकानन्द, स्वामी ब्रह्मानन्द तथा अन्य शिष्यों मे स्पर्श द्वारा ही परिवर्तन उत्पन्न किया था। उनके स्पर्श तत्काल ही प्रभाव

१. कठोपनिषद्, २।७।
२ जेकाब हेन्स—साइकोथिरापी एण्ड हिन्दू साधना, पृष्ठ १०६।

देखा गया, जैसा कि स्वामी विवेकानन्द ने अपने मुख से इस परिवर्तन का स्वाभाविक वर्णन किया है :—

"मुझे छूकर न जाने उन्होंने मन ही मन क्या कहा, मैं अचेत हो गया था। उसी नशे में मैं एक महीने तक था ।"[1]

यह क्या रहस्य था कि स्पर्श करते ही उनको समाधि की स्थिति प्राप्त हो गई ? क्या यह सम्मोहन की क्रिया कही जा सकती है ? सम्मोहन के साथ इस अवस्था की तुलना करने पर इसके विषय में निर्णय दिया जा सकता है। सम्मोहन द्वारा किये गए उपचार का परिणाम अस्थायी होता है। इस बात में मनोवैज्ञानिकों में मतभेद नहीं है। परन्तु शिष्यों को श्री रामकृष्ण के स्पर्श के पश्चात् जो स्थिति प्राप्त हुई उसका परिणाम उनके जीवन तक स्थायी रहा। दूसरे, सम्मोहन की क्रिया ऐसे रोगी तक ही सीमित रहती है जो सम्मोहनशील हो और सम्मोहित किये जाने के लिए प्रस्तुत हो। इस आधार पर यदि हम देखे तो स्वामी विवेकानन्द ऐसे संशयशील, प्रबल इच्छा-शक्ति-सम्पन्न, तर्कशील तथा कुशाग्र बुद्धि वाले शिष्य सम्मोहन के पात्र ही नहीं हो सकते। विवेकानन्द ने समाधि की स्थिति को प्राप्त करने के पश्चात् स्वयं इस विषय पर विचार किया है कि "मेरे ऊपर सम्मोहन की क्रिया नहीं हो सकती।"[2] तीसरे, बाद में रोगी चिकित्सक पर बहुधा आरोप करता है कि उसने सम्मोहन द्वारा उसके मन पर अवांछित प्रभाव डाल दिया है। परन्तु श्री रामकृष्ण के शिष्यों में ऐसी बात नहीं पायी जाती। उनमें से किसी ने अपने को प्रवंचित नहीं समझा वरन् इसके विपरीत अपना जीवन सार्थक और उपयोगी समझ कर वे धार्मिक जीवन में लीन हो गये। इस क्रिया के बाद उनको कभी आत्म ग्लानि हुई, इसका उदाहरण किसी के जीवन में नहीं मिलता। अतः यह सिद्ध है कि वह सम्मोहन की क्रिया नहीं थी। यदि इस तथ्य की व्याख्या सम्मोहन की क्रिया से नहीं हो सकती तो मनोविज्ञान के किसी सिद्धान्त से संभव नहीं जान पड़ता। हमारे विचार से श्री रामकृष्ण ने जो कुछ शिष्यों को स्पर्श करते समय उपयोग किया था, वह पवित्र, सरल आध्यात्मिक शक्ति थी। शरीर की प्रतीकात्मक क्रिया द्वारा, शुद्ध संकल्प शक्ति का उपयोग करके शिष्यों की गुप्त शक्तियों को जागृत कर दिया था। मनोविज्ञान इसकी व्याख्या करने में असमर्थ है।[3]

---

१. श्री रामकृष्ण वचनामृत, तृतीय भाग, पृष्ठ ६११।

२. लीला प्रसंग, तृतीय भाग, पृष्ठ ७६–७७।

३. आर०आर० दिवाकर—परमहंस श्री रामकृष्ण, पृष्ठ १६९–१७०।

इसकी प्रामाणिकता के रूप में यह भी कहा जा सकता है कि इन शिष्यों ने उनके जीवन-काल में ही उच्चावस्था को प्राप्त कर लिया था। यही नहीं इन्होंने अन्य व्यक्तियों में भी इस शक्ति को प्रवाहित किया था। स्वामी अखिलानन्द ने प्रमाण स्वरूप कहा है—"हम निश्चित रूप में जानते है कि स्वामी विवेकानन्द तथा स्वामी ब्रह्मानन्द तथा दूसरों ने भी विभिन्न समय में विभिन्न लोगों में शक्ति का संचरण किया था।"[1]

इस प्रकार की घटनाओ से यही निष्कर्ष निकलता है कि ये सब विषय अनुभव के हैं। यदि कोई माता के प्रेम को जानना चाहता है कि माता किस पुत्र को प्रेम देती है और वैसा प्रेम अन्य के लिए संचरित नहीं कर सकती, तो उसे माता बनना पड़ेगा।

प्रेमी-प्रेमिका का प्यार जानने के लिए प्रेमी बनना पडेगा। तभी उसके रहस्य, क्रिया-व्यापार तथा परिणामो को जाना जा सकता है। आधुनिक मनोविज्ञान के द्वारा ऐसे तथ्यों की व्याख्या नही की जा सकती। यदि परामनोविज्ञान की दृष्टि से देखा जाय तो स्पर्श द्वारा दूसरे व्यक्ति में परिवर्तन उत्पन्न कर देना असम्भव नही कहा जा सकता। इमाइल वायरेक के अनुसार, "ऐसे बहुसख्यक तथ्य हैं जिनमें एक मानव शरीर अन्य शरीरो पर प्रभाव डालता हुआ प्रतीत होता है जो निश्चय ही निर्देश की सहायता के वगैर होता है और जिसका दूर विकिरण से अधिक सदृश्य है।" प्रसिद्ध परामनोवैज्ञानिक हियर वार्ड कैरिगटन ने भी यह स्वीकार किया है कि यह निश्चित है कि शरीर से कोई शक्ति ऐसी निकलती है जो जड पदार्थों मे गति उत्पन्न करती है। यदि जड पदार्थों मे स्पर्श से गति उत्पन्न हो सकती है तो सगठित व्यक्तित्व वाले रहस्यवादी द्वारा स्पर्श किए जाने पर व्यक्ति मे दिव्यानुभूति हो, कोई आश्चर्य की बात नहीं है।[2]

मनोविज्ञान तथा भौतिक शास्त्र के नियमो द्वारा यह भी नही समझा जा सकता कि धातु या रुपये पैसे के स्पर्श से श्री रामकृष्ण के शारीरिक अंगो मे परिवर्तन कैसे उत्पन्न हो जाता था? साधारण दृष्टि मे तो हम यही तर्क उपस्थित कर सकते है कि कामिनी-कांचन का त्याग मन से होता है। अनाशक्ति की भावना ही पर्याप्त है। उसको स्पर्श करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। अनाशक्त भाव से स्पर्श करने में उनका कोई प्रभाव नही पड सकता। यदि

१. स्वामी अखिलानन्द, हिन्दू साइकालॉजी, पृष्ठ १९६।
२. डॉ० आत्रेय—परामनोविज्ञान, एक परिचय, पृष्ठ २७।

श्री रामकृष्ण में विरक्ति उच्चकोटि की थी तो उन्हे द्रव्य स्पर्श करने मे क्यों कठिनाई होती थी ? यदि ऐसा होता था तो या तो वह ढोंगमात्र था या उनमे अनासक्ति की भावना नही थी। एक स्थल पर उन्होंने यह भी कहा है कि यदि रुपये से विद्या का संसार चलाया जाय, साधु-सन्तो की सेवा की जाय तो ग्रहण करने में हानि नही है।[1] इस कथन का अर्थ अनासक्त ही कहा जा सकता है। यदि श्री रामकृष्ण अनासक्त थे तो फिर द्रव्य स्पर्श करने में उनको शारीरिक कष्ट क्यों होता था ? डा० रुद्र ने अपनी आँखों से देखा है कि उनकी अगुलियाँ टेढी हो गई और साँस रुक गयी। इसे देखकर उन्होंने यह मत दिया कि नाडियों पर द्रव्य का प्रभाव कहा जा सकता है। प्रश्न है क्या ऐसा सभी को या अन्य किसी को होता देखा गया है ? परन्तु ऐसे उदाहरण सम्भवत. कही नही प्राप्त होते। असामान्य मनोविज्ञान में उन्माद के रोगी को इस प्रकार भी कभी-कभी विकृत संवेदनाएँ होती है, जैसे किसी धातु को त्वचा से स्पर्श कराने पर उसे तीव्र वेदना का अनुभव होता है।[2] परन्तु उन्माद के रोगियों मे अगों का टेढ़ा हो जाना और श्वाँस का रुक जाना आदि लक्षण नही मिलते। स्पर्श ही नहीं घर में रुपया रखने पर श्री रामकृष्ण को रात मे नींद नही आती थी, छाती में जैसे कोई खरोचता-सा था। ऐसे अद्‌भुत लक्षणो की व्याख्या मनोविज्ञान से कैसे की जा सकती है। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने आत्म-निर्देशन के आधार पर इस प्रकार की सवेदना की व्याख्या का प्रयास किया है। द्रव्य न ग्रहण करने की निर्देशनशीलता सभी धार्मिक महापुरुषों में हो सकती है परन्तु किसी में द्रव्य स्पर्श करने के कारण इस प्रकार के परिवर्तन तो देखे नही गये। तो फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि यह एक प्रकार की निर्देशनशीलता है ?

इन विरोधपूर्ण प्रश्नो और समस्याओ के लिए तो एक ही उत्तर जान पडता है कि उनके जीवन में स्पर्श की संवेदना अतिशय रूप मे विद्यमान थी अथवा श्री रामकृष्ण के सस्कार ही इतने प्रबल थे कि द्रव्य के प्रति अनासक्ति का भाव स्पर्श नही करने देता था। सस्कार से ही कोई द्रव्य का संचयी होता है। कोई संचय करना ही नहीं और कुछ ऐसे हैं कि जो उसे स्पर्श भी नही कर सकते। यदि ऐसा न भी स्वीकार किया जाय तो भी मनोविज्ञान के द्वारा इसको समझना कठिन ज्ञात होता है। रामकृष्ण ने अपने जीवन मे विचार तथा

१. श्री रामकृष्ण वचनामृत, तृतीय भाग, पृष्ठ १६।

२. आर०जी० गार्डन—द न्यूरोटिक पर्सनालिटी पृष्ठ २०८।

शरीर की सहज क्रियाओं में इतनी उच्चावस्था मे समायोजन स्थापित कर लिया था कि कुछ लोग कहते हैं कि श्री रामकृष्ण मे मनोविकृति अवस्था के लक्षण वर्तमान थे।

श्री रामकृष्ण के कथन तथा उसके अनुसार ही उनके शरीर के समस्त-कर्मों तक में सामंजस्य प्राप्त होता है। इस प्रकार की समायोजना को पागलपन मानना उनके विषय मे न्यायसगत व्याख्या नही प्रतीत होती। उनकी सत्य निष्ठा के प्रमाणो से यही सिद्ध होता है कि उनका जीवन पूर्ण रूप से समायोजित था। जीवन की छोटी-छोटी बातों का भी ध्यान रखना, सत् पथ से तनिक भी इधर-उधर न होना, विवेक और सदाचरण का परिचय देता है न कि पागलपन का। स्वामी सिद्धेश्वरानन्द ने ठीक ही कहा है कि "यदि उनकी सत्य निष्ठा को हम मनोविकृति की दशाओं के रूप मे मानते है तो सभी को उस प्रकार की अवस्था के लिए प्रयास करना चाहिए।"[1]

सत्यनिष्ठा से ही धर्म मार्ग पर चला जा सकता है। श्री रामकृष्ण का कथन है कि—"जिसके अन्दर सत्यनिष्ठा है, उसे सत्य स्वरूप भगवान् की प्राप्ति होती है जिसमें सत्यनिष्ठा है, माँ कभी उसकी बात मिथ्या नही होने देती"। 'सत्य ही ईश्वर है' इसका अनुभव असत्य का मन मे निवास रहने से कैसे सम्भव कहा जा सकता है ? इसीलिए "धन्य है वे, जिनके मन शुद्ध है, क्योंकि वे परमेश्वर को देखेंगे[3] और ईमान लाने तथा नेक काम करने का बडा फल है।[4] मनसा-वाचा ही नही वरन् कर्म द्वारा भी चरितार्थ सत्यनिष्ठा के प्रमाण समस्त महापुरुषों के जीवन मे प्राप्त होते है। क्राइस्ट तथा मुहम्मद साहब की सत्यनिष्ठा हम देख चुके है। (अध्याय ३) उनके जीवन की सत्यनिष्ठा सम्बन्धी धारणाएँ यही सिद्ध करती है कि धर्म-मार्ग पर चलने वाला पवित्रात्मा होना चाहिए। ऐसे महापुरुषों के जीवन मे सत्य की चरमसीमा पर पहुँची हुई घटनाओ को देखकर हमे इसलिए आश्चर्य होता है कि हम सापेक्ष सत्य के मार्ग मे ही रह कर सत्य-असत्य के संघर्ष में पड़े रहते हैं।

---

१. स्वामी सिद्धेश्वरानन्द—मेडीटेशन एकार्डिंग टू योग वेदान्त, पृ० ५८, ६१।

२. लीला प्रसंग—द्वितीय भाग, पृष्ठ ४४, पातंजल योग सूत्र, २।३६ पृष्ठ ६१।
सत्यप्रतिष्ठाया क्रियाफलाश्रयत्वम्।

३. बाइबिल, मत्ती, ८।८।

४. कुरान—३५।७।

अवसर तथा स्वार्थ के कारण असत्य का पालन करने वाले मन का पूर्ण सत्य निष्ठा को आश्चर्य की दृष्टि से देखना स्वाभाविक ही है।

ऐसे महापुरुषों की सत्यनिष्ठा पराकाष्ठा पर क्यों पहुँची हुई थी ? इस प्रकार की सत्यनिष्ठा सामान्य जीवन में अधिकाश लोगों को क्यों नही प्राप्त होती ? इन प्रश्नों के उत्तर में श्री रामकृष्ण की 'समर्पण की भावना' के सम्बन्ध में कही गई बातें ही पर्याप्त जान पड़ती है—"मैं तो मूर्ख हूँ, कुछ जानता ही नही, तो यह सब कहता कौन है ? मै कहता हूँ माँ, मैं यन्त्र हूँ, तुम यन्त्री हो, मै गृह हूँ तुम गृहस्वामिनी हो, मैं रथ हूँ तुम रथी हो, तुम जैसा कराती हो, मै वैसा ही करता हूँ, जैसा चलाती हो वैसा हो चलता हूँ। नाहम्-नाहम् तुम हो, तुम हो। मै तो केवल यन्त्र मात्र हूँ।"[1] सम्भवत यही कारण है कि श्री रामकृष्ण के जीवन में सत्यनिष्ठा की पराकाष्ठा थी और इस प्रकार का उदाहरण हमे सामान्य जीवन में नही मिलता। यह तथ्य इन्ही के जीवन से नहीं सभी महापुरुषों के जीवन और उनके कथनों से पुष्ट होता है। क्राइस्ट का कथन इसी बात के समर्थन मे लिया जाना चाहिए—"मै अपने आप से कुछ नहीं कर सकता, जैसा सुनता हूँ, वैसा न्याय करता हूँ, और मेरा न्याय सच्चा है, क्योंकि मै अपनी इच्छा नही, परन्तु अपने भेजने वाले की इच्छा चाहता हूँ।[2] मुहम्मद साहब ने अपने परवरदिगार से सीधी राह दिखाने की ही उम्मीद की है।[3]

इस प्रकार उनकी सत्यनिष्ठा असाधारण होते हुए भी असामान्य नही कही जा सकती। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि जिस प्रकार उनके जीवन का प्रत्येक पहलू अनोखा और विचित्र है उसी प्रकार की अलौकिकता उनकी सत्यनिष्ठा में भी देखी जाती है।

यही नही उनका मौन-जीवन और भी समझने में कठिन तथा विचित्र ज्ञात होता है। मनोविज्ञान के नियमो द्वारा हम उसकी किस प्रकार व्याख्या कर सकते है, 'यह देखना है।

---

१. श्री रामकृष्ण वचनामृत, तृतीय भाग, पृष्ठ ३६१।
२. बाइबिल, न्यूटेस्टामेण्ट, यूहन्ना, ५।३०।
३. कुरान—२८।२२।

7

वैवाहिक जीवन

श्री रामकृष्ण का वैवाहिक जीवन किस प्रकार का था, और वे इस जीवन मे कितना समायोजित थे, इसके लिए उनके वैवाहिक जीवन की कुछ परिस्थितियों तथा उस समय के व्यवहारों का उल्लेख करना आवश्यक होगा।

उनके जीवन मे सबसे अनोखी बात तो यह देखने में आती है कि वे विवाहित होकर भी कामासक्त कभी नहीं हुए, 'रमणी के साथ रहे पर न करे रमण'?

श्री रामकृष्ण जब आध्यात्मिक विरह मे व्याकुलता के कारण मन्दिर का पूजन-कार्य भली-भाँति सम्पन्न न कर सके तब उनको पुजारी के पद को त्यागना पड़ा। उस समय का आचरण और उनके शारीरिक परिवर्तनों का समाचार सुनकर उनके माता और भाई को बड़ा क्षोभ हुआ। माता ने उनको घर बुलवा लिया। उनके आचरण को देखकर समझा कि वे वायु रोग से पीड़ित है। कुछ शमन होने के पश्चात् विवाह करने का परामर्श किया। अन्त में जयरामबाटी के श्री रामचन्द्र मुखोपाध्याय की कन्या (शारदा देवी) के साथ उनका शुभ-विवाह सम्पन्न हुआ। लगभग एक वर्ष सात माह तक श्री रामकृष्ण घर पर ही थे। उस समय कुल-प्रथा के अनुसार उनको दो-चार दिन के लिए ससुराल जाकर पत्नी को लेकर कामारपुकुर (घर) लौटना पड़ा। इस समय पत्नी की अवस्था ७ वर्ष की थी। कुछ दिन बाद ही वे पुनः कलकत्ते लौटे और पूजन-कार्य मे लग गये। दूसरी बार जाने पर भी उनको पूजन ध्यान करते समय दिव्योन्माद होने लगा। लगभग ६ महीने तक कष्ट पाने के पश्चात् शरीर रोग-मुक्त हुआ। स्थान परिवर्तन तथा पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्ति के लिए मथुर बाबू आदि ने यह निश्चय किया कि कुछ दिन के लिए उनका कामारपुकुर जाना ठीक होगा। अतः वे भैरवी ब्राह्मणी तथा हृदय के साथ घर पहुँचे। उस समय आत्मीय महिलाओं ने उनकी पत्नी को वहाँ लाने की व्यवस्था की।[1]

वास्तविक अर्थ मे पत्नी का यह प्रथम पति-दर्शन था। इस समय पत्नी

---

१. श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग, प्रथम भाग, पृष्ठ २६२, २६१।

की अवस्था चौदह वर्ष की थी। 'उस समय उनमें दाम्पत्य जीवन के गम्भीर उद्देश्य तथा उत्तरदायित्व को समझने की शक्ति का विकास केवल प्रारम्भ भर हुआ था। देह-बुद्धिरहित श्री रामकृष्ण देव के दिव्य संग तथा स्नेह-यत्न को प्राप्त कर उस समय पवित्र हृदय बालिका अनिर्वचनीय आनन्द से उल्लसित हो उठी थीं। श्री रामकृष्ण की भक्त महिलाओं में बहुधा उन्होंने उस उल्लास की बात को इस प्रकार व्यक्त किया है—"तब से मैं सर्वदा यह अनुभव किया करती थी कि मेरे हृदय में मानो आनन्द का पूर्ण घट स्थापित हो चुका है, उस शान्त निश्चल दिव्य उल्लास से मेरा हृदय किस प्रकार भरा रहता था, यह बताना मेरी सामर्थ्य से बाहर है"।[१]

कुछ माह बाद श्री रामकृष्ण पुनः कामारपुकुर से कलकत्ता लौट गये और पत्नी अत्यन्त आनन्द-सम्यक् की अधिकारिणी हो चुकी है—ऐसा अनुभव करती हुई अपने नैहर वापस गईं। इस तरह क्रमश ४ वर्ष व्यतीत हो गये। समय के साथ ही उनके शरीर और मन में परिवर्तन होना स्वाभाविक था। इस समय तक पत्नी अठारह वर्ष की युवती हुईं। ग्रामीण लोग वार्तालाप करते हुए उनके पतिदेव को उन्मत्त कहा करते थे तथा 'पहनने का वस्त्र तक त्याग कर वह हरि-हरि कहता फिरता है, इस प्रकार की बातें कहते थे। साथ ही समवयस्क महिलाएँ जब "पागल की पत्नी" कह कर उन्हें करुणा या उपेक्षा की पात्री समझा करती थीं, तब मुँह से कुछ न कहने पर भी उनके हृदय में अत्यन्त कष्टानुभव होता था। इसलिए उन्होंने पति से मिलने का निश्चय किया" यदि दैवी विधान से उनकी यही स्थिति है तो मेरे लिए यहाँ रहना उचित नहीं है, उनके समीप रह कर उनकी सेवा में निरत रहना ही मेरा कर्त्तव्य है।[२] कलकत्ता गंगा स्नान को जाती हुई महिलाओं के साथ जाने के लिए अभिलाषा व्यक्त की। पिता ने उनकी अभिलाषा समझ कर पहुँचा दिया। मार्ग में वे ज्वर से आक्रान्त हो गईं। जब रात के नौ बजे पिता कन्या को लेकर दक्षिणेश्वर पहुँचे तो श्री रामकृष्ण पत्नी को रोगाक्रान्त दशा में उपस्थित देखकर अत्यन्त उद्विग्न हुए। बुखार में बचाव के लिए उन्होंने अपने कमरे में ही पृथक् शय्या पर सोने की व्यवस्था कर दी। औषधि-पथ्यादि की विशेष व्यवस्था से तीन-चार दिन के अन्दर ही उनका स्वास्थ्य ठीक हो गया। स प्रकार पत्नी के प्रति उन्होंने अपने कर्त्तव्य का पालन किया और जब कभी अवकाश मिलता पत्नी को मानव जीवन के उद्देश्य तथा कर्त्तव्य के बारे में

१. श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग, प्रथम भाग, पृष्ठ ४२१।

२. वही पृष्ठ, ४२२-४२७।

शिक्षा देने लगे। इसका भी उल्लेख मिलता है कि आरोग्यलाभ के पश्चात् श्री रामकृष्ण ने पत्नी को प्रति दिन रात्रि में अपनी शय्या पर सोने की अनुमति प्रदान कर दी थी[1] तथा प्रथम दिन से ही उन्होंने स्नेह के द्वारा पत्नी को अपना लिया था।

पत्नी के प्रति उनका दृष्टिकोण क्या था:—इसका उदाहरण भी लीला प्रसंगाकार ने दिया है—"श्री माता जी ने (श्री रामकृष्ण जी की धर्मपत्नी) उस समय एक दिन श्री रामकृष्ण देव की चरण सेवा करते हुए पूछा था, 'तुम मुझे किस दृष्टि से देखते हो' ? श्री रामकृष्ण देव ने उत्तर में कहा, 'जो माँ मन्दिर मे विद्यमान है, उन्ही ने इस शरीर को जन्म दिया है तथा इस समय नौबतखाने में रह रही है और वे ही अभी मेरे पैरों को दबा रही है। यथार्थत. साक्षात् आनन्दमयी के रूप मे तुम्हे सर्वदा देखता हूँ।[2]

इस प्रकार पूर्ण यौवन युक्त श्री रामकृष्ण तथा नवयौवन सम्पन्न पत्नी के तत्कालीन दिव्य लीला विलास के सम्बन्ध में स्वामी शारदानन्द ने लिखा है कि हमने श्री रामकृष्ण से ही सुना है और ऐसा उदाहरण इतिहास में और किसी महापुरुष के बारे में सुनने को नही मिलता।[3] 'रमणी के साथ रहे पर न करे रमण।' इसकी सत्यता का आभास श्री रामकृष्ण की द्वन्द्वात्मक मनःस्थिति से ही प्रकट हो सकता है:—

'और एक दिन श्री माँ को अपने समीप निद्रित देखकर श्री रामकृष्ण देव अपने मन को सम्बोधन कर इस प्रकार विचार मे प्रवृत्त हुए थे—'रे मन, इसी का नाम स्त्री-शरीर है, लोग इसे परम भोग्य वस्तु समझते है तथा निरन्तर भोग करने के लिए लालायित रहते है, किन्तु इसे ग्रहण करने से देह में ही आबद्ध हो जाना पडता है, सच्चिदानन्द ईश्वर की प्राप्ति नही होती। रे मन, अपनी भावनाओं को छिपाने का प्रयत्न मत करो, तुम भीतर एक प्रकार तथा बाहर दूसरे प्रकार का भाव मत रखो, पेट में कुछ तथा मुह में कुछ, इस प्रकार का आचरण न करो, सच बताओ कि तुम उसे ग्रहण करना चाहते हो या ईश्वर को ? यदि स्त्री शरीर चाहते हो, तो वह तुम्हारे पास ही पडा है, उसे ग्रहण करो'।

इस प्रकार ज्यो ही श्री रामकृष्ण श्री माता जी के शरीर को स्पर्श करने

१. वही, पृष्ठ ४२८।
२. वही, पृष्ठ ४२८।
३. वही, पृष्ठ ४२९।

को उद्यत हुए, तत्काल ही उनका मन कुण्ठित होकर सहसा समाधि में इस तरह विलीन हो गया कि उनके लिए उस रात में पुनः साधारण भाव भूमि में अवरोहण करना सम्भव न हो सका। दूसरे दिन भगवन्नाम उच्चारण कर अत्यन्त प्रयास करने के बाद तब कहीं श्री रामकृष्ण की समाधि भंग हुई'।[1]

यह उदाहरण तथा अन्य उदाहरण भी यह सिद्ध करते है कि पत्नी के साथ उनका हर प्रकार का मानवोचित आचरण, स्वाभाविक और साथ ही कितना अस्वाभाविक रहा है। स्वाभाविकता तथा अस्वाभाविकता का यह विषम मेल बड़ा ही विचित्र जान पड़ता है। इसी से सम्बन्धित पत्नी के अनुभवों का उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा—"वे ऐसे अपूर्व दिव्य भाव में डूबे रहते थे कि मैं उसका वर्णन नहीं कर सकती। भावाविष्ट होकर वे कितनी ही बातें किया करते। कभी हँसते, कभी रोते और कभी समाधि में निश्चल हो जाया करते थे। इस प्रकार सारी रात बीत जाया करती थी। वह कैसा अद्भुत आविर्भाव था—कैसा विलक्षण आवेश। देखकर भय से मेरा शरीर काँप उठता और मैं सोचती कब सवेरा हो। भाव-समाधि के बारे में मैं उस समय कुछ भी नहीं जानती थी। एक दिन उनकी समाधि भंग नहीं हो रही है, यह देखकर भय से रोते हुए मुझे 'हृदय' को बुलाना पड़ा था। वह जाकर उनके कानों में भगवन्नामोच्चारण करता रहा, तब कहीं उनकी समाधि टूटी, तदनन्तर मुझे इस प्रकार भय से कष्ट पाते देख कर उन्होंने स्वयं सिखला दिया—इस प्रकार का भाव देखने पर अमुक-अमुक नाम व बीज मन्त्र सुनाना तब से मुझे पहले जैसा भय नहीं होता था, उनके कथनानुसार नाम व बीज मन्त्र के सुनाने मात्र से वे सहजावस्था में आ जाया करते थे। फिर बहुत दिन इस प्रकार व्यतीत होने पर भी इस आशंका से कि कब उन्हे किस प्रकार का भावावेश हो जाय मैं सारी रात जागती रहती थी। मुझे नींद बिल्कुल आती ही नहीं थी। एक दिन जब उन्हें स बात का पता लगा तो उसी दिन से उन्होंने मुझे नौबतखाने में अलग सोने के लिए कहा'।[2]

"इस प्रकार पत्नी के साथ ८ महीने तक निरन्तर एक जगह उन्होंने निवास तथा उनके साथ एक ही शय्या पर शयन तक किया, ससुराल भी जाते और पत्नी को छोटी-छोटी बातों तक की शिक्षा देते थे।" श्री माँ का कथन है कि दीपक में बाती किस तरह रखनी चाहिए, घर में लोग कौन कैसे

---

१. वही, पृष्ठ ४२८–४२९।

२ वही पृष्ठ १२५।

है तथा किसके साथ किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए, दूसरों के घर जाने पर कैसा व्यवहार करना चाहिए इत्यादि सांसारिक विषयों से लेकर भजन, कीर्तन ध्यान, समाधि तथा ब्रह्म ज्ञान तक की शिक्षाएँ, श्री रामकृष्ण से उन्हें प्राप्त हुई है।"[1]

वर्णित विषयों से यह तो स्पष्ट ही है कि जहाँ एक ओर स्नेह, सुरक्षा शिक्षा तथा अन्य सुख-सुविधा देने में श्री रामकृष्ण में पत्नी के प्रति स्वाभाविकता पायी जाती है वहीं दूसरी ओर यौवन से पूर्ण जीवन में पति-पत्नी का कामुक शारीरिक सम्बन्ध न रहना कितना अस्वाभाविक भी है। वास्तव में अनमेल का यह मेल मानवीय दृष्टिकोण से कितना सत्य है ? यह विचारणीय है।

यही नहीं मानवीय दृष्टिकोण से जिसका आचरण पत्नी के साथ इतना स्वाभाविक होता हो उसकी कामिनी और कांचन के प्रति विचारधारा भी अनोखी है। धार्मिक जीवन में कामिनी-कांचन का स्थान क्या होना चाहिए। इसके विषय में उनकी धारणा इस प्रकार है:—

"कामिनी-कांचन जीव को बाँध लेते हैं। जीव की स्वाधीनता चली जाती है। कामिनी से ही कांचन की आवश्यकता होती है, जिसके लिए दूसरों की गुलामी की जाती है। फिर स्वाधीनता नहीं रहती, फिर तुम अपने मन का काम नहीं कर सकते।"[2]

"कामिनी-कांचन ही माया है। इसके भीतर अधिक दिन तक रहने से होश चला जाता है। यह जान पड़ता है कि खूब मजे मे हैं। मेहतर विष्ठा का भार ढोता है। ढोते-ढोते फिर घृणा नहीं होती।"[3]

"कामिनी-कांचन ही माया है। मन से न दोनों के जाते ही योग होता है। आत्मा परमात्मा चुम्बक-पत्थर है, जीवात्मा एक सुई है। उनके खींच लेने ही से योग हो गया परन्तु सुई में अगर मिट्टी लगी हुई हो, तो चुम्बक उसे नहीं खींचता—मिट्टी साफ कर देने से खींचता है"।

"कामिनी-कांचन मिट्टी है, इसे साफ करना चाहिए"।[4]

"ईश्वर पर जिसकी भक्ति है वह शरीर, रुपया इत्यादि की थोड़ी भी

---

१. श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग, द्वितीय भाग, पृष्ठ १२४–१२५।
२. श्री रामकृष्ण वचनामृत, प्रथम भाग, पृष्ठ १८०।
३. वही, पृष्ठ ११७।
४. वही, पृष्ठ ५६०

परवाह नहीं करता। वह सोचता है देह सुख के लिए, लोक सम्मान के लिए, रुपयों के लिए, क्या जप और तप करूँ। ये सब अनित्य हैं। चार दिन के लिए है।"[१]

कामिनी-कांचन कहाँ तक धार्मिक जीवन में बाधक हैं, इसके प्रति उनका विचार है:—

"यदि एक बार तीव्र वैराग्य से भगवान् मिल जायँ तो फिर स्त्रियों के प्रति आसक्ति नहीं रह जाती। घर में रहने से भी स्त्री की लालसा नहीं होती, फिर उससे कोई भय नहीं रहता। यदि एक चुम्बक-पत्थर बड़ा हो और एक छोटा तो लोहे को कौन खींच सकता है? बड़ा ही खींच सकता है। बड़ा चुम्बक-पत्थर ईश्वर है और कामिनी छोटा चुम्बक-पत्थर है। तो भला कामिनी क्या कर सकेगी?[२]

तो क्या स्त्रियों से घृणा करे?

"जिन्होंने ईश्वर लाभ कर लिया है, वे स्त्रियों को ऐसी दृष्टि से नहीं देखते, जिससे भय हो। वे यथार्थ देखते हैं कि स्त्रियों में ब्रह्म-मयी माता का अंश है, और उन्हें माता जानकर उनकी पूजा करते हैं।"[३]

श्री रामकृष्ण ने अपनी पत्नी की षोडषी पूजा करके उदाहरण प्रस्तुत किया था।[४] अन्य स्थलों में भी श्री रामकृष्ण की कामिनी-कांचन के प्रति यही धारणा है—

"मन से कामिनी-कांचन का त्याग हो जाता है—तब ईश्वर की ओर मन जाता है, तब मन उन्हीं में लिप्त भी रहता है। जो बद्ध है उन्ही में मुक्त होने की शक्ति भी है। ईश्वर से विमुख होने के कारण भी वे बद्ध हैं। काँटे की दो सुइयों में कब अन्तर होता है? यह तभी होता है जब एक पलड़ा किसी भार से नीचे दबता है। कामिनी और कांचन ही भार है"।[५]

कामिनी-कांचन कब बाधक नहीं होते?

"परन्तु योग में विघ्न है—कामिनी-कांचन। यह मन शुद्ध होने पर योग होता है। मन का निवास है कपाल में (आज्ञा चक्र में) परन्तु दृष्टि रहती

१. वही, पृष्ठ ४३१–३२।
२. वही, पृष्ठ १८१।
३. वही, पृष्ठ १८१–८२।
४. लीला प्रसंग, प्रथम भाग, पृष्ठ ४३०–४३१।
५. श्री रामकृष्ण वचनामृत, द्वितीय भाग, पृष्ठ ५३६।

है लिंग, गुदा और नाभि में—अर्थात् कामिनी और कांचन में। साधना करने पर उस मन की ऊपर की ओर दृष्टि होती है।[1]

श्री रामकृष्ण के जीवन में कामिनी-कांचन त्याग और स्वीकृति के रूप में, विरोधात्मक ही प्रतीत होते है। एक ओर धार्मिक जीवन में दोनों का त्याग करते हुए दीख पड़ते है। दूसरी ओर ग्रहण या स्वीकृति प्रदान करते हुए हमारे समक्ष आते है—

"रुपया हाथ मे लेता हूँ तो हाथ टेढ़ा हो जाता है—साँस रुक जाती है। रुपये से अगर कोई विद्या का ससार चला सके, ईश्वर और साधुओ की सेवा कर सके, तो उसमें कोई दोष नहीं रह जाता"।[2]

इसी प्रकार अपने जीवन मे स्त्री के साथ रहने मे भी उनका एक परिवर्तित दृष्टिकोण जान पड़ता है—स्त्री को आद्या-शक्ति माँ के रूप में स्वीकार करना।

"स्त्री लेकर माया का ससार करने से मनुष्य ईश्वर को भूल जाता है। जो संसार की माँ है, उन्होने इस माया का रूप, स्त्री का रूप धारण किया है। इसका यथार्थ ज्ञान हो जाने पर फिर माया के ससार पर जी नही लगता। सब स्त्रियों पर मातृ ज्ञान के होने पर मनुष्य विद्या का ससार कर सकता है। ईश्वर के दर्शन हुए बिना स्त्री क्या वस्तु है यह समझ मे नही आता"।[3]

मातृ रूप मे स्त्री जाति को देखने की पृष्ठ-भूमि के कारण ही उन्होंने अपनी पत्नी में ही नही वरन् वेश्या तक मे आद्या-शक्ति माँ का दर्शन किया—

"मेरी भी वही अवस्था थी। इसे दास्य भाव कहते है। माँ, माँ कहकर इतना रोता था कि लोग खड़े हो जाते थे। मेरी इस अवस्था के बाद मुझे बिगाड़ने के लिए और मेरा पागलपन अच्छा कर देने के विचार से एक आदमी मेरे कमरे में एक वेश्या ले आया—वह सुन्दरी थी, आँखे बड़ी-बड़ी थी। मैं माँ, माँ कहता हुआ कमरे से बाहर निकल आया और हलधारी को पुकार कर कहा "दादा" आओ देखो तो मेरे कमरे में कोई है। हलधारी तथा अन्य लोगों से मैने कह दिया। इस अवस्था मे माँ, माँ कहकर मैं रोता था और कहता था, माँ ! मुझे बचा, माँ मुझे निर्दोष कर दे, सत् को छोड़ असत् मे मेरा मन न जाय।[4]

---

१. वही, पृष्ठ ५५।
२. वही, पृष्ठ ४९६।
३. वही, पृष्ठ ४९८।
४. वही, पृष्ठ ३६७–३६८।

अपने में ईश्वरीय शक्ति का संकेत करते हुए उन्होंने कहा—

इसके भीतर वे ही हैं। कामिनी और कांचन का त्याग ! यह क्या मेरा कर्म है ? स्त्री सम्भोग स्वप्न मे भी नही हुआ।[1]

विवाहित होकर भी कामासक्त कभी नही हुए। स्त्री-सभोग स्वप्न में भी आठ माह सदैव एक साथ सोने पर भी नही किया—यह कहाँ तक सम्भव है ? यदि सम्भव है तो क्या समान्य व्यक्ति के जीवन मे ऐसा हो सकता है ? यह विचारणीय है।

मनोवैज्ञानिक पर्यालोचना

पाश्चात्य नव्य—मनोविज्ञान ने मानव व्यवहार की व्याख्या के लिए 'काम-शक्ति' को प्रमुख आधार माना है। विशिष्ट रूप से धार्मिक अनुभूति और व्यवहार के लिए इसी शक्ति को उत्तरदायी माना जाता है। फ्रायड के कुछ अनुयायियों ने तो यहाँ तक कहा है कि "सभी धर्म प्रारम्भ में केवल यौन-उन्माद की गलत व्याख्या की है और आज का धर्म तात्विक रूप से विकसित और अपरिवर्तनीय मनो-काम विकृति की उत्पत्ति है।"[2] स्वीशर ने भी आदिम जाति के आधार पर बताया है कि धर्म शिश्नीय अवस्था की उत्पत्ति है। जैसा कि काम की मूल प्रवृत्ति अधिक प्रबल है इसलिए सभ्य मानव में काम-सवेग आदर्श के कलेवर में धर्म के रूप मे है।[3]

नव्य मनोवैज्ञानिको के अनुसार यौन-शक्ति इतनी प्रबल और महत्त्वपूर्ण है कि इसी के द्वारा मनुष्य का व्यवहार चेतन और अचेतन रूप से प्रभावित होता रहता है। भूख, प्यास और नींद की तरह यह भी एक जैविक आवश्यकता है। इसकी परितृप्ति आवश्यक है। बिना इसकी तृप्ति के जीवन मे समायोजन लाना असम्भव माना जाता है। इसके अभाव मे मनोविकृत हो जाना सभाव्य है। हैवलाक एलिस ने कुछ ऐसे लोगों के विचारों का उल्लेख किया है जो यह मानते है कि उन्माद के विविध रूप और साथ ही ऐसी स्नायुविक गडबड़ियाँ ब्रह्मचर्य के ही कारण होती है।[4]

---

१. वही, पृष्ठ २५३।

२. सेलेबी—द साइकालॉजी ऑफ रिलीजन, पृष्ठ ११ पर उद्धृत, स्क्रोडर का कथन।

३. वही, पृष्ठ ११, पर उद्धृत (स्वीशर की पुस्तक—रिलीजन एण्ड द न्यू साइकालॉजी, पृष्ठ १६) के विचार।

४. हैवलाक एलिस—साइकालॉजी ऑफ सेक्स (हिन्दी अनुवाद, यौन, मनोविज्ञान मनमथ नाथ गुप्त) पृष्ठ २४२।

नव्य मनोवैज्ञानिकों के प्रभाव में पड़कर ही दार्शनिक रसेल ने भी यौन आवश्यकता की परितृप्ति को परमावश्यक माना है। उनके अनुसार ब्रह्मचर्य या निग्रह से यौन-शक्ति में वृद्धि होती है न कि संतोष या तृप्ति। उनका कथन है कि "खाने-पीने की तरह सेक्स भी नैसर्गिक मानवीय आवश्यकता है। यह सच है कि लोग इसके बिना जीवित रह सकते है, खाने-पीने के बिना नहीं। परन्तु मनोविज्ञान की दृष्टि से सेक्स की इच्छा बिल्कुल वैसी ही है जैसी कि खाने-पीने की इच्छा। निग्रह के कारण यह बहुधा बढ़ जाती है और सन्तोष पाकर अस्थायी रूप से कम हो जाती है। यह अविलम्बनीय आवश्यकता है और इसके कारण बाकी सारा ससार आप की दृष्टि से ओझल हो जाता है। उस समय तो बाकी सभी रुचियाँ लुप्त हो जाती है और उसके कारण व्यक्ति ऐसे काम कर बैठता है जो बाद में उसे उन्मादपूर्ण लगते हैं। और फिर जैसे कि खान-पान मे होता है, निषेध इस इच्छा को भी उद्दीप्त कर देता है।"[1] यही नहीं रसेल ने जीवन के सुख का आधार सेक्स की पूर्ति को ही माना है। ...."जीवन के सुख के लिए आवश्यक है कि सेक्स के सम्बन्ध में कुछ सहज व्यवहार हो। जहाँ सेक्स का दमन हुआ और केवल कार्य ही बाकी रह गया है, वहाँ 'कार्य के लिए कार्य' के सिद्धान्त ने किसी भी ऐसे कार्य को जन्म नही दिया जो करने योग्य हो।"[2]

यहाँ हमारा लक्ष्य केवल यौन तथा धर्म के सम्बन्ध मे विचार करना नहीं है। हमें तो यह देखना है कि श्री रामकृष्ण के जीवन में नव्य मनोविज्ञान तथा उसके समर्थकों के उपरोक्त कथन कहाँ तक चरितार्थ होते है ? और मनोविज्ञान कहा तक उनके यौन जीवन की व्याख्या कर सकता है ?

रसेल का यह कथन है कि 'सेक्स के विकास का एक ही साधन विवाह है, जिसे परम्परा ने सहन किया है,'[3] कुछ सीमा तक श्री रामकृष्ण के जीवन में तो सत्य कहा जा सकता है क्योंकि उन्होने विवाह किया था। परन्तु खाने-पीने की आवश्यकता की सन्तुष्टि के समान ही इसकी सन्तुष्टि शारीरिक सम्बन्ध द्वारा ही हो सकती है, यह विचार उनके जीवनी की घटनाओं से सत्य नहीं प्रतीत होता। क्योंकि 'रमणी के साथ रहे पर न करे रमण' की अवस्था का

१. * बर्टांड रसेल—विवाह और नैतिकता, पृष्ठ १९७।
२. वही, पृष्ठ २०१।
३ वही, पृष्ठ १९२।

ज्ञान भी उनके द्वारा वर्णित घटनाओं द्वारा ही होता है। प्रमाणस्वरूप उनका यह कथन दिया जा सकता है—

"इसके भीतर वे ही है। कामिनी और काचन का त्याग ? यह क्या मेरा कर्म है ? स्त्री—सम्भोग स्वप्न में भी नही हुआ है"।[1]

अत यह विचार कि "मनोविज्ञान की दृष्टि से सेक्स की इच्छा बिल्कुल वैसी ही है जैसी कि खाने-पीने की इच्छा", इनके जीवन से सर्वथा असत्य तथा अवास्तविक सिद्ध होता है। इसकी असत्यता कुछ ऐसे साधु तथा साधुनियो के जीवन से भी सिद्ध होती है, जिन्होने कभी भी लैंगिक प्रेम की कामना नही की और ईश्वर प्रेम में लीन रहे है। इसलिए यह भी आवश्यक नही कि विवाह के द्वारा ही ईश्वर-प्रेम प्रदर्शित किया जा सकता है।[2] धार्मिक अनुभवों मे ईश्वरीय आनन्द तथा प्रेमाभिव्यक्ति को देखकर मनोवैज्ञानिक काम-प्रेम को ही ईश्वर-प्रेम मे देखने का प्रयास करते है। वे इस प्रकार के प्रेम को कामुक प्रेम का परिमार्जित रूप भी मानते है। उनका तात्पर्य यह है कि यौन का उदात्तीकरण ही धर्म है और धर्म की उत्पत्ति का यही एकमात्र स्रोत है। इसमें सन्देह नहीं कि काम प्रवृत्ति एक दुर्दमनीय शक्ति है और इसका जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है और इस शक्ति का उपयोग जीवन-निर्माण तथा विनाश दोनो के लिए ही किया जा सकता है, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि धर्म इसी का उदात्तीकृत रूप है। इसके विपरीत यह कहा जा सकता है कि धर्म के द्वारा काम-शक्ति का उदात्तीकरण किया जाता है और इस शक्ति को मानवीय जीवन से लेकर दिव्य जीवन तक प्रयुक्त किया जा सकता है। अत्यन्त निम्न स्तर पर यह लैंगिक रूप में तो देखी जा सकती है, परन्तु परिमार्जित तथा शोधित रूप में यही ईश्वर प्राप्ति में सहायक भी हो सकती है।' सच कहा जाय तो प्राचीन काल मे काम शास्त्र तक ब्रह्म विज्ञान का ही रूप रहा है। यह केवल 'सेक्सुअल साइंस' या 'इरोटिक्स' नहीं है। काम-कला-तत्त्व की अभिव्यक्ति के साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। पुरुष और प्रकृति, अर्थात् नायक और नायिका किस प्रकार मिलित होने पर दोनो के अर्धांग यथावत् मिलकर पूर्णांग अखण्ड ब्रह्म रूप मे प्रतिष्ठित हो सकते हैं, उसी का रहस्य काम-कला विज्ञान में है।[3]

---

१. श्री रामकृष्ण वचनामृत, भाग ३, पृष्ठ २५३।

२. अखिलानन्द—मेण्टल हेल्थ एण्ड हिन्दू साइकालॉजी, पृष्ठ १४६।

३ डॉ० गोपीनाथ कविराज—भारतीय संस्कृति और साधना पृष्ठ २१५।

रहस्यवादियों के जीवन में इस शक्ति का शोधन या उदात्तीकरण ही होता[1] है। इसका अर्थ यह नहीं कि कामुक प्रेम ही शोधित रूप में ईश्वर प्रेम हो जाता है। इसका तात्पर्य तो यह है कि काम की शक्ति से विवश होकर कुपथ पर जाने से बचना और अपनी चेतन सत्ता को महत् चैतन्य में समाहित कर सच्चिदानन्द हो जाना। ऐसे प्रेम को प्राप्त करना जो अमृत स्वरूप है और जिसे प्राप्त कर मनुष्य सिद्ध हो जाता है, अमर हो जाता है और तृप्त भी।[2] इस दैवी आनन्द की अवस्था को मानव अपनी अपूर्ण मानवीय भाषा के द्वारा प्रकट करता है, जिसमें नव्य मनोविज्ञान को कामुक प्रेम की गन्ध मिलती है। सत्य भी है जो जिस स्तर पर होता है, वह वहीं तक की बात अपनी सीमित धारणाओं के आधार पर समझ पाता है। ऐसे मनोवैज्ञानिक को केवल माधुर्य प्रेम में ही काम या यौन प्रेम की गन्ध नहीं मिलती वरन् शान्त, दास्य, साख्य एवं वात्सल्य में भी वही दृष्टिगोचर होता है। उनको ऐसा इसलिए दिखलाई पड़ता है कि वे धर्म को मात्र कामशक्ति का विकृत रूप मानते है। परन्तु वास्तविकता यह जान पड़ती है कि धर्म की चेतना का अलग अस्तित्व है। उस चेतना से काम ही नहीं अन्य निम्न श्रेणी की वासनाएँ और इच्छाएँ भी रूपान्तरित और परिमार्जित होकर उसमें सहयोग प्रदान करती है और अनन्त आनन्द की उपलब्धि होती है।[3]

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि धर्म काम शक्ति ही है या काम शक्ति का विकृत रूप ही। काम शक्ति को हम फ्रायड या युग के अर्थ में 'लिबिडो' के रूप में उस अंश तक ग्रहण कर सकते है जहाँ तक वह सर्जनात्मक क्रिया में सहायक होती है। इस शक्ति के आधार पर प्राणिक-भावमय जीवन को तीव्र किया जा सकता है। 'काम-शक्ति', जिसका प्रयोग विश्व प्रकृति सन्तानोत्पत्ति के प्रयोजन के लिए करती है, अपने वास्तविक स्वरूप में जीवन की एक-मूल शक्ति है। इसका प्रयोग प्राणिक-भावमय जीवन को ऊँचा उठाने के लिए नहीं बल्कि उसे एक विशेष प्रकार की तीव्रता प्रदान करने के लिए किया जा सकता है। इसे संयत करके तथा काम-प्रयोजन से फेर कर सौन्दर्यात्मक, कला-

---

१. श्री शंकराचार्य—विवेक-चूड़ामणि, श्लोक, १८३।

तन्मनःशोधनं कार्यं प्रयत्नेन मुमुक्षुणा।
विशुद्धे सति चैतस्मिन्मुक्तिः करफलायते॥

२. नारद भक्ति सूत्र, ३—४।

३. अरविन्द के पत्र, पृष्ठ १४८।

त्मक या अन्य किसी प्रकार के सर्जन एवं उत्पादन के उपयोग में लाया जा सकता है अथवा बौद्धिक या अन्य क्षमताओं को उन्नत करने के लिए सुरक्षित रक्खा जा सकता है। पूर्णतः संयत कर लेने पर इसे अध्यात्म-शक्ति के वल मे भी परिणित किया जा सकता है। प्रचीन भारत मे यह तथ्य सुविदित था और इसे ब्रह्मचर्य द्वारा 'रेतस्' को 'ओजस्' में वदलना कहा जाता है।"[1]

इस प्रकार ब्रह्मचर्य या सयम से काम का परिमार्जन धर्म में सहायक हो सकता है, परन्तु जैसा कि हैवलाक एलिस ने उल्लेख किया है कि कुछ मनोवैज्ञानिक इस पर भी आक्षेप करते हैं। उनका कहना है कि स्नायुविक गड-बडियाँ या उन्माद ब्रह्मचर्य के ही कारण होती है। इस आक्षेप का उत्तर एलिस ने सम्भवत ठीक ही दिया है कि "ऐसा विश्वास करने का कोई आधार दिखलाई नही देता कि जन्मजात रूप से स्वस्थ व्यक्तियो मे सिर्फ ब्रह्मचर्य के ही कारण मानसिक विकार अथवा स्नायुविक रोग हो जाय। ब्रह्मचर्य से रोग हो सकते है, इस विश्वास की उत्पत्ति कार्य-कारण सम्बन्ध को गडबड़ाने से होती है। दूसरी तरफ जब कोई ऐसा आदमी पागल हो जाता है जिसने बिना किसी रोक-टोक के अति मैथुन किया है तो हमें यह कहने का अधिकार नही है कि उसके उन्माद का कारण यौन आवेग है।"[2]

इस प्रकार आधुनिक युग का सबसे बड़ा यौन मनोवैज्ञानिक हैवलाक एलिस ब्रह्मचर्य या काम के उदात्तीकरण का औचित्य स्वीकार करता हुआ जान पडता है, परन्तु वह भी एक सीमा तक। उनका कथन है कि—"यह सच है कि हम यौन शक्ति को अन्य आध्यात्मिक प्रणालियो मे मोड सकते हैं, पर इस तरह यौन शक्ति का एक बहुत ही कम मात्रा में उदात्तीकरण किया जा सकता है।"[3]

सम्भवत एलिस का उदात्तीकरण के लिए सीमा निर्धारित कर देना उचित ही ज्ञात होता है, क्योंकि यह क्रिया व्यक्ति की शक्ति या अपनी क्षमता के ऊपर निर्भर है। आत्म नियन्त्रण कुछ अशों मे कुछ लोग कर सकते हैं परन्तु इतनी मात्रा मे काम शक्ति का उदात्तीकरण कर लेना कि उच्च धार्मिक भाव भूमि मे पहुँचा जा सके, बहुत कम लोगों में सम्भव है। इसी तथ्य को एलिस ने स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "यौन मनोविज्ञान के क्षेत्र में उदात्तीकरण का अर्थ यह है कि यौन शारीरिक आवेग या सकीर्ण अर्थ में जिजीविषा (लिबिडो)

---

१. वही, पृष्ठ २४६।

२. हैवलाक एलिस—यौन मनोविज्ञान, पृष्ठ २४२।

३ वही पृष्ठ, २४७

को उच्चतर मानसिक क्रिया के आवेग में इस ढंग से परिवर्तित किया जा सकता है कि शारीरिक आवश्यकता के रूप में वह अत्यावश्यक न रह जाये। जनता मे प्रचलित मनोविज्ञान में यह धारणा अब बहुत चालू है। पर जो लोग इस विचार के सम्बन्ध में चर्चा करते है वे अक्सर इस बात को नहीं समझते कि उदात्तीकरण की यह प्रक्रिया अपने मौलिक रूप मे भी बहुत शक्ति के खर्च का तकाजा करती है और आलंकारिक तथा आध्यात्मिक स्वरूप में इसकी बातचीत करना बहुत आसान है पर इसे प्राप्त करना बहुत कठिन है। उदात्तीकरण का अर्थ शारीरिक आवेगों का ऐसा वास्तविक मानसिक परिवर्तन है, जिसके द्वारा स्थूलतर शारीरिक इच्छाएं एक ऐसे उच्च धरातल पर ले जाई जाती है जहाँ वासना-तृप्ति की कोई आवश्यकता नहीं रहती। यहाँ जिसे हम उच्च मानसिक बातें कहते हैं उन्हीं में वह शारीरिक शक्ति घुलमिल जाती है। इसमे सन्देह नहीं कि इस प्रकार का परिवर्तन असम्भव नहीं है, पर ऐसा न तो आसानी से होता है और न जल्दी हो सकता है। यह तो शायद ऐसा है कि जिन लोगों की स्नायुविक प्रकृति साधारण से कुछ ऊँची है वे ही इस क्षेत्र में सफलता प्राप्त कर सकते है"।[1]

श्री रामकृष्ण के यौन जीवन मे यह बात पूर्णतः चरितार्थ होती जान पड़ती है। उनकी इस प्रकार की उक्ति कि "मैंने स्वप्न में भी स्त्री सम्भोग नहीं किया है" असम्भव नही कहा जा सकता। इतना अवश्य है कि इस कोटि का उदात्तीकरण अन्यत्र देखने को नहीं मिलता।

एक ही शय्या पर लगभग आठ माह तक 'रमणी के साथ रहे पर न करे रमण' कितनी सीमा तक सम्भव कहा जा सकता है ? इसके उत्तर में एलिस के मतानुसार यह कहा जा सकता है कि इसके लिए अवश्य ही मौलिक रूप मे अतीव शक्ति को खर्च करने की आवश्यकता होती है। और इस प्रकार के उदात्तीकरण की सम्भावना श्री रामकृष्ण के जीवन मे इसलिए भी है कि उनकी स्नायुविक प्रकृति ही साधारण से ऊँची नही रही है, वरन् मानसिक स्वभाव का गठन भी साधारण से अत्युच्च जान पड़ता है। नव्य-मनोवैज्ञानिक इस सतह तक पहुँचने की कल्पना भी नहीं कर सका है। उनका अध्ययन देह-बुद्धि तक ही सीमित जान पड़ता है। यह देह-बुद्धि विकास की प्रारम्भिक अवस्था मे पाशविक स्तर तक ही देखी जा सकती है। उदाहरण के लिए आदिम मानव मे तथा साधारण और कुछ अंशों तक नैतिक चेतना से पूर्ण मनुष्य भी विषय-

१. वही, पृष्ठ ३३५–३३६।

वासनाओं से आवेष्टित रहता है, परन्तु थोड़े-थोड़े अन्तर के साथ। आदिम यदि पूर्ण पाशविक है तो साधारण तथा नैतिक चेतना से युक्त मनुष्य में आंशिक। वह भी परिमार्जित रूप में। पर मनुष्य की मनुष्यता यहीं तक सीमित नहीं है। इसकी दो श्रेणी—आध्यात्मिक तथा दैवी, और भी देखी जा सकती है। आध्यात्मिक व्यक्ति की वासनाएँ उसके सतत् प्रयास और शक्ति के व्यय से उदात्त हो जाती है, परन्तु दैवी मानव अपने संचित धर्म संस्कार के कारण प्रारम्भ से ही इतना उन्नत रहता है, उसकी स्नायुविक या मानसिक संगठन ही इतना अद्भुत कोटि का उच्च रहता है कि उसके लिए इस प्रकार के कार्य असम्भव और आश्चर्यजनक नहीं ज्ञात होते। उनकी अपनी इच्छा-शक्ति न होकर उनमें दैवी इच्छा या भागवती शक्ति कार्य करती रहती है। इसीलिए श्री रामकृष्ण ने कहा है कि—"इसके भीतर वे ही है, यह क्या मेरा कर्म है।" स्त्री से सम्भोग स्वप्न में भी नहीं हुआ है। यह शायद इसीलिए कि "वे यन्त्री है और मैं यन्त्र, वे जैसा कराते हैं मैं वैसा करता हूँ।" यह है दिव्यत्व। नवीन प्रयोगात्मक मनोविज्ञान जो उत्तेजना तथा प्रतिक्रिया, चेतन तथा अचेतन तक ही सीमित है, इस दिव्यत्व की व्याख्या नहीं कर सकता।

इसमे तो सन्देह नहीं रहा कि उच्चस्तर के रहस्यवादियों में काम-शक्ति का उच्चकोटि का उदात्तीकरण होता है, परन्तु उसमे भी श्रेणी-भेद अन्तर देखा जाता है। जितने भी रहस्यवादी हुए है उन्होंने या तो वासनाओं से मुक्ति पाने के लिए विवाह ही नहीं किया या विवाह किया तो गृह त्याग कर घोर साधना में रत होकर ही दिव्यता प्राप्त की है। परन्तु श्री रामकृष्ण ने विवाह के औचित्य को स्वीकार किया तथा पत्नी के साथ ही रहकर दिव्यता प्राप्त की। प्रश्न उठता है कि श्री रामकृष्ण ने तो केवल अपनी ही दिव्यता पर ध्यान दिया, उन्होंने पत्नी की अवहेलना की है। इस प्रकार का तर्क स्वयं में विरोधपूर्ण है क्योंकि यह दिव्यता पति-पत्नी के सामंजस्यपूर्ण जीवन का ही द्योतक है। इनमें यदि एक पक्ष भी निर्बल पड़ता तो इस प्रकार की उपलब्धि कहाँ तक सम्भव रहती? इसके विषय में स्वयं श्री रामकृष्ण ने कहा है—"वह (पत्नी) यदि तनी शुद्ध और पवित्र न होती और विवेक खोकर उस समय मुझपर जबरदस्ती करती, तो संयम का बांध टूट कर मुझ में देह-बुद्धि का उदय होता या नहीं, यह कौन कह सकता है? विवाह के बाद व्याकुल होकर मैंने माँ से (श्री जगदम्बा से) प्रार्थना की थी, "माँ मेरी पत्नी के मन से काम-भाव को एकदम दूर कर दे—उसके (पत्नी) साथ एकत्र रहकर उस समय मैंने यह अनुभव किया था कि माँ ने मेरी उस प्रार्थना को सचमुच सुना

था।" उस महाशक्ति ने उनकी प्रार्थना ही नहीं सुनी थी वरन् उनको दिव्यता को जागृत कर शक्ति का संचालन भी करती जान पड़ती है। इसीलिए वे यन्त्र के समान अपने को समझने लगे और उस महाशक्ति को यन्त्री के तुल्य। मानवीय देह में रहकर मानवीय भावनाओं का आरोपण करना पड़ता है। श्री रामकृष्ण सन्तान भाव से महाशक्ति को माँ के ही रूप में मानते थे। माँ जहाँ बैठा दे वहीं बैठें, जो करायें वही करें। उनकी यही निष्ठा रही है। और इसी निष्ठा के कारण उस महाशक्ति के स्वरूप को सम्पूर्ण संसार मे सतत् प्रवहमान चैतन्य शक्ति के रूप मे देखते थे। उसी शक्ति को माँ के रूप मे स्त्री भाव में उपस्थित देखा। दिव्यालोक में पत्नी ही नहीं स्त्री जाति को ही माँ के स्वरूप में देखना स्वाभाविक हो गया। काम के रहते वही स्त्री बाधा है परन्तु दिव्यता प्राप्ति या उसके जागरण पर वह माँ के अतिरिक्त और कुछ नहीं। उनकी परीक्षा के लिए वेश्या को उपस्थित करने पर भी माँ का सम्बोधन ही नहीं करना उसमें श्री जगदम्बा का दर्शन करना इसी को परिलक्षित करता है। स्त्री संस्पर्श के समय उनका समाधि मग्न हो जाना और बाह्य चेतना का लुप्त हो जाना यह सिद्ध करता है कि पत्नी मे माँ शक्ति को ही उपस्थित देखकर समाधिस्थ हुए थे। उनका यह व्यवहार मनोविज्ञान की दृष्टि मे कोई रोग नहीं कहा जा सकता। क्योंकि सप्त भूमि के आधार पर यह कहा जाता है कि "मन इन सात सोपानों पर विचरण किया करता है। जब वह संसार में रहता है, तब लिंग, गुदा और नाभि उसके निवास स्थल है। तब वह उन्नत दशा पर नहीं होता केवल कामिनी-कांचन मे लगा रहता है।" और छठी भूमि कपाल है। मन वहाँ जाने से दिन-रात ईश्वरी रूप के दर्शन होते है। सप्तम् भूमि पर मन जाने से समाधि होती है। श्री रामकृष्ण की अवस्था इस श्रेणी तक पहुँच चुकी थी। इस अवस्था मे यौन प्रेम धर्म नहीं बनता। साधक ईश्वर में यौन प्रेम का आरोपण नहीं करता। वह प्रेम तो अनिर्वचनीय होता है। साधक उसी प्रेम को प्राप्त करता है। श्री रामकृष्ण की प्रेमावस्था काम-शक्ति का प्रेम नही था। अपितु उनके कथनानुसार साधक स्वयं प्रेमस्वरूप हो जाता है—"साधना करते-करते शरीर प्रेम का हो जाता है। आँखे प्रेम की, कान प्रेम के। उन्हीं आँखों से वे दीख पड़ते है, उन्हीं कानों से उनकी वाणी सुन पड़ती है। और प्रेम का लिंग और योनि भी होती है।"[१] यदि इसे उदात्ती-

---

१. श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग—प्रथम भाग, पृष्ठ ४३०।

१. श्री रामकृष्ण वचनामृत—प्रथम भाग, पृष्ठ ८५।

करण कहे, तो कह सकते है। परन्तु इस प्रकार का उन्नयन कितनों ने किया है ? कहाँ तक यह सम्भव है ? अवश्य विरले ही इस कोटि में आते है। श्री रामकृष्ण के जीवन से यही विदित होता है कि जिसने ईश्वर-दर्शन प्राप्त किया है उसका प्रेमानन्द इस कोटि का हो सकता है। इसमे आश्चर्य की बात नही जान पड़ती। उनकी समाधि अवस्था सहजावस्था के रूप मे थी। यदि वे पत्नी ही नही स्त्री मात्र मे ईश्वर-दर्शन कर समाधि मग्न हो जाते थे तो उसे असम्भव नही कहा जा सकता। मनोविज्ञान की सतही व्याख्या इस अवस्था को कैसे स्पष्ट कर सकती है।

इसी अवस्था के कारण हम पत्नी के साथ किये गये उनके व्यवहारों को स्वाभाविक और अस्वाभाविक दोनों रूपों मे देखते है। मानवीय रूप में शुद्ध प्रेम प्रदर्शित करना अस्वस्थता में सेवा-शुश्रूषा करना, ससुराल जाकर पत्नी को लिवा आना, दैनिक जीवन की सूक्ष्मातिसूक्ष्म बातो और व्यवहारो के लिए शिक्षा प्रदान करना, पूर्ण रूप मे स्वाभाविक ही कहा जा सकता है और पारिवारिक जीवन मे रहकर पत्नी के साथ सम्भोग न करना, सदैव ईश्वरीय चिन्तन और वार्तालाप में तल्लीन रहना, बार-बार समाधि भाव मे हो जाना, अस्वाभाविकता का द्योतक है। परन्तु यह स्वाभाविकता हम साधारण मनुष्य की दृष्टि से देखी जा सकती है। उस स्तर पर न तो स्वाभाविक है और न अस्वाभाविक। यह तो केवल एक अवस्था कही जा सकती है। इस अवस्था की जो बातें हमसे मेल खाती है वह स्वाभाविक प्रतीत होती है अन्यथा अस्वाभाविक। हम अपने स्तर पर यही सोचते है कि वैवाहिक जीवन बिना दैहिक सम्बन्ध के सम्भव नहीं, परन्तु बात ऐसी नहीं जान पडती। पारस्परिक प्रेम के लिए यौन सम्बन्ध ही आवश्यक नहीं है। 'विवाह का लक्ष्य केवल यौन सन्तुष्टि ही नही कहा जा सकता। विवाह का लक्ष्य पारस्परिक ज्ञान है और इसके अतिरिक्त कुछ और भी। इसीलिए "अकेले यौन दृष्टि से ही इस पारस्परिक ज्ञान की आवश्यकता हो सो बात नही है। विवाह यौन-सम्बन्ध के अतिरिक्त और भी बहुत कुछ है। आज-कल बहुत-सी शादियाँ होती हैं जिनमें यौन सम्बन्ध कभी नहीं होता, पर पूर्णरूपेण पारस्परिक ज्ञान होने पर ऐसे लोगों के सुख मे भी वृद्धि होती है।"[1] सम्भव है हैवलाक यहाँ ऐसे ही वैवाहिक सम्बन्ध की बात कह रहे है जैसा कि महान् और आदर्शवादी पुरुषो के जीवन मे प्राप्त होता है। हो सकता है कि बहुत-सी शादियाँ वास्तविक प्रेम की प्राप्ति (वासना

१. हैवलाक ए , पृष्ठ २५४.।

से रहित) या पारस्परिक ज्ञान के लिए ही होती हो परन्तु आश्चर्य यह है कि एलिस ने साधारण से साधारण या किसी महान् ऐतिहासिक उदाहरण को भी सामने नहीं रखा है। "आज-कल बहुत-सी शादियाँ होती हैं जिनमें यौन सम्बन्ध नहीं होता', एलिस का यह कथन ऐतिहासिक उदाहरण के अभाव में निरापद नहीं कहा जा सकता। हो सकता है ऐलिस को इस प्रकार के कुछ उदाहरण मिले हों, परन्तु श्री रामकृष्ण की कोटि का स्त्री-सम्बन्ध सम्भवतः इतिहास में कहीं नहीं प्राप्त होता। अतः ऐलिस के मत तथा श्री रामकृष्ण के उदाहरण से तो यही सिद्ध होता है कि आधुनिक मनोविज्ञान का "काम" का सिद्धान्त धार्मिक जीवन की व्याख्या नहीं कर सकता। सम्भवतः इसकी उचित व्याख्या के लिए उसको अपनी मान्यताएँ बदलनी पड़ेगी।

श्री रामकृष्ण की कामिनी-कांचन के प्रति विचार धारा के विषय में भी लोगों के यह आक्षेप हो सकते है कि उन्होंने इनके प्रति उदासीनता या घृणा का भाव क्यों व्यक्त किया है ? वास्तविक दृष्टि से यह आक्षेप एकांगी ज्ञात होता है। क्योंकि उन्होंने विद्या तथा अविद्या स्त्री का भेद कर अपने दृष्टि-कोण को स्पष्ट कर दिया है। कामिनी यदि ईश्वर प्राप्ति में सहायक है तो वह विद्या स्त्री है, और यदि इस महत् लक्ष्य में बाधक है तो अविद्या स्त्री के रूप में है। अविद्या स्त्री जीवात्मा रूपी सुई में लगी हुई मिट्टी के समान है यदि उसे साफ कर लिया जाय तो आत्मा-परमात्मा रूपी चुम्बक जीवात्मा को खींच लेगा। "मिट्टी को साफ करना" काम का उन्नयन ही करना है। ऐसी स्थिति प्राप्त कर लेने के पश्चात् स्त्रियों के प्रति आसक्ति नहीं रह जाती। घर में रहने पर भी न स्त्री से भय है और न उसके प्रति लालसा ही होती है। फिर तो ऐसा शुद्ध अन्तःकरण और बुद्धि वाला व्यक्ति यथार्थ रूप में देखता है कि स्त्रियों में ब्रह्ममयी माता का अंश है और यही जानकर वह नारी पूजा भी करता है। श्री रामकृष्ण ने पत्नी की षोडशी पूजा करके इसी बात को स्पष्ट किया है कि नारी से घृणा नहीं करनी है।

नारी के प्रति कर्तव्य भावना बनाये रखने के लिए ही उन्होंने भक्तों से कहा है कि दो-एक पुत्र होने पर भाई-बहन की तरह रहना चाहिए। जहाँ तक उपभोग का सम्बन्ध है अपनी पत्नी से उपभोग करने में कोई दोष नहीं है। परन्तु आसक्ति मिटाने के लिए लड़के-बच्चे होने पर भाई-बहन की तरह रहना चाहिए। इस दृष्टि से श्री रामकृष्ण के कामिनी के प्रति विचार पूर्णतः स्वाभाविक ज्ञात होते हैं। उनके कथन में विरोध का आभास वास्तविक दृष्टि-कोण को न समझने के कारण ही मिलता है। कांचन के लिए भी यही विचार

चरितार्थ होता है। यदि वह बन्धन का, आसक्ति का कारण बनता है तो त्याज्य है और यदि वह विद्या का समार अनासक्ति भाव से चलाने के लिए काम मे लाया जाय तो स्वीकार्य है।

श्री रामकृष्ण के इन द्विधापूर्ण कथनो के स्पष्टीकरण के लिए हमे निरपेक्ष दृष्टिकोण को अपनाना होगा। इस दृष्टि से देखने पर जो विरोध और द्विधा की स्थिति दिखलाई पड़ती है वह समाप्त हो जायगी। क्योंकि उनका कथन मानवीय तथा अतिमानवीय दोनो की परिधि को छूता हुआ ज्ञात होता है। रहस्यवादियो के जीवन मे इस प्रकार की विचित्रता वर्तमान ही रहती है। क्योंकि उनका जीवन यथार्थ और आदर्श के बीच का प्रतिफल होता है। इसीलिए समाज के लिए वह व्यवहार्य भी होता है अन्यथा सन्तों और महापुरुषो की समाज के लिए क्या उपयोगिता होती ? मनोविज्ञान इनके जीवन की समुचित व्याख्या नहीं कर सकता। धार्मिक जीवन की व्याख्या करने में नव्य मनोवैज्ञानिक का काम-शक्ति को ही महत्त्वपूर्ण मानना उसी प्रकार से व्यर्थ है जिस प्रकार कि कोई मूर्ख व्यक्ति वृक्ष की जड़ को यह पता लगाने के लिए खोदे कि किस बीज से यह वृक्ष इतना बडा हुआ है। मनोवैज्ञानिक धर्म की जड काम-शक्ति में ही खोजने का प्रयत्न करता है परन्तु उनकी सफलता कहाँ सिद्ध मानी जा सकती है जब कि वे अनेक महापुरुषों के जीवन की स्वाभाविक क्रिया की भी व्याख्या नही कर सकते।

जिस प्रकार श्री रामकृष्ण के यौन-जीवन की व्याख्या मनोविज्ञान के काम सिद्धान्तों से नहीं की जा सकती उसी प्रकार उनकी समाधि सम्बन्धी विशेषताओं को भी मनोविज्ञान कहाँ तक समझ सका है, यह देखना है।

४

विभिन्न समाधि का मनोविकृति सम्बन्धी अध्ययन

समस्त धार्मिक साधनाओं की एक चरमगति होती है। एक ऐसी अवस्था होती है जिसे प्राप्त कर लेना धार्मिक महापुरुषों का परम लक्ष्य होता है। यही सत्योपलब्धि, चिरानन्द, आप्तकामता, एकाकारता, निर्वैयक्तिकता या पूर्णता की अवस्था होती है। भारतीय धर्म साधना में इसी अवस्था को विभिन्न धर्माचार्यों ने विभिन्न नामों से अभिहित किया है। इसी चरम गति का नाम उपनिषद् ने तुरीयावस्था या मोक्षावस्था बताया है। गीता का 'स्थित प्रज्ञ', साख्य का 'कैवल्य', बुद्ध का 'निर्वाण' तथा योग की 'समाधि' उसी चरमावस्था की कोटि में है। परन्तु मूल रूप में हम यहाँ 'समाधि' शब्द को ही अपने अध्ययन-क्षेत्र मे ग्रहण करेंगे। योग तथा अन्य शास्त्रों मे भी समाधि की विभिन्न अवस्थाएँ मानी गई है। न अवस्थाओं की विस्तृत पर्यालोचना आवश्यक है। साथ ही यह भी देखना है कि इस अवस्था में साधक के शरीर तथा मन की क्या स्थिति होती है और उन अवस्थाओं का मनोविकृति की अवस्था से कहाँ तक साम्य है ?

(अ) योग में उक्त विभिन्न प्रकार की समाधि :—यहाँ हमारा योग का अर्थ राजयोग या पातजल योग से है।

पांतजलयोग:—'अष्टाग योग' है। इसका चरम लक्ष्य समाधि अवस्था को ही प्राप्त करना है। विभिन्न अगों के अनुसरण की परिसमाप्ति समाधि में ही होती है। समाधि के पूर्व की अवस्थाएँ पूरक कही जा सकती हैं। उन पूर्ववर्ती साधनो के द्वारा ही साध्य तक पहुँचा जा सकता है। या यों भी कह सकते हैं कि समुच्चय रूप में सभी साधन समाधि की अवस्था को ही सिद्ध करते हैं। विना समुच्चय के समाधि की कोई अवस्था सम्भव नहीं।[१] यही समाधि, योगी या साधक का चरम लक्ष्य है। पांतजल योग में समाधि

---

१. यमनियमासनप्रणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाध्योऽष्टावंगानि। पांतजलि-योग सूत्र। २।२६।

दो प्रकार की है। एक है सम्प्रज्ञात और दूसरी असम्प्रज्ञात।[१] कुछ लेखकों ने इसे क्रमशः चेतन तथा अचेतन नाम प्रदान किया है।[२]

सम्प्रज्ञात समाधि वितर्क, विचार, आनन्द या अस्मिता से युक्त होती है। इसीलिए इसे सबीज समाधि भी कहते हैं। सम्प्रज्ञात समाधि के चार प्रकार है।

१—इसके प्रथम प्रकार को सवितर्क समाधि कहते हैं। इसमे बाह्य स्थूल भूत ही ध्यान के विषय होते हैं। वितर्क का अर्थ है प्रश्न और सवितर्क का अर्थ है प्रश्न सहित। अर्थात् उन स्थूल भूतों से पूछना, जिससे वे अपने अन्तर्गत सत्य और अपनी सारी शक्ति अपने ऊपर ध्यान करने वाले पुरुष को दे दे, इसी को सवितर्क कहते है।

वितर्कानुगत समाधि का दूसरा रूप निर्वितर्क समाधि कहलाती है। इसमें उन्ही भूतों को देश और काल से अलग करके उनके स्वरूप का चिन्तन किया जाता है।

२—विचारानुगत रूप में समाधि के सविचार तथा निर्विकार दो रूप है। इसी प्रकार जब ग्राह्य (इन्द्रियों के स्थूल और सूक्ष्म विषय) और ग्रहण (इन्द्रियाँ और अन्तःकरण) के सूक्ष्म रूप मे समाधि की जाती है, उस समय समाधि मे जब तक शब्द, अर्थ और ज्ञान का विकल्प रहता है, तब तक वह सविचार और जब इनका विकल्प नही रहता तब वही निर्विकार कही जाती है।

३—आनन्दानुगता समाधि—इसमे सूक्ष्म और स्थूल दोनो प्रकार के भूतों का चिन्तन छोडकर अन्तःकरण को ध्यान का विषय बनाया जाता है और जब तक अन्तःकरण को रज और तम इन दोनों गुणों से रहित सोचा जाता है तब उसे आनन्द समाधि कहते है।

४—अस्मिता समाधि—इसमें स्वयं मन ही ध्यान का विषय होता है।

---

१. वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात्सम्प्रज्ञातः, विरामप्रत्ययाभ्यास पूर्वःसंस्कार-शेषोऽन्यः ॥ वही, १ । १७–१८ ।

२. जी० कास्टर :—योग एण्ड वेस्टर्न साइकालॉजी, पृष्ठ १०३–१०५ : ने चेतन तथा अचेतन, तथा डॉ० गंगानाथ झा ने भी असम्प्रज्ञात समाधि को अचेतन नाम दिया है। परन्तु प्रोफेसर ए० सी० भट्टाचार्य ने इसे अतिचेतसिक संज्ञा प्रदान की है। यह उक्ति जान पड़ता है, क्योंकि यह उच्च अवस्था होती है। इसमें आत्मा की स्पष्ट तथा पूर्ण रूपेण चेतना प्राप्त होती है।

'जब ध्यान बिल्कुल परिपक्व और एकाग्र हो जाता है, जब स्थूल और सूक्ष्म भूतों की समस्त भावनाएँ त्याग दी जाती है और जब अन्य सब विषयों से पृथक् होकर अहकार की केवल सत्तावस्था ही शेष रहज ाती है, तब उसे अस्मिता समाधि कहते है। इस अवस्था में भी पूर्णतया मन के अतीत होना सम्भव नहीं होता'।'

वेदों में इस अवस्था को प्राप्त पुरुषों को 'विदेह' की सज्ञा प्राप्त है और जो लोग इस अवस्था में रहते हुए बिना परम पद की प्राप्ति के प्रकृति में लीन हो जाते है, उन्हें 'प्रकृतिलय' कहा जाता है। परन्तु यह सब सूक्ष्म भोग सुख है। जो इसे भी प्राप्त कर सन्तुष्ट नहीं होते वे ही मुक्ति को प्राप्ति करते हैं। इस प्रकार सम्प्रज्ञात समाधि मुक्ति प्राप्ति की पूर्व तैयारी स्वरूप है।

असम्प्रज्ञात समाधि—इसे निर्वीज समाधि भी कहते है। सम्प्रज्ञात समाधि में चित्त-वृत्तियों का केवल दमन भर होता है फिर भी वे संस्कार या बीजाकार में विद्यमान रहतीं है। समय पाते ही वे पुनः प्रकट हो जाती है। असम्प्रज्ञात या निर्वीज समाधि ज्ञानातीत अवस्था है। इसमें संस्कारों को भी निर्मूल कर दिया जाता है। जब मन को लगभग नष्ट कर दिया जाता है, तब समाधि निर्वीज हो जाती है। संस्कार के बीच नहीं रह जाते।

वेदान्तवादियों के अनुसार भी समाधि दो प्रकार की होती है:—जो पातजल-योग की समाधि के समान ही है। सम्प्रज्ञात समाधि को इनके अनुसार सविकल्प समाधि कहा जाता है और असम्प्रज्ञात को निर्विकल्प। सदानन्द के अनुसार सविकल्प समाधि एक मानसिक वृत्ति है और जिसका विषय शुद्ध चैतन्य या ब्रह्म है। इसी में वृत्ति का परिवर्तन कर देना इसका लक्ष्य है। इसमें ज्ञाता-ज्ञान तथा ज्ञेय का विभेद नष्ट नही होता। निर्विकल्प समाधि की परिभाषा भी मानसिक वृत्ति कह कर की गई है—जिसका परिवर्तन ब्रह्म या पूर्ण चैतन्य में ही कर देना है। इसमें साधक ब्रह्म से अपना पूर्णरूपेण समागम स्थापित कर लेना है। यह अवस्था शुद्ध ब्रह्म की चेतन अवस्था है। परन्तु निर्विकल्प समाधि तथा सुषुप्ति अवस्था में अन्तर है। सदानन्द के अनुसार यद्यपि दोनों अवस्थाओं में किसी भी मानसिक वृत्ति की चेतना नहीं होती, फिर भी निर्विकल्प समाधि में मानसिक वृत्ति होती है लेकिन उसका

---

१. स्वामी विवेकानन्द, राजयोग, पृष्ठ १४२, १४५।

परिवर्तन ब्रह्म के रूप में हो जाता है और सुषुप्ति में कोई मानसिक वृत्ति होती ही नही क्योंकि इस अवस्था मे मनस् अविद्या में विलीन हो जाता है।

(ब) **भागवत् में उक्त विभिन्न प्रकार की समाधि :**—समाधि के सम्बन्ध मे भागवत् का एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण पाया जाता है। इसमें उपनिषद्, योग तथा तन्त्र के अद्भुत सगम के साथ वैष्णव योग की निर्मल तथा स्निग्ध धारा प्रवाहित हुई है। एक ओर जहाँ भागवत् मे चित्त-शुद्धि के पश्चात्, आत्म-तत्व के साक्षात्कार[1] का वर्णन मिलता है वहाँ दूसरी ओर पातजल योग के विशिष्ट कलापूर्ण अष्टॉग योग की विधियों का भी निदर्शन है।[2] षट्चक्र भेदन की क्रिया के उल्लेख से भागवत् मे तन्त्रयोग का पुष्टीकरण भी प्राप्त होता है। शक्ति जागरण की यह क्रिया मूलाधार में स्थित कुडलिनी शक्ति के जागृत होने पर ही सम्भव है। अत भागवत् ने तन्त्रयोग की इस विधि का वर्णन किया ।[3]

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि यदि भागवत् मे उपनिषद्, योग तथा तन्त्र द्वारा प्रतिपादित समाधि का उल्लेख है या इनका समन्वय है तो भागवत् की समाधि के विषय मे अपनी क्या विशिष्टता है ? क्या विभिन्न शास्त्रो मे निहित समाधि के लक्ष्य और अर्थ भी भिन्न-भिन्न है ?

वास्तव में भागवत् की समाधि विषयक धारणा समन्वयात्मक दृष्टिकोण को लेते हुए भी विशिष्ट रूप से है। वैसे तो सभी शास्त्रों में समाधिका अन्तिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति ही है। परन्तु क्रिया विधि को देखते हुए उनमे पर्याप्त अन्तर देखा जा सकता है। योग और तन्त्र में जहाँ कलापूर्ण विधियो का उपयोग किया जाता है वहाँ भागवत् उन विधियों का आश्रय लेते हुए

---

१. तस्मिन् विशुद्ध उपलभ्यत आत्मतत्त्वं
साक्षाद् यथामलदृशोः सवितृप्रकाशः भागवत, ११।३।४०, १०।२८।१४,१५

२. भागवत ३।२८।४,५, ८,९,११। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार धारणा, ध्यान समाधि, यम नियम का उल्लेख, ११।१९।३३–३५

३. नाभ्यां स्थितं ह्यधिरोप्य तस्मादुदानगत्योरसि तं नयेन्मुनिः।
ततोऽनुसन्धाय धिया मनस्वी स्वतालुमूलं शनकैर्नयेत ॥
तस्माद् भ्रुवोरन्तरमुन्नयेत निरुद्धसप्तायतनोऽनपेक्षः।
स्थित्वा मुहूर्तार्धमकुण्ठदृष्टिर्निर्भिद्य मूर्धन् विसृजेत्परं गतः ॥
भाग० २ २ २० २१

भी उनसे भिन्न है। यह भिन्नता भक्ति को प्रधानता देने के कारण है। भक्ति का सम्बन्ध भाव से होता है अतः भागवत् की समाधि को हम भाव समाधि ही कहना अधिक समुचित समझते है। तन्त्र में क्रिया विधि की प्रधानता तथा योग में ज्ञान तथा क्रिया की प्रधानता है और उपनिषद् में भी ज्ञान की महत्ता स्वीकार करते हुए मोक्ष या समाधि की अवस्था को प्राप्त करने का उपाय बताया गया है। यद्यपि योग में ईश्वर प्रणिधान या ईश्वर मे शरणागति[1] को भी स्थान दिया गया है परन्तु अन्त मे समाधि की प्राप्ति में शेष, ज्ञान की अवस्था ही रहती है। परन्तु भागवत् की समाधि भक्ति भाव से प्रारम्भ होकर उसी मे समाप्त भी होती है। भागवत् में ज्ञान भक्ति तथा कर्म का भी पूर्ण समन्वय मिलता है।[2] यम-नियम को ग्रहण करके भागवत, प्रवत्ति कर्म की प्रेरणा देता है[3] और योग के कलापूर्ण विधि अर्थात् प्राणायाम आदि की त्रिया द्वारा क्रियात्मक रूप मे निवृत्ति कर्म पर भी बल देता है, जिसमें भक्ति का प्रधान महत्त्व है।[4] क्योंकि केवल योग से अनुराग नही होता भागवत, योग साधना के अतिरिक्त प्रेम-योग को सर्वोपरि महत्त्व देता है। (कारण यह है कि जब तक साधक को योग मार्ग के द्वारा श्री कृष्ण कथामृत मे अनुराग नही होता, तब तक केवल योग साधना से उसका मोहजनित प्रमाद दूर नहीं होता, भ्रम नही मिटता।[5] सत्ता से चिर समागम होने तथा सतत् तारतम्य बना रहने मे ही भागवत् के साधक के समाधि की परम सफलता है। इस कोटि की समाधि भक्ति भाव के स्थिर बने रहने पर ही सम्भव है। इस अवस्था में साधक के हृदय-गुहा में सत्ता के विराजमान होते ही कालुष्य समाप्त होकर एकाकारता का स्वरूप हो जाता है।[6]

भागवत् की समाधि अनन्त प्रेममय भक्ति योग का ही रूप है। इसी

---

१. पातंजल योग—ईश्वरप्रणिधानाद्वा। १।२३।
२. भागवत्—११।२०।२४।
३. भागवत्–११।१९।३४–३५।
४. डॉ० सिद्धेश्वर भट्टाचार्य, द फिलासफी ऑफ भागवत्—द्वितीय भाग, पृष्ठ १०५।
५. भागवत्-तावन्न योगगतिभिर्यतिरप्रमत्तो
यावद्गदाग्रजकथासु रतिं न कुर्यात्। ४।२३।१२।
६. भागवत्—११।२०।२९–३०।

की प्राप्ति के लिए स्थूल (सगुण) स्वरूप का भी ध्यान करना है और यदि यह अवस्था प्राप्त हो चुकी है तो आसन से बैठकर प्राणों को जीत कर, इन्द्रियों का संयम कर, निर्मल बुद्धि से मन को नियमित कर तथा मन के साथ बुद्धि को क्षेत्रज्ञेम और क्षेत्रज्ञ को अन्तरात्मा मे लीन कर दिया जाता है।[१]

भक्ति-भाव के आधार पर चित्त का परम शुद्ध सत्ता की स्थिति मे उन्नयन कर देना ही भागवत् समाधि का चरम लक्ष्य है। इस कोटि पर पहुँचने की स्थिति को निर्बीज समाधि की सज्ञा मे कोई आपत्ति नही हो सकती।[२] इस प्रकार भागवत् समाधि में एक ओर उपनिषद् के ब्रह्म के साथ चित्त की एकलयता देखने को मिलती है, तो दूसरी ओर ईश्वर प्रणिधान, अभ्यास, वैराग्य आदि विधियो द्वारा आध्यात्मिक लक्ष्य पर पहुँचने के लिए योग का सहयोग मिलता है। इस दृष्टि से भागवत् के वैष्णव योग का लक्ष्य समन्वयात्मक रूप में वही एक ही है जिसको इसने समग्र रूप में प्राप्त किया है। इसकी विचित्रता इसी में है कि समान होते हुए भी भिन्न है। ज्ञान, भक्ति और कर्म का समुच्चय करते हुए भी इसमें भक्ति भाव को सर्वोपरि महत्त्व दिया गया है।[३] अतः भागवत् योग का उच्चतम लक्ष्य भाव समाधि ही है।

श्री रामकृष्ण की विभिन्न समाधि की दशाएँ

श्री रामकृष्ण के जीवन में धार्मिक मतों, साधनों तथा सिद्धान्तों का अद्भुत समन्वय हुआ है। हम देख चुके है उनकी विभिन्न साधनाओं को तथा उनसे प्राप्त उनकी स्थिति को भी। इन साधनाओं का ही प्रतिफल था कि उन्होंने अनेकता में एकता का दर्शन किया और बताया कि जितने पथ उतने मत, परन्तु लक्ष्य एक ही है। उस अन्तिम अवस्था की प्राप्ति के लिए और चरम् लक्ष्य की पूर्ति के लिए ही उन्होंने विभिन्न मार्गों से भी चलकर एक ही सत्य का दर्शन किया।

श्री रामकृष्ण के जीवन में सभी मतो से निर्णीत समाधि की अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं। उन्होंने सविकल्प, निर्विकल्प, स्थित, जड, उन्मना, पिपीलिका-

१. भागवत—२।२। १४, १७–१८।
२. डॉ० सिद्धेश्वर भट्टाचार्य, द फिलासफी ऑफ भागवत्, द्वितीय भाग, पृष्ठ १०३।
३. महेन्द्र नाथ सरकार, द मिस्टिकल एक्सपीरिएन्स एण्ड समाधि, पृष्ठ २६।

वत्, मीनवत्, कपिवत्, पक्षीवत्, तिर्यगवत् और भाव समाधि का बडा ही स्पष्ट अनुभवगम्य विवरण दिया है। क्योंकि वे समाधि की इन सभी विशेषताओं तथा लक्षणों को स्वतः देख चुके थे। समाधि की अवस्था में प्राप्त अनुभवों का वर्णन केवल उन्होंने ही नहीं किया है वरन् उनके अनुभवों को तत्कालीन विद्वानों तथा साधको द्वारा समर्थन भी मिला है। दूसरो के अनुमोदन से उनको अपने अनुभवों की सत्यता मे पूर्ण विश्वास हो जाता था। अत इससे हम यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि उनकी बातें मनगढत है।

समाधि की अवस्था के पश्चात् की दशा का विवरण देते हुए श्री रामकृष्ण ने कुछ प्रकार की समाधि का चित्रण इस प्रकार किया है:—'अच्छा, समाधि के बाद मेरी आत्मा महाकाश मे पक्षी की तरह उडती हुई घूमती है, ऐसी बात कोई-कोई कहते है। हृषीकेश का साधु आया था। उसने कहा 'समाधियाँ ५ प्रकार की होती है:—देखता हूँ तुम्हे तो सभी समाधियाँ होती हैं। पिपीलिकावत्, मीनवत्, कपिवत्, पक्षीवत्, तिर्यगवत् ।'

श्री रामकृष्ण न सभी अवस्थाओं का वर्णन, जिसका अनुभव उन्होंने स्वयं किया है, इस प्रकार करते है:—

"कभी वायु चढ़कर चींटी की तरह सुरसुराया करती है। कभी समाधि-अवस्था मे भाव-समुद्र के भीतर आत्मा रूपी मीन आनन्द से क्रीडा करता है।"

"कभी करवट बदल कर पडा हुआ हूँ, देखा, महावायु बन्दर की तरह मुझे ठेलकर आनन्द करती है। मैं चुपचाप पडा रहता हूँ। वही वायु एकाएक बन्दर की तरह उछलकर सहस्रार में चढ़ जाती है। इसीलिए तो मैं उछलकर खडा हो जाता हूँ।"

"फिर कभी पक्षी की तरह इस डाल से उस डाल पर, उस डाल से इस डाल पर महावायु चढती रहती हैं। जिस डाल पर बैठती है वह स्थान आग की तरह जान पडता है। कभी मूलाधार से स्वाधिष्ठान, स्वाधिष्ठान से हृदय और इस तरह क्रमशः सिर में चढ़ती है।"

"कभी महावायु की तिर्यक् गति होती है—टेढी-मेढ़ी चाल। उसी तरह चलकर अन्त में जब सिर में आती है तब समाधि होती है।"[1]

हठ योग की दैहिक विधियो को त्यागते हुए श्री रामकृष्ण ने शक्ति जागरण को ही मुख्य माना है। यह शक्ति कुण्डलिनी तत्त्व है।[2] कुण्डलिनी तत्त्व

१. श्री रामकृष्ण वचनामृत, तृतीय भाग, पृष्ठ २४८–२४९।

२. शिव संहिता, द्वितीय पटल, ३, तत्र विद्युल्लताकारा कुण्डली पर देवता सार्द्ध त्रिकरा कुटिला सुषुम्णा मार्ग संस्थिता।

का उद्बोधन तथा चक्र भेदन उनके भक्ति योग का प्रधान साधन है। उनका कहना है:—

"कुण्डलिनी के जागृत हुए बिना चैतन्य नहीं होता। कुण्डलिनी मूलाधार में रहती है। चैतन्य होने पर वह सुषुम्ना नाड़ी के भीतर से स्वाधिष्ठान, मणिपुर इन सब का भेदन करके अन्त में मस्तक में पहुँचती है। इसे ही महावायु कहते है। अन्त मे समाधि होती है।

"जब यह अवस्था हुई—उससे ठीक पहले मुझे दिखलाया गया किस तरह कुण्डलिनी शक्ति के जागृत होने पर क्रमश: सब पद्म खिलने लगे, और फिर समाधि हुई। यह बड़ी गुप्त बात है। मैंने देखा बिल्कुल मेरी तरह का बाइस-तेईस साल का एक युवक सुषुम्ना नाड़ी के भीतर जाकर जिह्वा के द्वारा योनि रूप पद्मों के साथ रमण कर रहा है। पहले गुह्य लिंग और नाभि-चतुर्दल, षड्दल और दशदल पद्म, पहले ये सब अधोमुख थे फिर वे उर्ध्वमुख हो गये।"

"जब वह हृदय में आया मुझे खूब याद है जीभ से रमण करने के बाद द्वादशदल अधोमुख पद्म उर्ध्वमुख होकर खिल गया, फिर कण्ठ में षोडषदल और कपाल मे द्विदल पद्म के खुलने के बाद सिर में सहस्रदल पद्म प्रस्फुटित हो गया तभी से मेरी यह अवस्था है।"[1]

श्री रामकृष्ण ने स्थित समाधि (निर्विकल्प) तथा उन्मना समाधि की स्थिति को भी प्राप्त किया है। उनका कथन है कि:—

"एक और है उन्मना समाधि। फैले हुए मन को एकाएक समेट लेना, यह समाधि देर तक नहीं रहती। विषय वासनाएं आकर समाधि-भंग कर देती है—योगी, योग-भ्रष्ट हो जाता है।"[2]

वेदान्त के पंचकोष के साथ यदि देखे तो भाव समाधि और निर्विकल्प अथवा जड समाधि का भी मेल देखने में मिलता है।

"स्थूल-शरीर अर्थात् अन्नमय और प्राणमय कोष।" सूक्ष्म शरीर अर्थात् मनोमय और विज्ञानमय कोष। कारण शरीर अर्थात् आनन्दमय कोष-महा-कारण पंचकोषो के परे है। महाकारण में जब मन लीन होता है तब समाधि होती है। श्री रामकृष्ण तथा चैतन्य की समाधि महाकारण में लीन होने पर

---

१. श्री रामकृष्ण वचनामृत—तृतीय भाग, पृष्ठ २४६–५०।
२. श्री रामकृष्ण वचनामृत—प्रथम भाग, पृष्ठ ५७६।

ही होती थी। परन्तु भक्ति-भाव के कारण प्रत्यावर्तन होता था और पुनः भक्ति-रस का पान करते थे।[1]

कुण्डलिनी तत्त्व का जागरण तथा षट् चक्र का भेदन समाधि के लिए परम आवश्यक है। परन्तु यह क्रिया बिना भक्ति भाव के सम्भव नहीं कही जा सकती। भक्ति की तीव्र व्याकुलता से ही इसका जागरण होता है और अन्त में भाव समाधि की चरम सीमा प्राप्त होती है। यद्यपि ज्ञान, भक्ति और कर्म सभी से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है, परन्तु "वे किस प्रकार स्वायत्त किए जा सकते है, यही प्रश्न का विषय है। मत्स्येन्द्र नाथ, गोरखनाथ प्रभृति हठयोग-प्रवर्तक नाथ आचार्यगण एवं आगम-विद्गण कहते हैं कि मूलाधार में प्रसुप्ता कुण्डलिनी शक्ति को उद्बुद्ध किए बिना कर्म, ज्ञान किंवा भक्ति आदि अन्य कोई भी साधन मुक्ति व अनर्थ-निवृत्ति के उपाय रूप में परिणत नहीं हो सकता। जो कर्म, ज्ञान व भक्ति कुण्डलिनी-शक्ति के जागरण में सहायता करे, वे ही यथार्थ में कर्म ज्ञान और भक्ति तथा कर्म योग, ज्ञान योग और भक्ति योग पद के वाच्य है।

कुण्डलिनी की निद्रा भंग हुए बिना आत्मा अथवा परमात्मा में स्थिति नहीं हो सकती। कुण्डलिनी जिस समय प्रबुद्ध होकर चिन्मयी होती है, उस समय समस्त विश्व भी चैतन्य धारण करता है। कुण्डलिनी का जागरण और 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'—इस श्रुति निष्ठ सर्वत्र ब्रह्म साक्षात्कार चैतन्यमयता के अनुभव की साधना सुतरां एक ही वस्तु है।"[1]

उपर्युक्त विचार से यह तो सिद्ध होता है कि समाधि या मुक्ति-प्राप्ति में शक्ति-जागरण परमावश्यक है, साथ ही यह भी विदित होता है कि इसे ज्ञान-भक्ति या कर्म-किसी से भी जागृत किया जा सकता है। परन्तु श्री रामकृष्ण ने तो भक्ति को ही कुण्डलिनी के जागरण का आधार माना है।[2] उनका कथन है कि "ज्ञान-ज्ञान कहने ही से कुछ थोड़े ही होता है। ज्ञान के दो लक्षण है। पहला है अनुराग अर्थात् ईश्वर को प्यार करना। केवल

---

१. डॉ० गोपीनाथ कविराज—भारतीय संस्कृति और साधना, पृष्ठ ३०२—३०४। योगिराज अरविन्द ने भी कुण्डलिनी शक्ति के जागरण का महत्व स्वीकार किया है।

२. प्रसिद्ध परामनोविज्ञान के पण्डित पाल गोल्डिन भी कुण्डलिनी के जागरण को स्वीकार करते है। उनके कथनानुसार इस शक्ति के जागरण पर मन का सम्बन्ध शरीर से हटकर अतीन्द्रिय अनुभवों से जुड़ जाता है। ब्लिट्ज ३ सितम्बर १९६६ पृष्ठ १७।

ज्ञान का विचार कर रहे हैं, परन्तु ईश्वर पर अनुराग नहीं है, प्यार नहीं है तो वह मिथ्या है। एक और लक्षण है—कुण्डलिनी शक्ति का जागरण। कुण्डलिनी जब तक सोती रहती है, तब तक ज्ञान नहीं होता। बैठे हुए पुस्तकें पढते जा रहे हैं, विचार कर रहे है, परन्तु भीतर व्याकुलता नहीं है, वह ज्ञान का लक्षण नहीं है। कुण्डलिनी शक्ति के जागने पर भाव-भक्ति और प्रेम यह सब होता है। इसे ही भक्ति-योग कहते है।"[१]

अब भाव समाधि के साथ वेदान्त की सप्तभूमि और शक्ति जागरण का समन्वय इस प्रकार देखा जा सकता है और साथ ही इस भाव समाधि मे शारीरिक तथा मानसिक स्थिति का भी दिग्दर्शन किया जा सकता है—

"वेदान्त की सप्तभूमि और योगशास्त्र के षट्चक्र आपस मे मिलते-जुलते है। वेद की प्रथम तीन भूमियाँ और योगशास्त्र के मूलाधार, स्वाधिष्ठान[२] तथा मणिपुर[३] चक्र इन तीन भूमियों में—गुह्य, लिंग तथा नाभि मे मन का निवास है। जिस समय मन चौथी भूमि पर अर्थात् अनाहत[४]-पद्म पर उठता है, उस समय ऐसा दर्शन होता है कि जीवात्मा शिखा की तरह देदीप्यमान है और उसे ज्योति का दर्शन होता है। साधक कह उठता है—यह क्या ? यह क्या ?

मन के पाँचवी भूमि में उठने पर केवल ईश्वर की ही बात सुनने की इच्छा होती है। यहाँ पर विशुद्ध चक्र[५] है। षष्ठ भूमि और आज्ञा[६] चक्र एक ही है। वहाँ पर मन के जाने से ईश्वर का दर्शन होता है। परन्तु वह उसी प्रकार होता है जिस प्रकार लालटेन के भीतर रोशनी रहती है—छू नहीं सकते, क्योंकि बीच में काँच रहता है।

"षट् चक्र भेद के बाद सप्तम भूमि है। मन वहाँ पर लीन हो जाता

---

१. श्री रामकृष्ण वचनामृत, द्वितीय भाग, पृष्ठ ४५८।

२. शिव संहिता, पंचम पटल, ७५।
द्वितीयंतु सरोजंच लिंगमूले व्यवस्थितम्।
बादिलातं च षड्वर्णं परिमास्वर षड्दलम्॥

३. वही, पंचम पटल, ७९।

४. वही, पंचम पटल, ८३—हृदयेऽनाहतं नाम चतुर्थं पंकजं भवेत्।

५. वही, पंचम ९०। कंठसंस्थानस्थितं पद्मं विशुद्धं नामपंचमम्।

६. वही, पंचम पटल, ९६—आज्ञापद्मं भ्रुवोर्मध्ये हक्षोपेतं द्विपत्रकम्।

है, जीवात्मा परमात्मा, एक हो समाधि हो जाती है। देह बुद्धि चली जाती है। बाह्य ज्ञान नहीं रहता। अनेकत्व का बोध नष्ट हो जाता है और विचार बन्द हो जाता है।"

"त्रैलिंग स्वामी ने कहा था, विचार करते समय अनेकता तथा विभिन्नता का बोध होता है। समाधि के बाद अन्त में इक्कीस दिन में मृत्यु हो जाती है।"[1]

सम्भवत: श्री रामकृष्ण ने इसीलिए तोतापुरी के निर्देशन में निर्विकल्प समाधि की स्थिति को प्राप्त करने के पश्चात् भक्ति भाव को लेकर ही रहना उचित समझा। क्योंकि समाधि से भी अहं का निशेष हो जाना उसी प्रकार सम्भव नहीं कहा जा सकता जिस प्रकार बरगद के काटने पर पुनः अंकुर का न उग जाना। अहंकार जाता है परन्तु एक दो का ही। इसीलिए भक्त अहंकार को दास का मैं, भक्त का मैं बनाकर रख छोड़ते है। श्री रामकृष्ण की यही स्थिति थी।[2] 'और मैं चीनी बन जाना नहीं चाहता, चीनी खाना ही मुझे अच्छा जान पड़ता है।' मेरी कभी यह इच्छा नहीं होती कि कहूँ 'मैं ही ब्रह्म हूँ' मैं तो कहता हूँ—'तुम भगवान् हो, मैं तुम्हारा दास हूँ' पाँचवी और छठी भूमि के बीच में चक्कर काटना अच्छा है। छठी भूमि को पार कर सप्तम भूमि में ज्यादा देर तक रहने की मेरी इच्छा नहीं होती। सेव्य-सेवक भाव बडा अच्छा है। और देखो ये तरगें गंगा की है, परन्तु तरंगों की गंगा है, ऐसा कोई नही कहता। मैं वही हूँ यह अभिज्ञान अच्छा नहीं।"[3]

ऐसी दशा में प्राप्त ईश्वर-दर्शन के लक्षण क्या हैं? इसके विषय में उनका कथन इस प्रकार है:—'जिसने ईश्वर को प्राप्त किया है, उसके कुछ लक्षण है। वह बालक की तरह, उन्मत्त की तरह, जड की तरह, पिशाच की तरह बन जाता है और उसे सच्चा अनुभव होता है कि 'मै यन्त्र हूँ और वे यन्त्री है। वे ही कर्ता है और सभी अकर्ता है।'[4]

---

१. चर्चा उनको सह्य नहीं। १०।४७।१८।
२. क्या इन्हें (समाधि) उन्मादिक अथवा स्कीजोफ्रेनिक कह सकते हैं?
३. श्री रामकृष्ण वचनामृत, प्रथम भाग, पृष्ठ १९१।
४. वही, पृष्ठ २५१–२५२।

हम पीछे देख चुके हैं[1] कि श्री रामकृष्ण किस प्रकार निर्विकल्प समाधि की स्थिति को प्राप्त कर पुनः भक्ति को लेकर ही रहने लगे और उस समय से उनको उद्दीपन मात्र से भाव की उत्पत्ति होते ही भाव समाधि हुआ करती थी। ऐसी स्थिति में बाह्य ज्ञान शून्य हो जाते थे। आँखें बन्द तथा चेतना शून्य जान पड़ते थे। कभी भाव में विह्वल होकर वार्तालाप करते थे। इसमें अतिशयोक्ति नहीं कि भक्ति साधना की यह सर्वोच्च अवस्था कही जा सकती है। क्योंकि 'भाव देह में भाव साधना के परिपक्व होने पर भाव के पूर्ण परिपाक-वश प्रेम का उदय होता है। भाव के तुल्य प्रेम की भी पूर्णता आवश्यक है।[2]

क्या इन्हें (समाधि) उन्मादिक अथवा स्कीजोफ्रेनिक कह सकते हैं ?

समाधि के उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यह एक अवस्था है और इस अवस्था को मनः कल्पित न कह कर एक ठोस स्वरूप प्रदान किया जा सकता है। इस अवस्था के मूल तत्त्वों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि आध्यात्मिक तत्त्व के विषय में चित्त स्थिर करना ही समाधि की अवस्था है।

चित्त का केन्द्रीकरण, मनन या भाव चिंतन, अन्त में पूर्णलीनता या योग स्थापित कर लेना ही समाधि की विशेषता है।[3]

इस अवस्था मे शारीरिक क्रियाओं का वैराग्य पूर्वक अवरोध होना, चित्त की आध्यात्मिकता में स्थिरता, वांछित फल की प्राप्ति, अलौकिक ज्ञान और शक्ति का विकास, तथा निवृत्ति का उत्कर्ष और अवतरण के बाद प्रवृत्ति-निवृत्ति का समन्वय होना देखा जाता है।

'इस अवस्था को प्राप्त हुआ पुरुष शारीरिक क्रिया करने के योग्य नहीं रह जाता। पूर्णत्व मे विलीन होने के लिए शारीरिक निष्क्रियता पहली दशा

१. अध्याय ५ और ६।
२. गोपीनाथ कविराज, भारतीय संस्कृति और साधना, पृष्ठ ४४२।
३. वामन शिवराम आप्टे, संस्कृत हिन्दी कोष—
समाधि :—सम्+आ+धा+कि : संग्रह करना, स्वस्थ करना) (मन को) एकाग्र करना, भाव चिन्तन किसी एक विषय पर मन को केन्द्रित करना, ब्रह्म चिन्तन में पूर्ण लीनता अर्थात् (योग की आठवीं और अन्तिम अवस्था)।

है। इसके पश्चात् ऐसी दशा की प्राप्ति होती है जिसकी समानता मूर्च्छा से हो सकती है। यह शारीरिक असंवेदनशीलता एवं निश्चलता के कारण ही होती है। बहुधा साँस का रुक जाना—(परन्तु शरीर पर कोई घातक प्रभाव न पड़ना) पाया जाता है। विज्ञान के लिए यह परिवर्तन चमत्कार है और स्वाँस का रुद्ध होना मृत्यु। परन्तु समाधि की अवस्था में स्वाँस का रुक जाना मिनट ही नहीं घण्टों तक में नापा जा सकता है।[1]

समाधि की इस अवस्था के पश्चात् समाधिस्थ पुरुष जब सामान्य चेतना की अवस्था में आता है तो उसे अतीव आनन्द तथा आत्म प्रकाश का अनुभव होता है। वह नृत्य, गान तथा अश्रुपात भी करता है। भाव की अवस्था में आनन्द लेता है। ज्ञान की अवस्था में वह आनन्द प्रकट नहीं होता। परन्तु भावावस्था में बाह्य रूप में प्रकट होता ही है।[2]

समाधि के कुछ लक्षण इस रूप में भी मिलते हैं कि सतत् रूप में अतीन्द्रिय आनन्दातिरेक में रमण करते हुए या सहज समाधि में लीन होते हुए भी बहुत से साधक भौतिक शरीर से सक्रिय रहते थे। बोलना भोजन करना, चलना-फिरना आदि सभी क्रियाएँ सहज समाधि में रहते हुए भी करते थे। विशेषता यह कि क्षण भर के लिए भी उस उच्चावस्था से नीचे नहीं उतरते थे।[3]

समाधि—अवस्था की इन सभी शारीरिक तथा मानसिक विशेषताओं को देखते हुए कुछ पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों तथा विचारकों ने इसकी पर्याप्त आलोचनाएँ की हैं। उनकी दृष्टि में समाधि और कुछ नहीं एक असामान्य अवस्था है। यह अवस्था उन्मादिक मूर्च्छा या सीजोफ्रेनिक दशा का एक उदाहरण कहा जा सकता है। युग ने समाधि में और कुछ नहीं एक अर्ध-

---

१. मौनी साधु, समाधि, पृष्ठ १७२।
२. वही, पृष्ठ १७३।
३. वही, पृष्ठ १७२।
इस अद्भुत अवस्था का वर्णन भी रमन महर्षि के जीवन में मिलता है, जो सदैव सहज समाधि में रहते थे। यह उनके आत्मानुभूति की सहज तथा सतत् क्रिया थी। उनका सम्बन्ध सत्ता से बिना किसी बाधा के सदैव ही बना रहता था।
अक्षरज्ञ—श्री रमन, द सँग ऑफ अरुणागिरि, पृष्ठ ३८।

हीन स्वप्नावस्था देखा है।[1] किसी ने इसको सम्मोहित अवस्था माना है जिसका सम्मोहन कर्ता स्वयं साधक होता है। ल्यूबा ने इस अवस्था को हर्षोन्माद की एक अवस्था मानी है, जो असामान्यता का एक चिह्न है। उनके कथनानुसार इस निष्क्रिय अवस्था में शारीरिक तथा मानसिक क्रियाएँ अवरुद्ध हो जाती है जिससे एक प्रकार की तन्द्रापूर्ण निद्रा की अवस्था हो जाती है। परन्तु जब इसका अभ्यास ईश्वर के साथ समागम करने के लिए किया जाने लगता है तब वह उन्मादपूर्ण मूर्छा के रूप मे परिवर्तित हो जाती है। इसमे साधक के विचार प्रक्षेपित किए जाते है। अत यह एक आत्म निर्देशन तथा प्रक्षेपण की क्रिया है इसकी उत्पत्ति मे शारीरिक कारणों का महत्त्वपूर्ण स्थान है।[2]

धर्म पर चिकित्सिक भौतिक वादियों द्वारा यह आक्षेप किया जाता है कि धर्म एक स्व उन्माद की क्रिया है, जो शरीर के अन्दर के कुछ ग्रन्थियों तथा नाड़ी-तन्त्र की क्रिया में गड़बड़ी के कारण उपस्थित होती है, जिसे हम असाधारण मनोविज्ञान के अनुभव की स्थिति कह सकते है। और इस स्थिति मे साधक बहुधा समाविस्थ जैसे रहते है, रहस्यमय शब्द सुनते है और रहस्यमय आभास उन्हे होते है। इन सभी लक्षणों को हम साधारणतया रोग निदान शास्त्र के क्षेत्र में रख सकते है।[3]

पर्यालोचना

रहस्यवादियो के जीवन तथा उनकी उपलब्धियो को देखकर तो हम यही कह सकते है कि इस प्रकार की सूक्ष्म उपलब्धियाँ साधारण मानवों के अनुभव का विषय नही हो सकती। प्राचीन बाइबिल में मूसा, एलजाह तथा इसाह, न्यू टेस्टामेन्ट में क्राइस्ट, सेन्ट पाल तथा सेन्ट जॉन की तथा मुहम्मद साहब बुद्ध, प्लेटो, प्लोटिनस, सेन्ट टेरेसा, बरनार्ड, एखार्ट, चैतन्य और श्री रामकृष्ण प्रभृति रहस्यवादियो की धार्मिक अनुभूति की स्थिति को मनोविकृति शास्त्रज्ञों के दृष्टिकोण से नाड़ी-तन्त्र का रोग माना जा सकता है। परन्तु इनका अध्ययन वैज्ञानिक होते हुए भी सीमित जान पड़ता है। क्योंकि विज्ञान शरीर तथा मन के अध्ययन तक ही सीमित है। मानव व्यक्तित्व के अन्तर्निहित सम्भा-

---

१. युंग—इन्टेग्रेशन ऑफ पर्सनालिटी, पृष्ठ २६।
२. जेम्स एच० ल्यूबा—द साइकालॉजी ऑफ रिलीजस मिस्टिसिज्म, पृष्ठ १६६
३. जेम्स—द वैराइटीज ऑफ रिलीजस एक्सपीरियन्स, पृष्ठ ८-१५।

व्यता तक सीमाओं के कारण उनकी पहुँच नहीं हो सकती। दूसरी ओर परामनोविज्ञान के अन्वेषणों के परिणामस्वरूप जो व्यक्तित्व सम्बन्धी तथ्य ज्ञात हो सके हैं, उनके अनुसार स्थूल शरीर के अतिरिक्त सूक्ष्म तथा कारण शरीर का भी उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार पूर्ण व्यक्तित्व का उल्लेख उपनिषदों में भी मिलता है। मनस् के परे विज्ञानमय तथा आनन्दमय कोष का वर्णन मिलता है। साधारण मनुष्य को केवल अन्नमय, प्राणमय तथा मनोमय कोष तक का ही ज्ञान सम्भव है। इसके परे का ज्ञान योग साधना के द्वारा ही सम्भव कहा जा सकता है—जिसकी अन्तिम गति समाधि जैसी उच्चावस्था है। मनस् केवल ज्ञान, भाव और क्रिया तक ही सीमित हैं। इसके परे विज्ञान है जो मन को निर्देशन देता है और इसके भी परे आनन्दमय कोष है जिससे विज्ञानमय कोष भी शक्ति ग्रहण करता है। रहस्यवादी इसी अन्तिम अवस्था का प्रत्यक्ष करता है। उसका प्रत्यक्ष मनस् का प्रत्यक्ष न होकर अतिमनस् का प्रत्यक्ष कहा जा सकता है। सम्भवत यही कारण है कि मनोवैज्ञानिक मनस् को जहाँ तक समझ सके हैं व्यक्तित्व की अन्य शक्तियों की भी व्याख्या उसी ज्ञान के आधार पर ही करने का प्रयास करते हैं। फ्रायड प्रभृति मनोवैज्ञानिक यदि स्थूल शरीर के चेतन एव अचेतन मनस् तक के ही अध्ययन तक सीमित है और उसमे 'मानव-पशु' से कुछ अधिक नही पाते तो हमारे दृष्टिकोण से वे उचित ही है। क्योंकि इस मानव व्यक्तित्व में तो वे कर्ता, भोक्ता और ज्ञाता (ऐन्द्रियिक ज्ञान) के ही गुण पाते है, जो पशु में भी हैं। इससे अधिक उनको क्या मिल भी सकता है? परन्तु रहस्यवादियों के अतिमानसिक अनुभव मनोवैज्ञानिकों के स्थूल शरीर के अनुभवों से भिन्न जान पडते है। ऐसी दशा में जब कि उस अवस्था तक उनकी पहुँच ही नही है, उन रहस्यवादियों की अनुभूतियो को रोगजनित कहना उचित नही जान पडता।

अतः समाधि के सम्बन्ध में पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों के द्वारा किए गए आक्षेपो के उत्तर में हम निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत कर सकते है:—

प्रथम—पूर्ण मनुष्य स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर में न होकर आध्यात्मिक शरीर मे है। यदि मनोवैज्ञानिक की पहुँच आध्यात्मिक शरीर तक नही हो सकती तो समाधि जैसे अतीन्द्रिय अनुभवों को रोगजनित कहना उचित नही जान पडता।

---

१ तैत्तिरीय उपनिषद २।१-३।१, ४।१-५।१।

दूसरा—मनोविज्ञान मुख्य रूप से सावेगिक तथा आंशिक रूप में मानसिक क्षेत्र का अध्ययन करता है परन्तु समाधि इन दोनों स्थितियों से परे की अवस्था होती है। इसका ज्ञान तब तक सम्भव नही कहा जा सकता जब तक कि अनुभव न हो और इसके अभाव में अधिकारिक रूप मे इसके विषय की व्याख्या भी सम्भव नही हो सकती।

तीसरा—मनोवैज्ञानिक ज्ञान सामान्य मनुष्य के ज्ञान तक ही सीमित है। वह ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी में एकता स्थापित नहीं कर सकता जबकि समाधि मे ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय की एकाकारता सर्वोपरि है। लौकिक ज्ञान सापेक्ष है और अतीन्द्रिय ज्ञान निरपेक्ष। अत. इस विरोध को दूर करने का साधन मनोविज्ञान के पास नही है।

चौथा—मनोवैज्ञानिक किसी की मानसिक (स्थिति का ज्ञान उसके बाह्य व्यवहार को देखकर तथा तुलना स्थापित करके ही प्राप्त कर सकता है। वह दूसरों की मानसिक स्थिति को साक्षात् रूप से जानकारी प्राप्त करने मे असमर्थ है। ऐसी दशा मे रहस्यवादी द्वारा प्रत्यक्ष रूप मे प्राप्त की गई समाधि की स्थिति को मनोवैज्ञानिक, अप्रत्यक्ष साधनो के द्वारा समझने के कारण गलत समझ सकते है।

पांचवा—मनोवैज्ञानिक ज्ञान सापेक्ष होते हैं, जबकि सापेक्ष वस्तु जगत् का ज्ञान और समाधि दोनों पूर्णतया भिन्न श्रेणी के हैं। अत' सापेक्ष ज्ञान के आधार पर निरपेक्ष ज्ञान को समझने का प्रयास असम्भव है।

अन्तस चेतना सतत् प्रवहमान है। उसका प्रकटीकरण भी सतत् है। मनोविज्ञान उसी प्रकटीकरण का अध्ययन करता है। जिस प्रकार पानी और पानी का बुलबुला। मनोवैज्ञानिक अध्ययन पानी के बुलबुले के अध्ययन के समान है। समाधि बाह्य प्रकटीकरण की अवस्था नहीं है। यह तो अतीन्द्रिय अलौकिक सतत् चिरन्तन तथा अनन्त का स्वरूप है। फल नही मूल है। इसके लिए पर्याप्त दीक्षा और विधि की आवश्यकता है, जो मनोवैज्ञानिक के पास नहीं सद्गुरु तथा महापुरुषों से प्राप्त हो सकता है।[1]

मनोविकृति शास्त्रज्ञो के अनुसार समाधि की अवस्था असामान्य तथा विकृत मस्तिष्क की अवस्था ही मानी जाती रही है। इसमें सन्देह नहीं कि अतिमानस की यह अनुभूति साधारण मनुष्य के अनुभव के परे है परन्तु इसका अर्थ यह भी नही कि जो इस अनुभूति को प्राप्त करता है वह असामान्य या विकृति

१. मौनी साधु, समाधि, पृष्ठ ३२–३४।

मस्तिष्क वाला होगा। इस अवस्था की अनुभूति को हमे साधारण तथा निम्न सिद्धियों तथा चमत्कारों के साथ नही गड़बड़ा देना चाहिए। क्योंकि उनसे हम किसी सत्ता या ईश्वर तक पहुँचने का प्रयास न करके निम्न स्तर के सिद्धियों तथा अलौकिक दर्शनों तक ही रह जाते है। परन्तु अतिमानस की अवस्था तो साधक को अन्तिम सत्ता या ईश्वर की अनुभूति तक ले जाती है। ऐसा साधक सामान्य तथा असामान्य दोनों के परे होता है। अतः ईश्वरानुभूति न तो असामान्य की अवस्था है और मन की विकृति ही। इन महापुरुषों को न तो हम सामान्य ही कह सकते है न असामान्य। इनको अति सामान्य ही कहना उचित ज्ञात होता है। क्योंकि असामान्य व्यक्तियो में हम देखते है कि उनका व्यक्तित्व विघटित होता है, उनका सावेगिक जीवन अस्त-व्यस्त, बुद्धि तथा सवेग असमायोजित तथा उनकी क्रियाएँ निराशाजनक तथा असन्तुलित होती हैं। अन्ततोगत्वा असामान्य व्यक्ति सामान्य से प्रत्येक अर्थ में निम्न कोटि का होता है। दूसरी ओर अति सामान्य पुरुष अथवा सत्ता से अभिभूत रहस्यवादी का मन पूर्ण रूप से सगठित होता है। उसके संवेग नियंन्त्रित होते है तथा उसकी बुद्धि, सवेग तथा संकल्प-शक्ति में पूर्ण समन्वय होता है। वास्तव में ऐसा व्यक्ति जिसका मस्तिष्क नियन्त्रित तथा मर्यादित नही है वह कभी भी अातिमानसिक अनुभूति का पात्र नहीं हो सकता। योग ने इसीलिए कहा है—'योगश्चित्तवृत्ति निरोध'।'

इस प्रकार के अनुशासन, नियंत्रित तथा मानसिक संयमन के लिए ईसाई सन्तों ने भी पूर्ण रूप से बल दिया है। थामस एक्विवास, सैन्ट टेरेसा, ब्रदर लारेंस[1] प्रभृति सन्तों ने बुद्धि की परिपक्वता, आचार की विशुद्धता तथा अनुशासन की पूर्णता पर विशेष बल दिया है।

मनोवैज्ञानिको का यह आक्षेप है कि समाधि अवस्था के अनुभव अपस्मार (मृगी) से उत्पन्न मूर्च्छा के रूप में होते हैं और यह मन तथा शरीर की विकृति मात्र है। इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि अपस्मार के रोगी चेतना शून्य होते हैं और मूर्च्छा के पश्चात् उनका सम्पूर्ण नाड़ी-तन्त्र और मस्तिष्क बिना प्रभावित हुए नही रहते। उनमे निर्बलता अवश्य आ जाती है और यह भी निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उनको मूर्च्छा के पश्चात् किसी नवीन ज्ञान की प्राप्ति कदापि नही होती। उनकी दशा नशा के पश्चात् होने

---

१ ब्रदर लारेन्स—द प्रैक्टिस ऑफ द प्रजेन्स ऑफ गॉड, पृष्ठ ३२-३५

वाली खुमारी के समान ही होती है। परन्तु दूसरी ओर समाधि अवस्था को प्राप्त पुरुष जो पहले साधारण रूप में दृष्टिगोचर होता है, इस अवस्था के बाद महान् बनकर हमारे समक्ष आता है। उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व महानता के गुणो से विभूषित् दृष्टिगत होता है। उसके सवेग नियत्रित होते है वह अपने का स्वराट होता है। उसकी सकल्प-शक्ति में गतिशीलता होती है, वह वैयक्तिक स्वतन्त्रता का पूर्ण पुजारी होता है, वासनाओ और निम्न कोटि की इच्छाओ मे विवश नही होता। अपनी दृढता पर उसे विश्वास होता है और सफलता की प्राप्ति करता है। वह उस ज्ञान को प्राप्त होता है जो उसे पहले लभ्य नही था। अपस्मार जनित निद्रा या मूर्च्छा के पश्चात् तथा समाधि या ज्ञानातीत अवस्था के पश्चात् क्या दशा होती है ? इन दोनो मे क्या अन्तर है ? यह स्वामी विवेकानन्द के इस कथन से समझा जा सकता है—"कौन ज्ञानभूति के निम्न देश मे और कौन उर्ध्व देश मे गया" इसका निर्णय फल देखने पर ही हो सकता है। जब कोई गहरी नीद में सोया रहता है, तब वह ज्ञान की निम्न भूमि मे चला जाता है। तब वह अज्ञात भाव से ही शरीर की सारी क्रियाएँ श्वास-प्रश्वास, यहाँ तक कि शरीर-सचालन-क्रिया भी करता रहता है, तब वह अज्ञान से ढका रहता है, उसके इन सब कार्यों मे 'अह' भाव रहता है। वह जब नीद से उठता है, तब वह सोने के पहले जैसा था, वैसा ही रहता है, उसमे कुछ भी परिवर्तन नहीं होता। उसमे सोने के पहले उसकी जो ज्ञान समष्टि थी, नीद टूटने के बाद भी ठीक वही रहती है, उसमे कुछ भी वृद्धि नही होती। उसके हृदय मे कोई नया तत्त्व प्रकाशित नही होता। किन्तु जब मनुष्य समाधिस्थ होता है, तो समाधि प्राप्त करने के पहले यदि वह महामूर्ख रहा हो, अज्ञानी रहा हो तो समाधि से वह महाज्ञानी होकर नीचे आता है।

दोनो अवस्थाओ के ये दो विभिन्न फल हैं। अब बात यह है कि फल अलग-अलग होने पर कारण भी अवश्य अलग-अलग होगा। और चूंकि समाधि अवस्था से लब्ध यह ज्ञानालोक, अज्ञानावस्था से लौटने के बाद की अवस्था मे जो ज्ञान प्राप्त होता है अथवा साधारण ज्ञानावस्था मे युक्ति विचार द्वारा जो ज्ञान उपलब्ध होता है, उन दोनो से अत्यन्त उच्चतर है, इसलिए अवश्य वह (रहस्यवादी) ज्ञानातीत भूमि से आता है।'

समाधिस्थ पुरुष के जीवन की परिणति को देखकर मनोवैज्ञानिकों के इस

---

१. विवेकानन्द, राजयोग, पृष्ठ ६२–६३।

आक्षेप को भी कैसे स्वीकार किया जा सकता है कि उनकी अवस्था केवल प्रक्षेपण, आत्म निर्देशन एव काल्पनिक होती है। सन्तो के व्यावहारिक तथा सामाजिक मूल्यों की तुलना क्या बचपन के काल्पनिक क्रियाकलापों के साथ की जा सकती है ? महापुरुषों के जीवन का प्रभाव विभिन्न कालों और स्थानो पर जो अमिट रूप में अब भी अवशिष्ट है क्या उसे उनकी कल्पना मात्र कहा जा सकता है ? उनके द्वारा प्रदत्त स्वातन्त्र्य प्रेम, विश्वबन्धुत्व तथा समानता की व्याख्या क्या पागलपन की देन कहकर की जा सकती है ?[1] इन सभी आक्षेपो का उत्तर कारण और तज्जनितफल के आधार पर ही दिया जा सकता है। यदि कारण गलत है तो उसका फल भी अवश्य दूषित होगा। फल की दृष्टि से अपस्मार के रोगी द्वारा मानवीय मूल्यों या सृजनात्मक तत्त्वों मे कोई वृद्धि नहीं देखी जाती, परन्तु समाधिस्थ रहस्यवादी द्वारा मानवता के लिए महान् मूल्यो और सृजनात्मक तत्त्वो का उद्भावन होता है। अत. समाधि को अचेतन या रोग की अवस्था नही कहा जा सकता। समाधि के अनुभव को अवस्तुबोधन (हेल्युसिनेशन) भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसे विशिष्ट अनुशासन तथा नियमों के द्वारा साधक तथ्य के रूप मे प्राप्त करता है। उन नियमों के पालन से कोई भी उस तथ्य को प्राप्त कर सकता है। इस अवस्था को पूर्ण रूप में समझने पर हम उसकी उपेक्षा नही कर सकते।[2]

समाधि अवस्था को अचेतन की दशा मानने वाले इस आधार पर नहीं पहुंच सके है कि यह अवस्था बिल्कुल स्पष्ट तथा निश्चित होती है। युंग ने अचेतन का आरोपण इस महाचैतन्य (समाधि) पर भी किया है। परन्तु यहाँ ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान का तथा दृष्टि, द्रष्टा तथा दृश्य का पूर्ण समागम उसी प्रकार हो जाता है जैसे सूर्य नेत्र तथा दृश्य का। अह के नष्ट होने का अर्थ अचेतन नही कहा जा सकता। इस अवस्था मे अह से सर्वोपरि उच्चावस्था होती है जहाँ अति सामान्य चेतना का ही राज्य रहता है। कोई मानसिक कल्पना नही है। अह-इद एक हो जाते है। इसे अचेतन की सज्ञा नही दे सकते।[3]

यदि समाधि की अवस्था को अचेतन अवस्था माने तो हम देखते है कि अचेतन के कारण तो मानव जीवन तथा व्यवहार मे बहुत सी व्याधियाँ, तनाव,

---

१. अखिलानन्द—हिन्दू साइकालॉजी, पृष्ठ १६१।

२. डॉ० बी० एल० आत्रेय—फ्रेगमेन्टरी कान्सेप्ट्स ऑफ मैन, दर्शन-इन्टर-नेशनल, अगस्त १९६३, पृष्ठ ४२।

३ जेकाब हेन्स—वेस्टर्न एण्ड हिन्दू साधना, पृष्ठ ९६।

कष्ट तथा रोग उत्पन्न होते है। परन्तु समाधि की अतिचेतना की स्थिति में तो व्यक्ति प्रकाशमान हो उठता है।[1] वह अपने भूत भविष्य तथा वर्तमान का ज्ञाता होता है। वह अपनी अचेतना अवस्था को जान लेने के कारण ही उसकी कठिनाइयो का निराकरण कर लेता है, उसमें आबद्ध नही हो पाता। बिना अचेतन के नियन्त्रण के तो समाधि की स्थिति में कोई पहुँच ही नही सकता। अत' ये दोनों अवस्थाएँ एक दूसरे से नितान्त भिन्न हैं। एक चेतना के निम्न स्तर में है और दूसरी उसके ऊपर की अवस्था है।[2]

श्री रामकृष्ण के जीवन में हम विभिन्न प्रकार की समाधि की अवस्थाओं का दर्शन करते है। परन्तु जैसा उन्होंने स्वयं कहा है शरीर को बचे रहने के लिए भक्ति-मार्ग में रहकर भाव-समाधि मे ही वे अधिकतर डूबे रहते थे। उनकी इस अवस्था को देखकर समकालीन कुछ प्रमुख व्यक्ति तथा उनके हितैष्ट भी उनको पागल समझा करते थे, परन्तु यदि श्री रामकृष्ण वास्तव मे पागल ही होते तो आज का युग एक बहुत बड़े आदर्श से अछूता रहता और वर्तमान भारतीय सस्कृति का क्या रूप होता तथा पाश्चात्य जगत् में भारतीय संस्कृति तथा धर्म के प्रति आज क्या मनोवृत्ति होती, नहीं कहा जा सकता।

श्री रामकृष्ण मे समाधि की अवस्था का दिग्दर्शन बचपन से ही मिलता है। बचपन में उनको तीन बार समाधि की अवस्था प्राप्त हुई थी। प्रथम छः वर्ष की ही अवस्था मे जबकि मैदान में हरे-भरे खेतों के बीच के मार्ग से जा रहे थे तथा आकाश में बगुल-पंक्ति को देखकर सौन्दर्याभिभूत हो उठे थे। दूसरी बार विशालाक्षी देवी के दर्शन के लिए जाते समय उनके विषय मे चिन्तन करते-करते मार्ग में समाधि की स्थिति उत्पन्न हो गई थी और तीसरी बार शिव के नाटक मे शिव का वेश धारण करते ही समाधिस्थ हो गए थे। यद्यपि इस अवस्था को देखकर मूर्च्छा रोग समझ कर दवा भी हुई परन्तु स्थिति कुछ और ही थी। पूर्ण स्वस्थ बालक किसी रोग से पीडित नही था। बचपन की इन तीनों समाधियों में कुछ लोग अन्तर करते हुए मत प्रकट करते है कि प्रथम समाधि प्राकृतिक सौन्दर्य से अभिभूत होने और अधिक संवेदनशील होने के कारण हुई थी तथा अन्तिम दोनों का कारण सत्ता का चिन्तन रहा होगा। परन्तु वास्तविक बात तो यह जान पड़ती है कि महापुरुषो के जीवन में ऐसे

---

१. डॉ० हरद्वारी लाल शर्मा—द सुपर कान्सस, वेदान्त फार ईस्ट एण्ड वेस्ट ८९, मई, जून १९६६, पृष्ठ १६।

२ हिन्दू , पृष्ठ १६९ १७०

लक्षण किसी वाह्य कारण से ही उत्पन्न नही होते। वरन् ऐसे रहस्यवादियों का समाधि मे प्रविष्ट होना उतना ही स्वाभाविक है जितना कि साधारण मनुष्य के लिए मैथुन, निद्रा, हँसना और रोना आदि कार्यों में प्रवृत्त होना। उनके अलौकिक गुण स्थायी रूप से उनके संस्कार में संचित रहते है। ऐसे महापुरुषो के अद्भुत गुण इन संस्कारजनित गुणो से ही विश्लेषित किये जा सकते है क्योंकि उनको पूर्व जन्म के योगाभ्यास विषयक संस्कारों के प्रभाव से अपनी स्थिति का तत्काल ज्ञान हो जाता है। इसी को गीता ने 'अनेक जन्म संसिद्ध.'[1] कहा है।

ऐसे महापुरुषो मे बचपन से ही प्राप्त इस स्थिति को किस प्रकार रोग-जनित कहा जा सकता है, जबकि उनको एक अलौकिक तथा आनन्दपूर्ण स्थिति का ज्ञान बाद तक बना रहा है। श्री रामकृष्ण की उस समय की स्थिति उनके ही मुख से इस प्रकार रही है—"मै दस-ग्यारह वर्ष की उम्र में, जब मैं उस देश में था उस समय वह स्थिति-समाधि की स्थिति प्राप्त हुई थी। मैदान मे से जाते-जाते जो कुछ देखा उससे मै विह्वल हो पड़ा था। ईश्वर-दर्शन के कुछ लक्षण है—ज्योति देखने मे आती है, आनन्द होता है, हृदय के बीच मे गुर-गुर करके महावायु उठती है[2] (शक्ति का जागरण होता है)।'

यदि बचपन की वह अवस्था रोगजनित होती तो श्री रामकृष्ण यह न कहते कि वह आनन्द की विह्वलता की अवस्था थी, तथा बाद मे एक नया परिवर्तन हो जाता। दूसरे स्थल पर उनका कथन है कि—'जब मैं बच्चा था, उस समय मेरे भीतर उनका आविर्भाव हुआ था। उम्र ग्यारह साल की थी। मैदान मे एक विचित्र तरह का दर्शन हुआ। सब कहते थे, मै उस समय बेहोश हो गया था। कोई भी अग हिलता-डुलता न था। उसी दिन से मै एक दूसरी तरह का हो गया। अपने भीतर एक दूसरे व्यक्ति को देखने लगा।'

श्री रामकृष्ण की उक्ति से यह सिद्ध होता है कि उनकी बचपन मे ही उत्पन्न समाधि रोग जनित नहीं थी। उनकी बचपन की यह क्षमता क्रमशः बढने लगी और साधना के पश्चात् स्थायी रूप में समाधि की यह स्थिति प्राप्त की। उन्होने छः माह तक निर्विकल्प समाधि की स्थिति भी व्यतीत की। परन्तु बाद मे भाव-समाधि मे ही रहना उचित समझा। उनके कथनानुसार[3]

---

१. गीता—६।४२-४३।

२. श्री रामकृष्ण वचनामृत, प्रथम भाग, पृष्ठ १६६।

३. श्री रामकृष्ण वचनामृत, भाग ३, पृष्ठ ३६०।

उच्चतम निर्विकल्प अथवा जड समाधि को प्राप्त कर लेने के पश्चात् प्राय आत्मज्ञ पुरुष विद्या या भक्ति का अह-लोक-शिक्षा हेतु रख छोड़ते है। उसी प्रकार उनका भक्ति-भाव में रहने का उद्देश्य वैसा ही प्रतीत होता है। अन्यथा निर्विकल्प समाधि में अधिक समय तक रहा नहीं जा सकता और न तो ऐसी दशा मे शरीर-रक्षा ही हो सकती है। श्री रामकृष्ण ने स्वत अपनी अवस्था के विषय में ऐसा तार्किक उत्तर दिया है, जिससे यह ज्ञात होता है कि इस अवस्था को प्राप्त हुआ रहस्यवादी पागल या उन्माद की श्रेणी में नही रखा जा सकता। उनका कथन है कि—

'जिसे ईश्वर के दर्शन हुए होंगे उसका स्वभाव बालक की तरह का हो जायगा। वह त्रिगुणातीत हो जाता है। किसी गुण को गाँठ मे नही बाँधता, शुचि और अशुचि भी उसके पास बराबर है। इसीलिए वह पिशाचवत् है, और पागल की तरह कभी हँसता है, कभी रोता है। देखते ही देखते बाबूओं की तरह सजावट कर लेता है और फिर सब कपडे बगल में दबाकर बिल्कुल नंगा होकर घूमता है, इस तरह उन्मत्तवत् हो जाता है। और कभी यही है कि जड की तरह चुपचाप कहीं बैठा हुआ है, इसीलिए जडवत्।''[1]

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वह पागल की तरह समाज के लिए हानिप्रद है। उसके ज्ञान का भाण्डार अक्षय होता है। 'उनकी कृपा होने पर फिर ज्ञान की कमी नही रहती। देखो न, मैं तो मूर्ख हूँ कुछ भी नही जानता, परन्तु ये सब बाते कौन कहता है? फिर इस ज्ञान का भण्डार अक्षय है'।

"मेरी अवस्था के सम्बन्ध मे क्या सोचते हो। यदि इसे ढोंग समझते हो तो मै कहूँगा कि तुम्हारा साइन्स-वाइन्स सब खाक् है।''[2]

"मुझे जो अवस्था होती है (समाधि अवस्था) इसे कोई-कोई रोग कहते है।[3] इसर मेरा कहना यह है कि जिसके चैतन्य से जगत् चैतन्यमय है उसकी चिन्ता कर कोई अचैतन्य कैसे हो सकता है?''[4]

यह सत्य भी है कि दैनिक जीवन में कलुषित वासनाओं, ईर्ष्या, मोह और विषाद आदि की स्थिति में रहकर, उसी की चिन्ता में निमग्न होकर यदि

---

१. श्री रामकृष्ण वचनामृत, भाग २, पृष्ठ १५३।
२. श्री रामकृष्ण वचनामृत, तृतीय भाग, पृष्ठ ३६०—३६१।
३. श्री शिवनाथ शास्त्री ने श्री रामकृष्ण को पागल कहा था। उनका कहना था कि अधिक ईश्वर-ईश्वर कहने से मनुष्य पागल (बेहेड) हो जाता है
४. श्री रामकृष्ण वचनामृत, प्रथम भाग, पृष्ठ ३७३।

हम साधारण मनुष्य पागल की स्थिति मे नही होते तो अति मानसिक स्तर पर पहुँचा हुआ पुरुष जो ब्रह्मचर्य, मेव., त्याग, अहिंसा और सत्य आदि गुणों का पालन करके अह का नियन्त्रण तथा सयमन करता है, यहाँ तक कि उसका उच्छेदन तक कर डालता है, वह भला पागल कैसे कहा जा सकता है ? यदि कुछ लोग ईश्वरोन्माद को मस्तिष्क विकार समझते है तो उन्हें सभी प्रकार के उन्माद को मस्तिष्क-विकार ही समझना पड़ेगा। क्योंकि ऐसा कोई भी व्यक्ति नही है जो धन, बड़प्पन या ऐश्वर्य के उन्माद से पीडित न हो।

किसी कारण मे उत्पन्न कार्य के प्रभाव द्वारा हुए परिवर्तन को भी देखकर मूल्याकन किया जा सकता है। श्री रामकृष्ण की समाधि की दशा और उस दशा का उनके ऊपर पडा हुआ प्रभाव भी यह सिद्ध करता हुआ जान पडता है कि वे अपस्मार तथा मूर्च्छा रोग से पीडित नही थे। यदि एक निर्धन एव निरक्षर, साधारण मन्दिर का पुजारी विश्व के समक्ष महान् सन्त के रूप मे उपस्थित होता है और उसकी वाणी आज भी प्रगतिशील जन मानस का सम्बल बन सकती है, तो फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि यह अपस्मार या मूर्छा का प्रभाव रहा है। अपस्मार का रोगी कभी भी इस स्थिति को नहीं प्राप्त कर सकता। हम देखते है कि समाधि की स्थिति का प्रभाव केवल उन्ही पर नहीं वरन् उनके द्वारा दूसरे व्यक्तित्व पर भी अमिट रूप मे पडा। उदाहरण के रूप मे स्वामी विवेकानन्द के जीवन-परिवर्तन को लिया जा सकता है। सशयवादी वैज्ञानिक युग और पाश्चात्त शिक्षा से अनुप्राणित, दृढ़ चित्त, आत्मविश्वासी, एव प्रज्ञा सम्पन्न, मूर्ति पूजा के खडक विवेकानन्द के जीवन मे परिवर्तन उत्पन्न करना, उनके समाधि-वैभव का ही द्योतक है।[1] इस तथ्य की पुष्टि इससे भी जान पड़ती है कि अन्य भक्तो तथा स्वय विवेकानन्द मे कभी यह भ्रान्ति-मोह (डिसइल्यूजन) नहीं उत्पन्न हुआ कि 'व्यर्थ मे ही इतना जीवन का समय इस निरक्षर पुजारी के मोह-पाश में गया।' वास्तव में देखा तो यह जाता है कि उनसे प्रभावित भक्तो द्वारा दूसरे व्यक्ति भी उसी रूप मे ही प्रभावित हुए।

श्री रामकृष्ण का दैनिक जीवन इतना सुसगठित एवं सुसमायोजित था कि छोटी-छोटी वस्तुओ तक का उनको ध्यान रहता था। किसी के आने-जाने का ध्यान रखना, भक्तों को प्रसाद देना तथा उनसे वार्तालाप करन

---

१. तपस्यानन्द—श्री रामकृष्ण परमहंस—द वेदान्त केसरी भाग ५२ नं० जुलाई, १९६६ पृष्ठ १४५।

आदि क्रियाएँ इतने संमित ढंग से होती थी कि उनको देखते हुए पागलपन की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

समकालीन केशवचंद सेन जैसे लब्ध-प्रतिष्ठित विद्वान्, समाज सुधारक एवं ब्रह्म समाज के अग्रगण्य नेता ने ऐसे महान् पुरुष को पागल के रूप में न देखकर उनकी स्थिति को सतत् योग की स्थिति कहकर ही सम्बोधित किया था। उनके गुणों का चित्रण उन्होंने इस प्रकार किया है—

"दक्षिणेश्वर के परमहंस साधारण व्यक्ति नहीं हैं, इस समय पृथ्वी भर में इतना महान् व्यक्ति दूसरा कोई नहीं है। वे इतने सुन्दर, इतने असाधारण व्यक्ति हैं कि उन्हें बड़ी सावधानी के साथ रखना चाहिए। देख-भाल न करने पर उनका शरीर अधिक टिक नहीं सकेगा। इस प्रकार की सुन्दर मूल्यवान् वस्तु को कांच की आलमारी में रखना चाहिए।"[1]

उपर्युक्त कथनों से स्पष्ट है कि इतनी सुरक्षा पागल की नहीं की जाती। ऐसा व्यक्तित्व मूल्यवान् है देश, संस्कृति तथा मानवता के लिए।

इस प्रकार की अवस्था महान् पुरुषों में जन्मगत भी देखी जाती है और साधना के फलस्वरूप भी। परन्तु उच्चस्तर के रहस्यवादियों के अतिरिक्त ऐसे लोगों में भी ऐसी स्थिति उत्पन्न हो सकती है जो साधना के विभिन्न सोपानों से जाते हैं। यह कोई असम्भावना की सम्भावना नहीं है। विवेकानन्द के शब्दों में इस समाधि पर प्रत्येक मनुष्य का, यही नहीं प्रत्येक प्राणी का अधिकार है।[2] बात है नियमित श्रेणीबद्ध तथा वैज्ञानिक प्रणाली से इस ओर बढ़ने की। हम इसकी प्रक्रियाओं के आधार पर चलकर ही इसकी अनुभूतियों के खंडन-मंडन के अधिकारी हो सकते हैं। अन्यथा अनुभवी पुरुषों के कथन पर तो विश्वास करना ही पड़ेगा। उच्चस्तर के रहस्यवादियों की बात तो अलग है; जैकावहेन्स ने एक ऐसे साधारण मनुष्य के विषय में शोध प्रस्तुत किया है जिसने योग की निश्चित प्रणाली के आधार पर समाधि की स्थिति का अनुभव प्राप्त किया। वह व्यक्ति आस्ट्रेलिया का एक सफल व्यापारी था। उसकी उम्र साठ साल की थी। परन्तु स्वास्थ्य अच्छा था। इसके पूर्व वह सेना में अधिकारी पद पर कार्य करता था। एकाएक संसार की नश्वरता तथा शोरगुल से असन्तुष्ट होकर स्थिर और शान्त चित्त से अपने कक्ष में एक किसी

---

१. श्री रामकृष्ण वचनामृत भाग प्रथम पृष्ठ ३७, श्री केशवसेन की उक्ति २८ मार्च, १८७५ के मिरर में उल्लिखित।

२. विवेकानन्द, राजयोग, पृष्ठ १०५।

बिन्दु पर ध्यान केन्द्रित किया करता था। इसके पहले उसको इस प्रकार के ध्यान का कोई ज्ञान भी नही था। इस प्रकार प्रतिदिन रात को घण्टों ध्यान मे बैठा रहता था। इसका फल यह हुआ कि उसको नींद की आवश्यकता नही पड़ती थी और यौन-इच्छा का भी लोप हो गया। उसके इन दोनों तथ्यों की पुष्टि जैकाब ने उसकी पत्नी से प्राप्त की। इस क्रिया के आधार पर उसने एक वर्ष पश्चात् नवीन अनुभव प्राप्त किया। प्राणायाम करते-करते उसकी साँस एकाएक रुक जाती थी और रीढ की हड्डी पकड करके अग्नि की शिखा ऊपर उठ रही है, ऐसा अनुभव होने लगा। साथ ही उसे आनन्द की अनुभूति होती थी। उस आनन्द की अनुभूति का वर्णन करना उसके लिए कठिन था। जैकाब का कहना है कि इसमे अतिशयोक्ति नही कि उसने ईश्वरानुभूति प्राप्त की। युंग इस स्थिति को बढा-चढा कर कहने की तथा अपनी महत्ता प्रकट करने की बात कह सकता है, परन्तु यह अपने बड़प्पन की बात नहीं कही जा सकती। क्योंकि लेखक ने बताया है कि उस व्यक्ति ने अपनी इस स्थिति की चर्चा केवल अपनी स्त्री तथा लेखक से ही की थी। साथ ही उसके कथन मे विनय तथा नम्रता की भावना रहती थी। उसकी इस स्थिति को चिकित्सालय मे नही समझा जा सका। दिन मे वह विवेकी व्यापारी के रूप में रहता था और उसका कोई भी मित्र उसकी इस अस्वाभाविक रुचि से परिचित नही था।[1]

जैकाबहेन्स ने इस घटना के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि ध्यान की प्रणाली से कुण्डलिनी शक्ति जागृत होती है और उसके जागरण से साधक को यह अवस्था प्राप्त होती है[2]।

उपरोक्त घटना से यह भी सिद्ध होता है कि ऐसी स्थिति असामान्य कारण का परिणाम नही है, बल्कि योग की कुछ विशेष विधियों के पालन से इसको प्राप्त किया जा सकता है[3]।

---

१. जैकाब हेन्स—वेस्टर्न साइकोथिरेपी एण्ड हिन्दू साधना, पृष्ठ १६३।

२. वही, पृष्ठ १६३।

३. अशोक कुमार—आत्मा के रहस्यों की खुलती हुई परतें, साप्ताहिक हिन्दुस्तान १० सि० १९६७, पृष्ठ २०–२१ पर जीवित समाधि का उल्लेख।

वर्तमान समय में समाधि की स्थिति को प्राप्त करने के लिए कु

श्री रामकृष्ण के जीवन की बहुत सी अन्य घटनाएँ भी हैं। हम, देखेंगे कि मनोविज्ञान उनकी व्याख्या करने में किस प्रकार असमर्थ है। वैज्ञानिक विधियों का भी उपयोग होने लगा है, जिससे समाधि को सीजोफिनिक या अन्य प्रकार की मनोविकृति की अवस्था मानने की सम्भावना नहीं जान पड़ती। इन वैज्ञानिक विधियों से भी कुण्डलिनी शक्ति को जगाना और जीवित समाधि लगाना सम्भव कहा जाने लगा है। 'लीग फार स्पिरिचुएल डिस्कवरी' ने पहले रासायनिक क्रियाओं द्वारा समाधि की अवस्था उत्पन्न करने का प्रयास किया परन्तु अब कुछ विधियों द्वारा मन को एकाग्र करके इस अवस्था को प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है और अन्तश्चेतना का विस्तार करने तथा कुण्ड-लिनी को जागृत कर ज्योति-दर्शन करने के लिए विभिन्न पद्धतियों का उपयोग भी किया जाने लगा है। इन पद्धतियों में सम्मोहक आंख, चश्मे की साधना और नाद ब्रह्म की उपासना आदि मुख्य हैं। इनसे मानव को तनावपूर्ण स्थिति से दूर कर एकाग्र चित्त बनाने का प्रयास होता है और अतीन्द्रिय अनुभवों की स्थिति को बोध कराने का प्रयास किया जाता है। परन्तु रहस्यवादियों की आध्यात्मिक स्थिति से प्राप्त समाधि की तुलना में यह कहां तक ठीक है, निश्चित रूप में नही कहा जा सकता।

9

कहाँ तक मनोविज्ञान व्याख्या नहीं कर सका ?

अब तक हम मनोविज्ञान की सीमाओं का उल्लेख करते आये और साथ-ही साथ यह भी देख चुके कि श्री रामकृष्ण के जीवन की बहुत-सी घटनाओं तथा धार्मिक अनुभूतियों की व्याख्या मनोविज्ञान की सीमितता के कारण ही नही हो सकती। यहाँ हम कुछ ऐसे विशिष्ट उदाहरणों को अलग से छाँटकर देना चाहते है, जिनकी व्याख्या मनोविज्ञान बिल्कुल नही कर सकता। ऐसे उदाहरण इस प्रकार हैं—

१—भक्तों के साथ उनकी घनिष्ठता, जैसे कि वे उनसे पूर्व परिचित हों।

२—उनका स्पर्श मात्र लोगों मे दैवी विश्वास, ईश्वर-दर्शन तथा समाधि की स्थिति भी ला सका।

३—उनका यौन जीवन।

४—भक्तों के सम्बन्ध मे भविष्यवाणियां।

५—आद्याशक्ति "माँ" से किसी प्रश्न का उत्तर पाना।

६—असाध्य रुग्णावस्था मे भी ईश्वर, चर्चा तथा वार्तालाप करना।

श्री रामकृष्ण जैसे भक्तो से पूर्व परिचित रहे है, इस तथ्य की सत्यता में विवेकानन्द की इस उक्ति में विश्वास किया जा सकता है—

"पहले-पहल जब मैं गया, तब एक दिन भावावेश में उन्होंने कहा" तू अब आया है।"

"मैंने सोचा, यह कैसा आश्चर्य है। ये मानो मुझे बहुत दिनो से पहचानते है।"[1]

इसी प्रकार भक्तों के बीच मे किसी के आने की बात वे सम्मुख उपस्थित लोगों से इस प्रकार कहते थे, "आज (उत्तर, दक्षिण अथवादि किसी दिशा को दिखाकर) इस दिशा से यहाँ का एक आदमी आ रहा है" और कभी किसी के आते ही "तुम यहाँ के आदमी हो" कहकर पूर्व परिचित की तरह उसे स्नेह के साथ ग्रहण करते थे।"[2]

---

१. श्री रामकृष्ण वचनामृत, भाग ३, पृष्ठ ६११।

२. लीला प्रसंग, तृतीय भाग, पृष्ठ १८६।

यदि 'पूर्व-परिचित' कथन के विषय में यही कहा जाय कि वह तो मन-कल्पित तथा अपलाप मात्र था, तो इससे उनके उन व्यवहारों को असत्य नहीं सिद्ध किया जा सकता, जो भक्तों के प्रति करते थे। क्योंकि इतना तो सिद्ध है कि पूर्व परिचित व्यक्तियों के साथ जैसा व्यवहार किया जाता है और उसमें जो घनिष्ठता तथा आत्मीयता होती है, वह एकाएक नवागन्तुक के लिए तो सम्भव नहीं होती, अतः हम यहाँ व्यवहार की कसौटी से ही सिद्ध कर सकते हैं कि उनका भक्तों के प्रति किया गया व्यवहार पूर्व परिचित लोगों के समान होता था। वर्तमान मनोविज्ञान इस तथ्य की व्याख्या किस रूप में कर सकता है ?

श्री रामकृष्ण के स्पर्श मात्र से लोगों में दैवी विश्वास तथा समाधि की स्थिति भी उत्पन्न हुई, इस तथ्य की व्याख्या कितनी सीमा तक मनोविज्ञान कर सकता है, कोई निश्चित उत्तर नहीं दिया जा सकता। क्योंकि अपनी निश्चित सीमा के कारण उसके पास कोई ऐसी व्याख्या नहीं है जिससे इसकी यथार्थता सिद्ध की जा सके। हम देख चुके हैं कि स्पर्शानुभूति व्यक्ति स्वयं इस तथ्य की वास्तविकता को भली-भाँति स्वीकार करते हैं और यह भी देखा जा चुका है कि श्री रामकृष्ण कोई ऐसे सम्मोहक या जादू-टोने में विश्वास करने वाले नहीं थे, जिससे कि यह क्रिया की हो। तो फिर इसके विषय में मनोविज्ञान क्या कह सकता है ?

विवेकानन्द जी को स्पर्श के पश्चात् जो समाधि की स्थिति प्राप्त हुई थी, उसके विषय में उनके संकल्प-विकल्प की स्थिति से यही ज्ञात होता कि ऐसे अद्भुत कार्यों को साधारण कार्य-कारण और उद्दीपन तथा प्रतिक्रिया आदि के आधार मात्र से ही नहीं समझा जा सकता :—

"स्तब्ध होकर मैं सोचने लगा, यह क्या हुआ ?....पुस्तक में मोहिनी "इच्छा शक्ति संचरण और सम्मोहन विद्या', के सम्बन्ध में मैंने पढ़ा था। सोचने लगा कि यह भी वैसा ही कुछ होगा। किन्तु यह सिद्धान्त चित्त में न ठहर सका क्योंकि दुर्बल मन के ऊपर ही प्रभाव डालकर प्रबल इच्छा शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति वैसी अवस्था ला देते है, परन्तु मैं तो वैसा नहीं हूँ। बल्कि अब तक अपने को विशेष बुद्धिमान् और मानसिक शक्ति सम्पन्न मानता आया हूँ। विशेष गुण युक्त पुरुष के संग से साधारण व्यक्ति जिस प्रकार मोहित हो जाते है......मैं तो इन्हे देख कर वैसा नहीं हुआ हूँ, बल्कि आरम्भ से-

१. अध्याय, ६।

ने इन्हे आधा पागल समझ रखा है। अत मेरे भीतर इस प्रकार का भाव (समाधि) आने का कारण क्या है ?....फिर यह सोचने लगा कि इच्छा मात्र से यह पुरुष यदि मेरे जैसे प्रबल इच्छा-शक्ति सम्पन्न चित्त के दृढ संस्कार युक्त गठन को इस तरह तोड-फोडकर मिट्टी के लोंदे की तरह अपने भाव मे ढाल सकते है तो इन्हे पागल ही कैसे समझू ?[1]

यह हम यह देख सकते हैं कि सम्भवत. विवेकानन्द सम्मोहित हो गये हो और कहते हों कि "मै सम्मोहित नहीं हूँ" यदि मान लें वे सम्मोहित भी हुए तो क्या सम्मोहक का प्रभाव इसी कोटि का हो सकता है जैसा कि विवेकानन्द पर हुआ ? क्योंकि सम्मोहक का प्रभाव अस्थायी होता है और सम्मोहन के पश्चात् व्यक्ति को भ्रम भी होता है, परन्तु विवेकानन्द पर पडा हुआ प्रभाव जीवन पर्यन्त स्थायी रहा तथा उनको यह भ्रम भी नही हुआ कि "मैं" सम्मोहन में डाला गया था"। विवेकानन्द ही नही बल्कि संस्पर्श वाला कोई भी व्यक्ति इस भ्रम में नही था कि "मेरे ऊपर सम्मोहन का प्रभाव रहा। अतः इससे तो यही सिद्ध होता है कि सस्पर्श की क्रिया सम्मोहन नही था। इस प्रकार जब सम्मोहन से स्पर्श-क्रिया की व्याख्या नही हो सकी तो फिर मनोविज्ञान कैसे व्याख्या कर सकता ?

श्री रामकृष्ण के स्पर्श की क्रिया केवल विवेकानन्द तक ही सीमित नही थी वरन् "हर एक को एकान्त में बुलाकर ध्यान करने के लिए बिठा देते थे और उनके ललाट, वक्षःस्थल, जिह्वा आदि शरीर के विभिन्न स्थानों का दिव्य भाव में अवस्थित हो स्पर्श करते थे। फलस्वरूप किसी में हृदय ग्रन्थियों के एकाएक खुल जाने से ईश्वर-लाभ के लिए व्याकुलता, किसी में भावावेश और सविकल्प समाधि या किसी विरले साधक में निर्विकल्प समाधि का पूर्वाभाव आ उपस्थित होता था।"[2]

स्पर्श के अनेक उदाहरणो को देखते हुए और विवेकानन्द ऐसे अद्भुत प्रज्ञा सम्पन्न व्यक्ति को भी इस शक्ति तथा क्रिया को स्वीकार करते देख करके तो यही कहना पड़ता है कि ऐसे महापुरुषो के कितने ऐसे रहस्यमय कार्य हैं जिनकी मनोविज्ञान अपनी वस्तुगत कसौटी के द्वारा कैसे व्याख्या कर सकता है, यह समझ मे नही आता।

---

१. लीला प्रसंग, तृतीय भाग, पृष्ठ ७६–७७।

२ लीला प्रसंग, तृतीय भाग, पृष्ठ ७६।

श्री रामकृष्ण के वैवाहिक जीवन के सम्बन्ध में विचार करते हुए यह भी देखा जा चुका है कि शारीरिक पक्ष तक विचार करने वाला मनोविज्ञान उनके यौन जीवन की व्याख्या नही कर सकता। यौन के सम्बन्ध मे वर्तमान मनोविज्ञान की सभी परिकल्पनाएँ तथा मान दण्ड उनके जीवन में प्राप्त तथ्य के समक्ष अयथार्थ प्रतीत होते है। इनके जीवन में यह भी ज्ञात होता है कि यौन न तो भूख की प्रेरणा के समान ही आवश्यक है और न यही कि यौन का उन्नयन किसी निश्चित सीमा तक ही किया जा सकता है।

यदि श्री रामकृष्ण के यौन-जीवन को मनोवैज्ञानिको के अनुसार तथाकथित असामान्य कहते है तो उनके अनुसार मान्य सामान्य जीवन पूर्ण रूप से असामान्य माना जा सकता है। मनोवैज्ञानिक, व्यक्तित्व के सगठन पर बल देते है और यदि 'योग' या सगठन ही पूर्ण व्यक्तित्व का परिचायक है तो मनुष्य का वास्तविक स्वरूप समाधि का योग-युक्त होना ही सत्य होगा तथा यही जीवन आदर्श (नार्मल) माना जाना चाहिए। इस प्रकार जो जीवन इस आदर्श जीवन से भिन्न है वह असामान्य के अन्तर्गत आता है और मनोवैज्ञानिको का तथाकथित 'सामान्य' (नार्मल) असामान्य की ही कोटि मे आता है, क्योंकि ऐसा सामान्य जीवन सगठित या पूर्णरूप से योग-युक्त नही होता। इस प्रकार, कारण-शरीर के दृष्टिकोण से देखने पर भी तो सामान्य जीवन ही असामान्य प्रतीत होता है।

हमने अब तक देखा है कि श्री रामकृष्ण का जीवन योग-युक्त रहा है। गीतोक्त योगी तथा उनके जीवन में पूर्ण साम्य भी मिलता है। यदि योग-युक्त जीवन ही आदर्श जीवन (नार्मल) है, तो तथा-कथित सामान्य (एवरेज) से यौन विश्लेषित नही हो सकता।

यौन ही नही भक्तों के प्रति श्री रामकृष्ण द्वारा की गई भविष्यवाणी के विषय मे भी कोई मनोवैज्ञानिक नियम काम करता नही जान पडता। यद्यपि भविष्यवाणी सम्बन्धी तथ्य योग मनोविज्ञान के द्वारा सहज ही विश्लेषित हो जाते है तथा परामनोविज्ञान के अन्वेषणों से भी इसकी व्याख्या सरलता से की जा सकती है, परन्तु अभाग्यवश वर्तमान मनोविज्ञान के जो कट्टरवादी पोषक हैं, वे परामनोविज्ञान के इन वैज्ञानिक खोजों तथा निष्कर्षों को आज भी स्वीकार करने के लिए तैयार नही हैं।

श्री रामकृष्ण द्वारा भक्तों के प्रति की गई भविष्यवाणी सिद्धो की तरह नहीं होती थी। इसकी विशेषता यह थी कि उनको कही से आदेश मिलता

था और आदेश मिलने पर की गई भविष्यवाणी सिद्ध भी हुई। इस प्रकार यह सिद्धि नहीं कही जा सकती। यह तो बिल्कुल अनोखी प्रतीत होती है। एक बार भविष्यवाणी में विवेकानन्द द्वारा शंका प्रकट करने पर श्री रामकृष्ण ने जगत् माता से पूछा कि क्या यह असत्य है ? उत्तर मे उनको सत्य का ही आदेश मिला। इस प्रकार कोई भी कार्य वे आदेश प्राप्त करने के पश्चात् ही करते थे। इस प्रकार भविष्यवाणी किसी अज्ञात शक्ति के आदेश का पालन कहा जा सकता है। फिर मनोविज्ञान इसकी व्याख्या कैसे कर सकता है ? यद्यपि मनोविज्ञान के नाते परामनोविज्ञान से भविष्यवाणी की व्याख्या कर सकते है, परन्तु इसके लिए उनको जो आदेश मिलते थे और भक्तों को जो वे ईसा, मुहम्मद या चैतन्य के दल में साक्षात् देखते थे, इसकी व्याख्या तो मनोविज्ञान नहीं ही कर सकता।

उपर्युक्त तथ्यों के अतिरिक्त कुछ ऐसे अन्य तथ्य भी है जिनकी व्याख्या मनोविज्ञान नही कर सका है। मनोविज्ञान शरीर तथा मन का घनिष्ठ सम्बन्ध प्रदर्शित करता है। दोनों की क्रिया-प्रतिक्रिया का एक दूसरे के ऊपर प्रभाव अवश्य पड़ता है। परन्तु श्री रामकृष्ण के अन्तिम जीवन में रूग्ण होने की अवस्था मे उनकी शारीरिक तथा मानसिक अवस्था में कोई ऐसा परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं होता। उनका ईश्वर-प्रेम, भाव-समाधि के रूप में (पहले की ही भाँति) प्रकट हुए बिना नहीं रहता था। ईश्वरीय वार्तालाप का क्रम टूटने नही पाता था। शारीरिक कष्ट का उनके मन पर कोई प्रभाव नहीं रहा। वही ईश्वरीय आह्लाद, विह्वलता प्रेम तथा आनन्द उनके मुख पर थी विराजमान था। यद्यपि बहुत से साधक ऐसे हुए है जो शरीर तथा मन को अलग रख सकते है इसमे कोई आश्चर्य की बात नही परन्तु शरीर शास्त्र की दृष्टि से चिकित्सकों को यह चमत्कारपूर्ण ही सिद्ध होता है कि गले मे भयंकर रोग है, बोलना सम्भव नही, फिर भी वे कैसे बोलते थे ?

यहाँ हम यह कह सकते हैं कि कुछ घटनाओं तथा तथ्यों की व्याख्या चाहे किसी रूप मे की जा सकती हो परन्तु जिन तथ्यो का हमने ऊपर वर्णन किया है, उनकी व्याख्या तो मनोविज्ञान बिल्कुल नहीं कर सकता।

अत ऐसे अलौकिक धार्मिक अनुभवों की प्रामाणिकता क्या है तथा इनका हमारे जीवन में क्या मूल्य है ? इन विषयो पर भी विचार करना आवश्यक है।

10

उपसंहार

अब तक के अध्ययन से हमने यह देखा कि श्री रामकृष्ण प्रभृति रहस्य वादियों के जीवन अनेक अस्वाभाविक तथा रहस्यमय घटनाएँ असामान्य मनोविज्ञान के आधुनिकतम सिद्धान्तों द्वारा भी व्याख्या करने योग्य नहीं रहीं। साथ ही रहस्यवाद की सामान्य विशेपताओं तथा रहस्यवादियों की वस्तुगत कसौटियों (प्रथम अध्याय) तथा उनके जीवन और अनुभवों के आधार पर यह भी ज्ञात होता है कि ऐसे उच्चतम कोटि के रहस्यवादी तथा-कथित असामान्य की श्रेणी में नहीं आते। इसी आधार पर यह भी देखा जाता है कि धार्मिक अनुभवों की प्रामाणिकता असिद्ध नहीं की जा सकती तथा ऐसे धार्मिक अनुभवों का व्यावहारिक मूल्य ही नहीं आन्तरिक मूल्य (इन्ट्रिन्जिक वैल्यू) और निजी महत्त्व भी है।

१—धार्मिक अनुभवों की प्रामाणिकता

अनुभवों की प्रामाणिकता का प्रश्न एक जटिल समस्या के रूप में सदैव से ही वर्तमान है। विशेष रूप से धार्मिक अनुभवों की प्रामाणिकता का प्रश्न इस वैज्ञानिक युग में और भी जटिल इसलिए है कि विभिन्न बौद्धिक क्षेत्रों में विज्ञान का प्रभाव छाया हुआ है। ऐसे समय में धार्मिक अनुभूतियों की बात युग की आत्मा के विरुद्ध जान पड़ती है। वैसे तो किसी भी धार्मिक अनुभूति की प्रामाणिकता नहीं सिद्ध की जा सकती, परन्तु ऐसे आत्मनिष्ठ धार्मिक अनुभव यदि कुछ व्यावहारिक उपयोगिता प्रदान करते है, तो वे वस्तुनिष्ठ रूप में प्रामाणिक सिद्ध किये जा सकते हैं।[1] परन्तु इन अनुभूतियों की प्रामाणिकता के लिए हमें दो प्रश्नों का उत्तर पाना होगा—प्रथम यह कि, क्या धार्मिक अनुभूतियों के पीछे कोई वास्तविकता (रिअलिटी) है? दूसरे, किस कसौटी (क्राइटीरिअन) के आधार पर हम अनुभवों की प्रामाणिकता प्राप्त कर सकते हैं?

कसौटी के लिए हम मनोविज्ञान को ही आधार बना सकते हैं। जिस प्रकार प्रत्यक्षीकरण (परसेप्सन) की क्रिया में प्रत्यक्ष कर्त्ता बाह्य वस्तुओं का ही प्रत्यक्ष

---

१. थुले, साइकालॉजी ऑफ रिलीजन, पृष्ठ २६७।

करके उसके विषय मे अनुभव करता है उसी प्रकार रहस्यवादात्मक स्थिति मे (प्रार्थना या अन्य अनुभवों में) रहस्यवादी को ऐसे अनुभव प्राप्त होते है, जो 'प्रदत्त' जान पडते है। इसी को थुले ने 'गिवेननेस' कहा है। ऐसी अनुभूतियाँ रहस्यवादी के मन की उपज नही होती और उनको उसमें तनिक भी सन्देह नहीं होता कि उनकी अनुभूतियाँ, वाणी, या दर्शन किसी अन्य स्रोत से प्राप्त हुए है। क्योंकि उनकी चेतना मे अनुभूति के सभी विषय एकाएक स्वतन्त्र रूप मे ऐसे ही आते है जैसे कि प्रत्यक्षीकरण के विषय।[1] इसी सम्बन्ध मे थुले ने एक फ्रेन्च प्रोटेस्टेन्ट के अनुभव का इस प्रकार उल्लेख किया है "हम अपने भीतर एक ऐसी सत्ता (बीइंग) का अनुभव करते है जो कि हमारा स्वयं का नही है। हम अपने भीतर नये विचार, ज्ञान एव दैवी प्रकाशन (रेवेलेशन) को उत्पन्न हुआ देखते है जो कि हमारे भीतर से नही आते।"[2]

श्री रामकृष्ण ने भी ठीक इसी प्रकार अपने अनुभवों के विषय मे कहा है "जैसा चलाती हो वैसा चलता हूँ, जैसा कराती हो वैसा करता हूँ, जैसा बुलवाती हो, वैसा बोलता हूँ, नाहं, नाह, तू है तू है"।[3]

उपरोक्त उदाहरणों से यही सिद्ध होता है कि रहस्यवादी के अनुभव 'प्रदत्त' होते हैं, जिसकी उत्पत्ति परामानसिक है, उनके मन की उपज नहीं होते और इस प्रकार के अनुभव प्रत्यक्षीकरण के ही समान है, जिनको तथाकथित, 'कल्पना' से सरलतापूर्वक अलग कर सकते है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि इस प्रकार के धार्मिक अनुभवों में वस्तुगत सत्यता निहित रहती है। यदि मनोविज्ञान इन अनुभवों की प्रकृति की कोई दूसरी व्याख्या नही देता तो इसे प्रत्यक्षीकरण से भिन्न नही बताया जा सकता और फिर इस आधार पर तो इस प्रकार के धार्मिक अनुभवों को प्राप्त करने वाले रहस्यवादी के लिए धर्म के विषय की सत्यता निश्चित हो जायगी। साथ ही अन्य लोगों के लिए भी तर्क संगत रूप में स्वीकार करने के लिए ऐसे रहस्यवादियों के अधिकांश प्रमाण मिल जाएँगे, जिनके अनुभव वास्तविक रहे है।

परन्तु दुर्भाग्यवश मनोविज्ञान उक्त 'प्रदत्त' धार्मिक अनुभवों के विषय में दूसरी व्याख्या देता है, जिससे हमारे लिए कठिनाई उत्पन्न हो सकती है।

---

१. वही, पृष्ठ २६७–६८।
२. वही, पृष्ठ २६८।
३. श्री रामकृष्ण वचनामृत, प्रथम भाग, पृष्ठ ५०।

मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि यह 'प्रदत्त' की विशेषता केवल वाह्य सत्य (रिअलिटी) के लिए ही लागू नहीं होती वरन् उन सभी मन की क्रियाओं में भी ऐसा होता है जो कि अचेतन क्षेत्र से चेतन स्तर पर आती है। जिस प्रकार स्वप्न, अनिश्चित कल्पनाएं तथा प्रातिभ मानस (इन्ट्यूशन्स) चेतन स्तर पर आते हैं उसी प्रकार धार्मिक अनुभव भी अनुभव कर्ता के लिए बाहर से आते प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार कुछ मानसिक विकृति में भी रोगी को उनकी कल्पनाएँ और अव्यवस्थित विचार रहस्यवादियों के दर्शन तथा वाणी की तरह बाहर से आये हुए प्रतीत होते है और उनमें उनको वस्तुगत सत्यता ज्ञात पड़ती है। इस प्रकार अचेतन से उभरे हुए विचार या वाणी रोगी को ऐसे ही सत्य प्रतीत होते हैं जैसे कि सामान्य व्यक्ति को।

मनोवैज्ञानिकों के इस आक्षेप से हम इस सन्तोषजनक निष्कर्ष पर पहुँच सकते है कि इस प्रकार के अनुभव अचेतन स्तर से चेतन स्तर पर आते हैं। अत. इसी आधार पर हम तर्कसगत रूप मे यह भी कह सकते है कि धार्मिक अनुभवो की उत्पत्ति वाह्यगत रूप मे ही होती है और उन अनुभवो के पीछे वस्तुगत सत्य रहता है। यहां यह सम्भव है कि कुछ लोग यह कहे कि जहाँ रहस्यवादी 'ईश्वर' को स्वय सिद्धि (पास्टूलेट) मानते है वहाँ मनोवैज्ञानिक भी अचेतन को केवल एक स्वयं सिद्धि मानते है। परन्तु यहाँ मनोवैज्ञानिकों के विरोध मे यह कहना उचित नहीं जान पडता कि उन्होंने अचेतन की परिकल्पना केवल धार्मिक व्यवहारों की एक दूसरी व्याख्या करने के लिए की है। हम देखते है कि सामान्य मनोविज्ञान मे 'अचेतन' दिनो-दिन प्रसिद्ध हो रहा है और इसकी क्रियाएँ व्यवहारों में ठीक उसी प्रकार मिलती है जिस प्रकार धार्मिक जीवन मे पाई जाती है।[१]

अतः उपरोक्त विवेचन से यह कोई तर्क नही मिलता कि हम यह कल्पना कर लें कि कोई प्रामाणिक तर्क धार्मिक अनुभवों की प्रामाणिकता के लिए मनोवैज्ञानिक 'प्रदत' (साइकालॉजिकल डेटा) से नहीं निकाला जा सकता। मनो-विज्ञान केवल 'प्रदत्त' अनुभवों की कमियो को ही बतलाता है न कि इसकी अयथार्थता को।

रहस्यवादियों का यह कथन है कि 'ये अनुभव हमारे मस्तिष्क से नहीं आये है वरन् दैवी क्रिया के फल हैं', धार्मिक अनुभवो की प्रामाणिकता के

१. थुले, साइकालॉजी ऑफ रिलीजन, पृष्ठ २६६। युंग ने भी व्यवहारों की व्याख्या के लिए सामूहिक अवचेतन को स्वीकार किया है।

लिए प्रस्तुत किया जाता है। परन्तु कुछ अपवादों के आधार पर यह कह कर इसकी आलोचना की जाती है कि यह तर्क केवल उन अविवेकशील व्यक्तियों के लिए ही ठीक है जो धार्मिक अनुभवों के विरुद्ध कोई तर्क नहीं करना चाहते। थुले का कहना है कि रहस्यवादी इन 'प्रदत्त' धार्मिक अनुभवों को ईश्वरीय देन कहकर प्रामाणिक नहीं बता सकता। यहाँ हम थुले के इस आक्षेप से सहमत नहीं हो सकते। यदि वे ऐसा आक्षेप करते है तो उनकी 'प्रदत्त' (गिवेननेसः) की कसौटी स्वत: असिद्ध हो जाती है। यदि वे धार्मिक अनुभवों की अतिमानसिक उत्पत्ति मानते[1] हैं तब भी तो उसमें दैवी क्रिया या सत्ता का आभास मिलता है। क्योंकि परामनोविज्ञान के अनेक खोजपूर्ण तथ्यों से भी यह सिद्ध किया जा चुका है कि हमारे भौतिक शरीर के पीछे इस तरह की किसी वस्तु की सत्ता है, जिसको प्राचीन भारतीय दार्शनिक 'आत्मा' कहते थे और जो प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर रहने वाला अतिभौतिक, अतिमानसिक और अतिवैयक्तिक तत्त्व है।[2] कैरिंगटन ने ठीक ही लिखा है कि 'यदि जीवन का मनोरासायनिक या यान्त्रिक दृष्टिकोण सही है तो किसी भी तरह की अलौकिक घटनाएँ नहीं हो सकतीं'। 'फिर भी वे होती हैं....'। ये तथ्य असंदिग्ध हो चुके है।[3]

अतः यदि रहस्यवादी अपने अनुभवों को दैवी क्रिया का फल बतलाता है तो थुले को स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

यदि यह कहा जाय कि 'दैवी क्रिया' के फलस्वरूप आने वाले रहस्यवादियों के अनुभव केवल अविवेकशील व्यक्तियों के ही लिए अधिक उपयुक्त हैं, तो यह तर्क उचित नहीं ज्ञात होता। क्योंकि श्री रामकृष्ण के धार्मिक अनुभवों को तत्कालीन विद्वद् मण्डली ने भी स्वीकार किया है। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, ब्राह्म समाज के अग्रगणी कार्य-कर्ता, केशवचन्द्र सेन एवं विवेकानन्द ऐसे तर्कशील एवं प्रतिभा सम्पन्न महापुरुषों ने उनके इस कथन को स्वीकार किया था कि 'माँ जैसा चलाती है वैसा चलता हूँ, जैसा बुलवाती हैं वैसा बोलता हूँ'।

टेरेसा ने भी अपने धार्मिक अनुभवों के लिए दैवी क्रिया को स्वीकार किया है। उनका कथन है कि 'मेरे अन्तर्गत जो शान्ति और आनन्द का अनुभव होता है, वह न तो भ्रम है और न कल्पना ही। मुझे तीन उच्च प्रकार के

---

१. वही, पृष्ठ २७१।

२. डॉ० बी० एल० आत्रेय, परामनोविज्ञान एक परिचय, पृष्ठ ६६-१००।

३. वहीं, पृष्ठ ६६ पर कैरिंगटन का कथन (स्टोरी ऑफ साइकिक साइंस, ३३२)

ईश्वरीय वरदान प्राप्त हुए है। प्रथम ईश्वर की महत्ता का ज्ञान, द्वितीय आत्म ज्ञान और तृतीय समारिक वस्तुओं मे अनासक्ति'।[१]

एक अन्य स्थल पर टेरेसा ने अपने अनुभवो की सुनिश्चितता तथा प्रामाणिकता का स्पष्ट और विश्वसनीय वर्णन इस प्रकार किया है—"यदि तुम यह पूछो कि आत्मा यह कैसे देख और जान सकती है कि वह ईश्वर मे लीन हो गई थी, क्योंकि इस तल्लीनता के समय न वह कुछ देखती है और न कुछ समझती है, तो मैं यह उत्तर दूगी कि उस समय वह इस सत्य को नही देखती परन्तु बाद में इस सत्य को स्पष्ट रूप में देखती है जब कि वह अपने आप मे फिर से लौट आती है और उसे वह किसी कल्पना से नही, बल्कि एक ऐसी सुनिश्चितता से देखती है जो उसमें सदा विद्यमान रहती है और जो उसे केवल ईश्वर से ही प्राप्त हो सकती है"।[२]

इस प्रकार टेरेसा के उदाहरणो से भी यही सिद्ध होता है कि धार्मिक अनुभव 'प्रदत्त' होते है और उनकी वस्तुगत प्रामाणिकता है।

उपरोक्त विवेचन से इतना तो प्रामाणिक तर्क मिलता ही है कि तथाकथित धार्मिक अनुभवों के पीछे वस्तुगत सत्य है, परन्तु इस वैज्ञानिक युग में तो अनुभवात्मक ज्ञान को ही अधिक महत्त्व दिया जाता है। अतः हमें इस आधार पर भी इस विषय पर विचार कर लेना आवश्यक होगा। वैसे तो धार्मिक अनुभवों की सत्यता का प्रश्न 'धर्म-दर्शन' का विषय है जिसको प्रज्ञा (रीजन) द्वारा जान सकते हैं और यदि इसको भी छोड़ें तो रहस्यवादी के अनुभवो या प्रकाशनो में विश्वास करके भी सत्य तक पहुँच सकते हैं। परन्तु इन तीनों विधियों में हम अनुभवात्मक विधि को ही ग्रहण करना चाहते हैं क्योंकि मनोविज्ञान अनुभवात्मक विधि मे ही आता है। अतः मनोविज्ञान की दृष्टि से ही धार्मिक अनुभवों की प्रामाणिकता पर विचार करना हमारा लक्ष्य है।

यहाँ अनुभवात्मक विधि पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। तत्त्व शास्त्रियों का यह आक्षेप उचित ही जान पड़ता है कि अनुभवात्मक तर्क पूर्ण निश्चतता नही दे सकते। क्योकि अनुभव द्वारा प्राप्त सभी ज्ञान आगमनात्मक (इनडक्टिव) होते है। इनसे सम्भावनाओं की मात्रा तो बढ़ सकती है परन्तु गणित की भाँति निश्चितता और सार्वभौमिकता नही प्राप्त होती। इस विधि

---

१. द इन्टीरिअर कास्टल ६।५।१२, थुले, साइकालॉजी ऑफ रिलीजन, पृष्ठ २७० पर उद्धृत।

२. जेम्स, वैराइटीज ऑफ रिलीजस एक्सपीरिएन्स, पृष्ठ ४०९ पर उद्धृत

की सीमितता को ध्यान में रखते हुए हम धार्मिक अनुभूतियों की प्रामाणिकता के विषय में भी यह कह सकते है कि यदि धार्मिक अनुभवों की प्रामाणिकता पूर्ण रूपेण नहीं निश्चित की जा सकती, तो उसकी सम्भावना की मात्रा तो बढ़ ही सकती है।[1]

यदि हमें एक भी ऐसा विश्वसनीय प्रमाणमिल जाता है, जिससे घोर नास्तिक को विश्वस्त किया जा सके तव तो आगे जाने की कोई आवश्यकता नहीं होगी, परन्तु इस विधि की सीमाओं से ऐसा सम्भव नही जान पड़ता। ऐसी दशा में जितने भी धार्मिक अनुभवों के उदाहरण,मिले उन सब को ग्रहण करके प्रामाणिकता की सम्भावना मे वृद्धि की जा सकती है। शर्त यह है कि इन उदाहरणों को हमें अपनी पूर्वधारणाओं से रहित होकर देखना पड़ेगा।

इस आधार पर भी यदि देखा जाय तो हमने श्री रामकृष्ण का बहुत ही विश्वसनीय उदाहरण लिया है। (अध्याय २)। ऐसे विश्वसनीय उदाहरण से धार्मिक अनुभवों की प्रामाणिकता की सम्भावना तो बढ ही सकती है। यदि यह भी सम्भव नहीं हो तो हम उन्हीं की श्रेणी के उच्चकोटि के रहस्यवादियों के उदाहरणों द्वारा भी इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि यदि धार्मिक अनुभवों की प्रामाणिकता पूर्णरूपेण स्थापित नहीं की जा सकती तो उसकी सम्भावना की मात्रा मे तो वृद्धि हो ही सकती है।

मनोविज्ञान अनुभवात्मक विधि का अनुसरण करता है। परन्तु धार्मिक अनुभवों के विपक्ष में उसके द्वारा किये गये तर्कों का सम्भावित उत्तर देकर भी धार्मिक अनुभवों की सत्यता को सिद्ध किया जा सकता है।

आधुनिक मनोविकृति शास्त्र के अनुसार स्नायुविकृति की उत्पत्ति वास्तविक संसार में कामशक्ति की असफलता के कारण ही होती है। ऐसे व्यक्ति को सन्तोष तभी मिलता है जब स्नायु विकृति के लक्षणों को अपने मे उत्पन्न कर लेता है। यह विकृति एक प्रकार से कामशक्ति का स्थानापन्न रूप है। संवेगात्मक धर्म में कामशक्ति को लौकिक एव सामान्य प्रेम में असफल होने पर प्रेम के धार्मिक विषय-ईश्वर की ओर पुन सचालित किया जाता है।

मनोवैज्ञानिकों द्वारा यह भी कहा जाता है कि धर्म केवल 'न्यूरोसिस' है, परन्तु जो कुछ कारणों से विकृति के रूप में नही माना जाता। कुछ मनो-

---

१. धार्मिक अनुभवों की प्रामाणिकता दैवीप्रकाशन (रेवेलेशन) तथा तत्त्व-शास्त्र (मेटाफिजिक्स) से सिद्ध की जा सकती है, परन्तु यहां हमारा उनसे सम्बन्ध नहीं है।

विश्लेषणवादियों ने (ज्यूरिक स्कूल) इसके लिए अच्छा तर्क भी दिया है। उनका कहना है कि रोगी अपने अनुभव बताते हैं कि धार्मिक विश्वास उनके स्वस्थ होने में प्रबल शक्ति है। यहाँ तक कि युँग के अनुसरणकर्ता धार्मिक प्रेरणा की शिक्षा को अपनी उपचारात्मक विधि का एक अंग मानते है।[1]

उपरोक्त कथन में बहुत ही प्रबल रूप में यह सिद्ध होता है कि कामुक द्वन्द्व का धर्म द्वारा निराकरण होना प्रकार भेद में स्नायुविकृति केनिराकरण से बिल्कुल भिन्न है और आत्मा का लौकिक प्रेम मे असफल होकर ईश्वर में सन्तोष पाना उस प्रेम से भिन्न ज्ञात होता है जिसमें कल्पना द्वारा लौकिक प्रेम मे असफल होने पर प्रेमका विषय उत्पन्न किया जाता है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि कल्पना द्वारा उत्पन्न हुए प्रेम में सन्तोष भी नहीं होता। मनोविज्ञान के बहुत से सिद्धान्त यह भी बताते है कि कल्पना द्वारा उत्पन्न किया गया प्रेम व्यक्ति की सवेगात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।

अतः यदि दोनो प्रकार के प्रेम के प्रभावों को देखा जाय तो इससे यह सिद्ध होता है कि दोनों का एक ही कारण नहीं है। इससे तर्क सम्मत रूप में यह भी सिद्ध होता है कि कामुक द्वन्द्व का धर्म के द्वारा निराकरण, व्यक्ति को वास्तविक सन्तोष प्रदान करता है और ऐसे फल की प्राप्ति, ऐसे तथ्य का परिणाम है, जिसका विषय ईश्वर, सत्य है—वह मात्र पूजा करने वाले मन की काल्पनिक उपज नहीं है।...और इस निष्कर्ष से यह भी माना जा सकता है कि धार्मिक अनुभवों का व्यावहारिक मूल्य भी है मनोविज्ञान के अन्य आक्षेपों को भी हम आगे देखेंगे।

धार्मिक सिद्धान्तों की सत्यता की कसौटी अनुभवों के विवेकीकरण (रेशनलाइजेशन) को भी माना जा सकता है। वैज्ञानिक सिद्धान्तो के सत्यास्थापन के लिए इस प्रकार की कसौटी को ग्रहण भी किया जाता है। परन्तु इसकी फलवाद, (प्रेगमेटिस्म) की कसौटी से भिन्नता है । क्योंकि फलवादी, अनुभवों को विवेकयुक्त बनाने मे वस्तुगत सत्य को महत्त्व नहीं देते। इसके विपरीत-धर्म और विज्ञान में ऐसे अनुभवों को विवेकयुक्त बनाया जाता है, जिनका सम्बन्ध वस्तुगत सत्य से होता है (चहाहे वह सीमित रूप में ही क्यो न हों)।

---

१. थुले, साइकालॉजी ऑफ रिलीजन- पृष्ठ २७७।

उदाहरणार्थ डाल्टन का आणुविक सिद्धान्त ले सकते हैं। इसके, द्वारा केवल भौतिक तथ्यों की व्याख्या ही नही बल्कि इसकी शक्ति उन अन्य तथ्यों के विवेकीकरण में भी देखी गई, जिसका पता उसके अन्वेषकों को नहीं था।[1] अत. इस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि ऐसा कोई कारण नहीं है जिससे कि हम यह विश्वास न कर लें कि डाल्टन के सिद्धान्तों में कोई सत्यता नही है। यदि उसमें कोई सत्यता न होती तो उसके द्वारा अनेक तथ्यों या दूसरे तथ्यों की व्याख्या न हो सकती।

यहाँ सम्भावनाओं की मात्रा पर भी विचार किया जा सकता है। यदि विभिन्न प्रकार के अनुभवों का विवेकीकरण हो और वह एक समान निष्कर्ष पर पहुँचे तो निश्चित है कि अनुभवों की सत्यता की सम्भावना मे वृद्धि होगी तथा दोषो मे कमी होगी। चाहे वह सम्भावना बिल्कुल पूर्ण न भी हो तो इतना कम भी नही हो सकती कि शून्य के बराबर हो। उदाहरण के लिए अणु के सिद्धान्त में नई-नई खोजे हुई परन्तुयह नहीं कहा जा सकता कि अणु का प्राचीन सिद्धान्त बिल्कुल गलत था या नये सिद्धान्त बिल्कुल सत्य और पूर्ण ही हैं। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उनमें सत्य की सम्भावना है क्योंकि हो सकता है कि आगे की खोजो से कोई और भी प्रगति इनमे भी हो। यह तथ्य न्यूटन तथा सापेक्षवाद के सिद्धान्तो से समझा जा सकता है। ठीक इसी प्रकार धार्मिक सिद्धान्तो के विषय में भी पूर्णता का दावा नही किया जा सकता। परन्तु जहाँ तक वे अनुभवों द्वारा विवेकीकरण के योग्य है, बाद का अनुभव पहले के उस विवेकीकरण को नष्ट नही कर सकता बल्कि उनका रूपान्तरण कर सकता है।[2]

विवेकीकरण के पक्ष में थुले के अनुसार यह प्रमाण ठीक ही दिया जा

---

१. डाल्टन के आणुविक सिद्धान्त द्वारा निम्नलिखित तथ्यों का विवेकीकरण होता है :—

१. निश्चित अनुपात के संयोग का नियम, २. गुणित अनुपात का नियम, ३. आयतन के सरल अनुपात के संयोग का नियम, ४. गैसों के विसरण की दर, ५. घोल में विद्युत् विश्लेष्य के असामान्य अणुभार और विद्युत चालकता में सम्बन्ध तथा, ६. बायल के नियम का वान्डरवाल के संशोधन की सफलता आदि।

२. थुले, साइकालॉजी ऑफ रिलीजन, पृष्ठ २८१।

सकता है कि ईश्वर में विश्वास सत्य है क्योंकि वह हमारे नैतिक द्वन्द्व के अनुभव का विवेकीकरण करता है। और इसी आधार पर यदि हम यह भी पाते है कि ईश्वर का विश्वास धार्मिक अनुभवों के तथ्यों का विवेकीकरण करता है तो प्रमाण, अनुपात में सबल हो जाता है।'

अतः इस कसौटी के आधार पर धार्मिक अनुभवो की सत्यता पर्याप्त रूप में सिद्ध होती है।

व्यावहारिक रूप में भी इस कसौटी से धार्मिक अनुभवो की सत्यता सिद्ध की जा सकती है। विवेकशील एव सजग रहस्यवादी अपने अनुभवों में तभी विश्वास करता है जबकि उसमे उसके आत्मिक गुणो मे कुछ प्रगति होती है। श्री रामकृष्ण ने सत्ता का प्रथम दर्शन प्राप्त करने के बाद भी अनेक साधनाएँ इसीलिए की थी कि उससे उनके हृदय मे परिवर्तन हुआ था। साथ ही अपनी साधना के परिणामों की तुलना उन्होंने तत्सम्बन्धी शास्त्रों से भी की। (अध्याय ५)। समाधि के सम्बन्ध मे हमने देखा है कि उनकी अनुभूतियाँ पहले के जीवन की-सी नहीं थी। उनके आचरण तथा व्यवहार से ही उनकी अनुभतियों की सत्यता का ज्ञान होता है (अध्यायय ८)।

धार्मिक अनुभवों की प्रामाणिकता के विषय मे यह तर्क उपस्थित किया जा सकता है कि वह अति बौद्धिक क्षेत्र का विषय है, फिर उसको बौद्धिक तर्क-वितर्क द्वारा कैसे समझा जा सकता है? इसके उत्तर मे हम यह कह सकते है कि रहस्यवादियों के जैसे अनुभव होते है वहाँ तक तो हम नहीं पहुँच सकते परन्तु उनकी अभिव्यक्ति तक तो हम पहुँच ही सकते है। क्योंकि जिन्होंने इसके प्रति आक्षेप किया है वे भी तथा-कथित अनुभव पर नही पहुँचे है। आलोचकों ने उनकी अनुभूति की अभिव्यक्ति को देखकर ही बुद्धि द्वारा आक्षेप करने का प्रयत्न किया है। अतः जिस प्रकार वे बुद्धि द्वारा तर्क देकर आक्षेप प्रकट करते है उसी प्रकार हम भी उनके तर्कों का परीक्षण कर सकते है।

बौद्धिकता को आधार मानने वाले विज्ञान को यह कहना उचित नहीं जान पड़ता कि वह तर्क मे विश्वास करता है, इसलिए किसी रहस्य को स्वीकार नही कर सकता। 'केवल इसीलिए कि हम तर्क मे विश्वास करते है, यह निष्कर्ष नही निकलता कि सामने आने पर हमे किसी रहस्य को स्वीकार नही करना चाहिए।'[२] जिस प्रकार विज्ञान तर्क द्वारा रहस्यमय अनुभूति को

१. वही, पृष्ठ २८१।
२. राधाकृष्णन, सत्य की ओर, पृष्ठ ७७ पर जे० ई० सी० मैक्टेगार्ड, (स्टडीज इन हिगेलियन कास्मोलॉजी, पृष्ठ २९२) का कथन।

रसिद्ध करने का प्रयत्न करता है उसी प्रकार 'धार्मिक यथार्थता को विवेक सम्मत तो बताया ही जा सकता है। क्योकि तर्क-शुद्ध ज्ञान स्वयं हमे विधि या विज्ञान के राज्य से आश्चर्य, रहस्य या धर्म के राज्य मे ले जा सकता है'।[1]

अत धार्मिक अनुभवों की प्रामाणिकता को देखने के लिए हम इन तीन आधारो को भी ग्रहण कर सकते है। १—कुछ विशिष्ट ज्ञान की शाखाओं द्वारा किए गये आक्षेपो का निराकरण करके। २—रहस्यवादियों के व्यक्तित्व के गुणों को प्रकट करके जो जीवन रूप मे या क्रिया-कलाप के आधार पर स्मारक-चिह्न के रूप मे समाज मे वर्तमान रहते है। ३—धार्मिक अनुभूतियो की व्यावहारिक उपयोगिता या मूल्य को प्रकट करके। भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र तथा जीव-विज्ञान आदि विज्ञान की विभिन्न शाखाओं द्वारा प्रदत्त परिणामो तथा सिद्धान्तों के प्रभाव स्वरूप अन्य चिन्तन-धाराओ ने उदाहरणस्वरूप, फलवाद (प्रेगमेटिस्म), तर्कमूलक भाववाद, मानव विज्ञान तथा मनोविज्ञान ने धार्मिक अनुभूतियो के प्रति आक्षेप प्रदर्शित किया है। हम क्रमशः इनके आक्षेपो का परीक्षण करेंगे।

प्रेगमेटिज्म-फलवाद—(व्यवहारवाद) ने धार्मिक अनुभूतियो के सत्य के प्रति आक्षेप प्रकट किया है। व्यवहारवाद सत्य उसे मानता है जो व्यावहारिक हो। सत्य का समर्थन[2] विचार और वस्तु के सन्दर्भ मे होना आवश्यक है। परन्तु सत्य का समर्थन विचार और वस्तु के समर्थन के समान नही हो सकता।

सत्य केवल जैविक आवश्यकता तथा सामाजिक समायोजन के लिए ही नही है। इससे केवल इनकी ही पूर्ति नहीं होती। वास्तव मे सर्वोच्च समायोजन तभी प्राप्त हो सकता है जब अपने निम्न 'स्व' को अपने उच्च 'स्व' के साथ समायोजित कर लिया जाय। इस प्रकार का समायोजन सामाजिक समायोजन से श्रेष्ठतर माना जा सकता है। विज्ञान से भी बढ़कर धर्म सामाजिक समायोजन के लिए अधिक उपादेय सिद्ध हुआ है। अत. इस दृष्टिकोण-से व्यवहारवाद की कसौटी को रखते हुए धर्म को अन्य सामाजिक या प्राकृतिक विज्ञानों की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक सिद्ध किया जा सकता है।

---

१. राधाकृष्णन, सत्य की ओर, पृष्ठ ७७।

२. जेम्स, प्रेगमेटिज्म, पृष्ठ ४५, २०१—२०५।

तर्कमूलक भाववाद, अनुभववाद (एम्पिरिसिज्म) का अतिवादी रूप है। वह ऐसे अतीन्द्रिय पदार्थों की सत्ता स्वीकार नहीं करता, जिनका हमारे इन्द्रिय-जन्य अनुभव से कोई सम्बन्ध नहीं है।

तर्कमूलक भाववाद ने भाषा तथा प्रतीकों (सेमेन्टिक्स) के विश्लेषणात्मक अध्ययन के पश्चात् यह बतलाया है कि किसी कथन या वाक्य (प्रोपोजीशन) की सार्थकता उसके समर्थन (वेरीफिकेशन) पर ही निर्भर है। अर्थात् केवल वे ही वाक्य सार्थक है जिनका हमारे इन्द्रिय-ज्ञान से कुछ सम्बन्ध हो और इन्द्रियजन्य अनुभव के आधार पर जिनकी परीक्षा या समर्थन सम्भव हो।[1]

चूंकि धार्मिक अनुभव इन्द्रियजन्य नहीं होते तथा रहस्यवादियों के कथनों की सार्थकता समर्थन योग्य नहीं है, अतः इनकी कोई प्रामाणिकता भी सिद्ध नहीं हो सकती।

समीक्षा:—बहुधा आलोचना दो प्रकार की होती है—तर्क-मूलक और ध्वसात्मक तथा अनुभव-मूलक और रचनात्मक। एक का लक्ष्य किसी मत की आन्तरिक विसगतियो को प्रकट करके उसका खण्डन कर देना होता है और दूसरे का लक्ष्य किसी मत को जीवन और अनुभूति के तथ्यों की अपेक्षा मे जाँचना होता है, और इस दृष्टि से वह उसमे सशोधन या उसका परित्याग करती है। इसमे ऐसा इसलिए होता है कि उस मत या अनुभूति की अधिक अच्छी जानकारी या व्याख्या हो जाय। यहाँ हमारा अभिप्राय यह कहने का नहीं है कि प्रथम कोटि की आलोचना अयुक्त होती है। हम तो यह मानते है कि गम्भीर कोटि की आलोचना को, प्रेरणा और निश्चय मे रचनात्मक होना चाहिए। इसमें सन्देह नहीं है कि 'तर्कमूलक भाववाद ने ध्वंसात्मक आलोचना का अत्यधिक प्रयोग किया है। इस प्रकार की आलोचना को अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिए'।[2]

२—तर्कमूलक भाववाद कोई पूर्णतया दोष रहित सिद्धान्त नहीं है, इसकी अपनी कमजोरियाँ है। इसका समर्थन का सिद्धान्त इस कल्पना (अजम्पशन) पर निर्भर है कि हमारा ज्ञान प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप में अनुभवात्मक (एम्पि-रिकल) अनुभवों से प्राप्त होता है। परन्तु यह उचित नहीं जान पड़ता, क्योंकि संसार में बहुत-सी वस्तुएँ हैं, जिनका ज्ञान प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष अनुभवों से

१. डी० एम० दत्त कन्टेम्पोरेरी फिलासफी, पृष्ठ ४८५।
२. डॉ० देवराज, संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, पृष्ठ ३७–३८।

गृप्त नहीं होता, फिर भी उनके अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।[1]

३—यदि तर्कमूलक भाववाद के समर्थन का सिद्धान्त व्यावहारिक उद्देश्य पर आधारित है तो वह पूर्णतया प्रामाणिक ज्ञात नहीं होता, क्योंकि कुछ समय अर्थहीन (गलत) वस्तुएँ भी हमारे उद्देश्य के लिए पर्याप्त सिद्ध होती हैं और उनकी व्यावहारिक उपयोगिता के कारण हम उनकी सत्यता तथा असत्यता की खोज आगे नहीं करते। ऐसी वस्तुएँ अपनी व्यावहारिक उपयोगिता के कारण सत्य ज्ञात होती है। तब तो सत्य तथा असत्य में कोई अन्तर नहीं है। अतः निश्चित है कि तर्कमूलक भाववाद की यह अवस्था ग्रहणीय नहीं है।

४—हमारे सभी अनुभवात्मक ज्ञान में ज्ञाता अन्तरस्थ (इम्मेनेन्ट) तथा सर्वातिशायी (ट्रान्सेडेन्टल) दोनों होता है। सभी ज्ञान ज्ञाता को ज्ञात होते है, परन्तु ज्ञाता स्वयं सभी ज्ञान के परे होता है। यह तथ्य किसी अनुभवात्मक ज्ञान से नहीं जाना जा सकता, परन्तु बिना इसके ज्ञान सम्भव नहीं है। क्योंकि ज्ञाता सभी ज्ञान के लिए पूर्वकल्पित है। यदि ज्ञाता का अनुभवात्मक ज्ञान असम्भव कहा जाता है तो इसके आधार पर उसके अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जासकता। यदि सभी ज्ञान केवल अनुभवात्मक रूप मेंही प्राप्त होते हैं, जैसा कि तर्कमूलक भाववादी कहते हैं, तब तो ज्ञाता का ज्ञान भी उसी से होना चाहिए, परन्तु इसका (ज्ञाता) ज्ञान अनुभवात्मक रूप में कभी नहीं होता। वास्तविक ज्ञाता तो सदैव अनुभव के परे रहता है।

क्या तर्कमूलक भाववादी ज्ञाता के अस्तित्व को अस्वीकार कर सकते हैं? नहीं वे इसे अस्वीकार नहीं करेंगे, बल्कि वे कहेंगे कि यह प्रश्न ही अर्थहीन है, क्योंकि इसके समर्थन (वेरीफिकेशन) की सम्भावना ही नहीं है। ऐसा कहने में वे यह कल्पना (अजम्पशन) करते हैं कि अनुभवात्मक ज्ञान के अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं है जिसके द्वारा कि ज्ञाता का ज्ञान प्राप्त किया

---

१. एक क्षण के लिए हम अतीन्द्रिय अनुभवों को अर्थहीन मान सकते हैं परन्तु विज्ञान के बहुत से सत्य, उदाहरणार्थ इलेक्ट्रान, प्रोट्रान, एनर्जी आदि कहां तक सही माने जा सकते है। क्या वे स्वतः प्रमाण सिद्ध हैं? यद्यपि उनका प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता, परन्तु क्या उनकी घटनाओं को नहीं देख सकते?

फिलासफिकल क्वार्टर्ली वालूम १२ सन् १९३६, पृष्ठ २९३

जाय।' परन्तु उनकी इस कल्पना (अजम्पशन) का प्रमाण क्या है ? क्या वे इसका समर्थन कर सकते है ? नही वे इसका समर्थन (प्रमाणित) नहीं कर सकते। इस प्रकार उनकी कल्पना (अजम्पशन) ही असमर्थन योग्य तथ्य पर ही आधारित है, जोकि समर्थन के सिद्धान्त के आधार पर स्वीकार नही किया जा सकता।

५—तर्कमूलक भाववाद के समर्थन का सिद्धान्त ईश्वर या सत्ता की अनुभूति के अस्तित्व को अस्वीकार नही कर सकता। वह केवल यही सिद्ध करता है कि ईश्वर या सत्ता के अनुभव का समर्थन इन्द्रियजन्य 'प्रदत्त' (सेन्स डेटा) के आधार पर नही किया जा सकता। परन्तु कोई भी धर्म यह नही कहता कि ईश्वर या सत्ता का समर्थन इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के ही रूप मे हो सकता है। अतः इस तथ्य के आधार पर कि ईश्वर या चरम सत्ता इन्द्रिय-प्रत्यक्ष (सेन्स परसेप्सन) के आधार पर प्रमाणित (समर्थन) नही किया जा सकता, हम यह भी निष्कर्ष नही निकाल सकते कि ईश्वर या सत्ता का अनुभव या विचार अर्थहीन है।

मानव विज्ञान ने भी धर्म की उत्पत्ति के आधार पर ही धार्मिक अनुभूतियो को भी चमत्कार, ढोंग तथा असत्य सिद्ध करने का प्रयास किया है। परन्तु मनुष्य को आध्यात्मिक प्राणी मानने पर तो यही ज्ञात होता है कि धर्म हमारे जीवन मे आदि से अन्त तक अनुस्यूत है। व्यक्ति की उन्मुखता से वह भी उन्मुख और जागृत हो सकता है। आध्यात्मिकता, जादू, टोना, भूत-प्रेत तथा वृक्ष आदि की पूजा से उत्पन्न हुई नही जान पड़ती। मानव जन्म से ही चेतनशील और सर्जनशील है। उसकी क्षमता, बर्बरता को देखकर हम नही भुला सकते।

"मानव अपने ऊर्ध्व चेतनशक्ति से उद्‌बुद्ध हो सकता है। परन्तु एक बाघ ठीक वैसा ही है जैसा अब से छः हजार वर्ष पहले का बाघ था। उनमे से प्रत्येक बाघ अपना जीवन ठीक इस प्रकार प्रारम्भ से ही शुरू करता है, जैसे उससे पहले कभी कोई बाघ हुआ ही नहीं। परन्तु मनुष्य अपने अतीत को याद रखता है और उसका उपयोग वर्तमान मे करता है।"[2] उसमे वह गुण है जो पशुओ से उसे भिन्न कर देता है। वह गुण है धर्म, यदि यह न होता

१. डॉ० गिरजाशंकर राय, वैलिडिटी ऑफ रिलीजस एक्सपीरिएन्स। पृष्ठ २५२। (अप्रकाशित शोध ग्रन्थ-बी० एच० यू०)
२. राधाकृष्णन, धर्म और समाज, पृष्ठ १२०।

तो वह भी पशु के समान ही होता। महापुरुषों तथा सन्तों के जीवन से भी यह सिद्ध होता है। देखा जाय तो आत्मज्ञ तथा बर्बर के धर्म में कोई सम्बन्ध नहीं है। चित्त की स्थिरता की व्याख्या जो धर्म की नींव या मूलाधार है, मानव विज्ञान के धर्म के सिद्धान्तों के आधार पर कैसे की जा सकती है ?

एमिल दुर्खाइम के नेतृत्व मे समाजशास्त्रियों ने धार्मिक अनुभूतियों के प्रति आक्षेप प्रकट किया है। उनका कहना है कि 'जिस प्रकार भाषा आदि विशुद्ध सामाजिक वस्तुएँ व्यक्ति द्वारा पैदा नहीं की जाती, उसके द्वारा अपनायी जाती हैं,...उसी प्रकार धार्मिक विश्वास भी बहुत से मनों की पारस्परिक क्रिया से उत्पन्न होता है और उतना ही वस्तुनिष्ठ और उतना ही भ्रामक है जितनी की भाषा'।[1]

उपर्युक्त आक्षेप से स्पष्ट है कि धार्मिक विश्वास समाज परम्परा द्वारा प्रदत्त है। यदि समाजशास्त्री परम्परा से प्राप्त जीर्ण-शीर्ण धार्मिक विश्वास के विषय मे आक्षेप करते हैं तो उचित ही जान पड़ता है, परन्तु रहस्यवादियों के उच्चातिउच्च अनुभवो के विषय मे यह तर्क समीचीन नही ज्ञात होता। धार्मिक अनुभवों की प्रामाणिकता तो सत्ता से साक्षात्कार करने वाले पैगम्बरों से प्राप्त होती है जो अपने गम्भीरतम विश्वासो को अपनी खोजों या आविष्कारों के रूप मे हमारे सामने नही रखते बल्कि अपनी आत्माओं मे ईश्वर की अभिव्यक्ति के रूप मे रखते है।[2] उनका अत्यन्त पवित्र जीवन, त्याग, सेवा आदि गुण समाज में प्रकट हो सकते हैं परन्तु परम्परा नही बन सकते। ये तो उनके वैयक्तिक गुण जान पड़ते हैं—जिसको वह किसी पर लादना नहीं चाहता। उनके इन्ही गुणो से अनुभवों की प्रामाणिकता सिद्ध की जा सकती है।

धार्मिक अनुभूतियों के विरोध में मनोविज्ञान द्वारा किए गये आक्षेपों के विषय में हम पहले भी देख चुके हैं और साथ ही यह भी देखा जा चुका है कि उन अनुभूतियों को इसके सिद्धान्तो द्वारा विश्लेषित नही किया जा सकता। उन्ही आक्षेपों को दृष्टि में रखकर हम यह भी देखेंगे कि उनसे धार्मिक अनुभूतियों की प्रामाणिकता असिद्ध नहीं की जा सकती। फ्रायड ने इडिपस ग्रन्थि (पितृ ग्रन्थि) और दमन के सिद्धान्त के द्वारा धार्मिक जीवन की व्याख्या की

१. राधाकृष्णन्, जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि, पृष्ठ २५।
२. वही, पृष्ठ २२७।

है। उनका कथन है कि ईश्वर की धारणा एक काल्पनिक पिता के रूप में है।[१] बचपन मे लोग जिस प्रकार असहाय होकर पिता पर आश्रित रहते है उसी प्रकार आगे चलकर जीवन की वास्तविकताओं से बचने के लिए ईश्वर पर निर्भर करते है। परन्तु फ्रायड की यह धारणा समीचीन नही कही जा सकती। हिन्दू धर्म तथा बहुत से ऐसे धर्म है जिसमे ईश्वर और भक्त का सम्बन्ध पिता के अतिरिक्त अन्य सम्बन्धो से भी प्राप्त होता है तथा इसके अतिरिक्त जैन और बौद्ध धर्म में ईश्वर की कल्पना तक भी नहीं की गई है। रहस्यवादी स्वय यह कहते है कि केवल ईश्वर का ही विचार नही बल्कि हमारे सभी विचार और धारणाएँ 'सत्य को प्रकट करने मे अपर्याप्त हैं। सभी विचार भ्रम तथा अविद्या के रूप मे है। 'सत्य' हमारी व्याख्या पर निर्भर नही है। पितृ ग्रन्थि की समानता से ईश्वर की व्याख्या पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि 'सत्य' सभी विकल्पो और विचारों से परे है। उसके लिए तो अपरोक्ष अनुभूति ही प्रमाण है। इस प्रकार की अनुभूति के लिए मानव के गतिशील मनस मे ही एक प्रेरणा (आवश्यकता) अन्तर्निहित है जिसके द्वारा वह अपने 'स्व' तथा 'विश्व' के विषय में जानना चाहता है। जब वह अपने 'सत्य' की खोज तथा विश्व मे अपना स्थान निर्धारित करने चलता है तो उसको यह अनुभूति होती है कि यहाँ कोई ऐसी भी वस्तु है जो उसके परे है। ईश्वर की वास्तविकता खोज यही पर है। फ्रायडवादी या व्यवहारवादी अपने निष्कर्ष के सामान्यीकरण मे गलत जान पड़ते है। क्योंकि कुछ विकृत मस्तिष्क वालों के उदाहरण से ईश्वरीय खोज की प्रेरणा का पितृ ग्रन्थि के आधार पर सामान्यीकरण नही किया जा सकता।[२] धार्मिक अनुभूति प्राप्त करनेकी प्रेरणा तो गीता के चार प्रकार के स्तरो से प्राप्त होती जान पडती है।[३] इसमेंसन्देह नही कि फ्रायड की धारणा आर्त तथा अर्थार्थी भक्तों के लिए कुछ सीमा तक समीचीन हो सकती है, परन्तु जिज्ञासु और ज्ञानी की उच्च कोटि की धार्मिक अनुभूति की पिपासा के लिए उनकी कल्पना की पहुँच भी नही हो सकती।

---

१. फ्रायड टोटेम एण्ड टैबू, पृष्ठ १४७।

इसी प्रकार वाट्सन ने चिकित्सक के आधार पर ईश्वर में विश्वास करने की धारणा दी है। चिकित्सक जिस प्रकार संकट में सहायक होता है उसी प्रकार ईश्वर भी। वाट्सन, बिहैवियरिज्म, पृष्ठ ४।

२. स्वामी अखिलानन्द, मेन्टल हेल्थ ऐण्ड हिन्दू साइकालॉजी, पृष्ठ १८६–१८७।

३. गीता, ७–१६ महाभारत (शान्ति पर्व ३४१, ३३)।

चतुर्थ श्रेणी के भक्तों के लिए फ्रायड, वाटसन या स्टारबुक की भय तथा अपराध से त्राण पाने की भावना का आरोपण नही किया जा सकता। स्टारबुक तथा जेम्स ने धार्मिक परिवर्तन के लिए 'पाप' तथा 'भय' की भावना को ही महत्त्व दिया है, परन्तु अन्तिम दो प्रकार के भक्त जो वास्तव में सत्य के जिज्ञासु होते है वे भय तथा पाप से बचने के लिए ऐसे तत्वों को प्रेम, पवित्रता तथा सत्यता आदि के रूप मे प्राप्त करने की इच्छा से उस ओर बढते है—जिसकी प्रामाणिकता उनके जीवन मे स्पष्ट परिलक्षित होती है। वह त्यागी और अभयदान देने वाला होता है। भयभीत दूसरों को क्या भय से मुक्त करेगा। सग्रही अन्य को क्या त्याग प्रदर्शित करेगा ? उनके अभय, त्याग, पवित्रता, सहिष्णुता, सेवा आदि गुणों को देखकर इन मनोवैज्ञानिकों की सभी धारणाएँ निराधार ज्ञात होती है और हम उन सन्तो के उक्त गुणो के आधार पर ही उनकी अनुभूतियों की प्रामाणिकता को सिद्ध कर सकते है।

मनोविश्लेषणवादियों के दमन, प्रक्षेपण तथा आत्म निर्देशन के सिद्धान्त भी धर्म के विरोध के स्थान पर पक्ष मे ही आते है। दमन का सिद्धान्त यह कहता है कि इच्छाएँ और संवेग—जो अचेतन मन मे दबा दी जाती है, उनसे हमारा चेतन तथा अचेतन व्यवहार परिचालित होता रहता है। व्यक्ति उन इच्छाओं तथा सवेगों को वाह्य ससार मे प्रक्षेपित करता है। वह ससार की वस्तुओं को उन्ही के आधार पर देखता है। परन्तु ये इच्छाएँ जब मनस् के सतह पर आती है तब प्रक्षेपण समाप्त हो जाता है और व्यक्ति यह अनुभव करने लगता है कि वह भ्रम मे है और अपने ही मनस् की बातो को बाह्य जगत् मे प्रक्षेप कर रहा है। इसका अर्थ यह कि हमारे ही मनस् का अज्ञान हमको भ्रम मे डालता है और इसके रहस्य का ज्ञान ही हमको भ्रम से छुटकारा दिला सकता है। इसी से मिलता-जुलता भारतीय मत संस्कार के सम्बन्ध मे है। हमारे मन के बुरे सस्कार ही दुःख के कारण है। परन्तु जब वास्तविक 'स्व' का ज्ञान होता है तभी बन्धनों तथा दु.खो से छुटकारा मिलता है।[1] अन्तर इतना है कि मनोवैज्ञानिकों का दमन का सिद्धान्त केवल मानसिक रोगों तथा सामाजिक सभायोजन तक ही सीमित है जबकि भारतीय संस्कार का सिद्धान्त या अविद्या का मत सभी प्रकार के कुसमायोजनो से सम्बन्धित है। यह आत्मा के सभी क्षेत्र की खोज करता है। इसके अनुसार सभी प्रकार के कुसमायोजन इसलिए है कि मनुष्य का निम्न 'स्व' उसके उच्च 'स्व' से समायोजित नही है।

---

१. पतंजलि योग, २।१२।

व्यक्ति अपने वास्तविक 'स्व' से अनभिज्ञ है और अपने पूर्व संस्कारों का दास होकर कार्य करता है। तो उपाय यही है कि वह अपने निम्न 'स्व' का उच्च 'स्व' से समायोजन स्थापित करे। युंग ने भी अपने बाद के जीवन मे इस मत को स्वीकार किया है। यद्यपि उसका अविद्या का सिद्धान्त पूर्ण रूप से व्यवस्थित नहीं है, परन्तु कहीं-कहीं समता अवश्य मिलती है। हमने पहले भी देखा है कि उसका 'आर्कटाइप' भारतीय संस्कार की धारणा से समानता रखता है और उसका वैयक्तिक 'स्व' का सिद्धान्त अद्वैतवादियो के 'जीव' से मिलता-जुलता है। इस प्रकार मनोविश्लेषणवादियो के सिद्धान्त भी धर्म के अति निकट ही है परन्तु अनुभव करने के ढग भिन्न है। 'स्व' और अज्ञान को जानने तथा उनको दूर करने के लिए तथा सत्य को प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए तो धार्मिक अनुभूतियाँ ही आवश्यक प्रतीत होती है।

इसी प्रकार अबतक के अध्ययन से हमने यह भी देखा कि धार्मिक अनुभूतियाँ काम-शक्ति (सेक्स) या 'लिबिडो' की विकृतावस्था नहीं है। श्री रामकृष्ण के वैवाहिक जीवन के सम्बन्ध मे हमने देखा कि शारीरिक पक्ष तक विचार करने वाला मनोविज्ञान उनके यौन जीवन की व्याख्या नहीं कर सकता। उनके जीवन से यह भी सिद्ध हुआ जान पड़ता है कि यौन न तो भूख की प्रेरणा के समान आवश्यक है और न यही कि यौन का उन्नयन किसी निश्चित सीमा तक ही किया जा सकता है।

व्यवहारवाद (विहैवियरिज्म) मानव-व्यवहार की व्याख्या वातावरण मे प्राप्त उत्तेजना तथा उसके प्रति की गई प्रतिक्रिया के द्वारा करता है। उसके यान्त्रिकवाद में चेतना और मन को इसलिए स्थान नहीं है कि उनको देखा नहीं जा सकता। उसकी दृष्टि में धार्मिक अनुभूतियों की चर्चा ही व्यर्थ जान पड़ती है। परन्तु व्यवहारवाद का मानव अनुभूति तथा व्यवहार को यान्त्रिकता तक ही सीमित रखना उचित नहीं जान पड़ता।

डॉ० विलियम ब्राउन का कहना है कि शरीर की वातावरण के प्रति सम्पूर्ण क्रिया कुछ ऐसे लक्षणों को प्रकट करती है---जिसका यान्त्रिकता की व्यवस्था से कोई औचित्य नहीं है। जैसे स्वेच्छा, क्रिया की दृढ़ता और स्वतन्त्र संकल्प आदि। क्रिया तभी समाप्त होती है जब कि किसी उद्देश्य की प्राप्ति हो जाती है। जीव की सभी क्रियाओं के उद्देश्य को यान्त्रिकवाद से तथा भौतिक

शास्त्र और रसायन शास्त्र के नियमों से नही समझा जा सकता।[1] व्यवहार-वाद चेतना और मन को, न देखने के कारण स्वीकार नही करता, परन्तु मनुष्य जो व्यवहार करता है उसका निरीक्षण तो किया जा सकता है। ससार मे बहुत-सी वस्तुएं है, जिनको देखा नहीं जा सकता परन्तु इससे उनका अनास्तित्व नही सिद्ध होता। ऐसा नही जा सकता परन्तु इससे उनका अनास्तित्व नही सिद्ध होता। ऐसा कोई वैज्ञानिक नहीं होका जिसने विद्युत् देखा हो परन्तु उसकी क्रिया को तो देख सकता है और उससे उसके अस्तित्व को स्वीकार करता है। एलेक्ट्रान तथा प्रोटान दिखाई नही देते परन्तु वैज्ञानिक उनके प्रयोग से लाभान्वित होता है। इसी प्रकार मन, चेतना और ईश्वर की सत्ता को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। धार्मिक अनुभूतियाँ ही इनकी प्रामाणिकता है। यही नही परामनोविज्ञान के कुछ ऐसे तथ्य प्राप्त हुए है—(जिनको हमने विभिन्न स्थलों पर देखा है) जिनकी व्याख्या मनोविज्ञान की सीमितताओं के कारण सम्भव नही जान पडती। श्री रामकृष्ण की धार्मिक साधनाओं, समाधि एव जीवन की विचित्र घटनाओं की व्याख्या कुछ सीमा तक परामनोविज्ञान द्वारा प्राप्त तथ्यो के आधार पर की जा सकती है।

इस प्रकार ज्ञान की विभिन्न शाखाओं द्वारा किये गये आक्षेपों का निराकरण करके हमने देखा कि धार्मिक अनुभूतियो की प्रामाणिकता निरापद मानी जा सकती है। यदि वे इमके पक्ष मे नही है तो उनके विपक्षता को भी मूल्य नही दिया जा सकता।

अब हम धार्मिक अनुभूतियो से परिपूर्ण सन्तो, महापुरुषों के जीवन से सम्बन्धित विचारों तथा उनके व्यक्तित्व के गुणो को प्रकट करके प्रामाणिकता पर विचार करेंगे। क्योकि प्रामाणिकता के लिए वे समाज और जीवन मे स्मारक चिह्न के रूप में सदैव ही विख्यात रहे है।

धर्म के अनुमोदको ने आध्यात्मिक अनुभूतियों की प्रामाणिकता के विषय मे यही अभिमत प्रकट किया है कि वह स्वतः सिद्ध तथा स्वत. प्रामाणिक है, और हमारे विचार को यह अधिकार नहीं कि उसकी प्रामाणिकता का निर्णय दे। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि, तब तो कोई भी व्यक्ति यह दावा कर सकता है कि 'मुझे धार्मिक अनुभूति हुई है'। तो क्या उसके इस कथन पर विश्वास किया जा सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह कह कर दिया जा सकता है कि मात्र कह देने से विश्वास नही किया जा सकता। धार्मिक अनु-

1. विलियम ब्राउन, माइन्ड एण्ड पर्सनालिटी, अध्याय २।

भूतियो से पूर्ण उस रंग मे रगा व्यक्ति कुछ भिन्न ही होता है। उसके आचार, गुण, व्यवहार तथा क्रिया-कलाप ही उसके अनुभवों के प्रमाण होगे। यदि किसी विश्वास की आन्तरिकता मे सच्चाई है तो उस विश्वास की अभिव्यक्ति होगी कार्यों में और व्यवहारो में, और उसी के द्वारा विश्वास की बौद्धिकता का पता चलेगा।' हो सकता है कि धार्मिक अनुभूति तक हमारी पहुँच नही परन्तु उस अनुभव को प्राप्त करने वाले तक तो हमारी पहुँच हो सकती है। क्योकि वह व्यक्ति ससार के परे भी है और ससार के अन्तर्गत भी। उसका सम्बन्ध असम्बन्धित चेतना तथा सम्बन्धित चेतना दोनो से रहता है। जब वह असम्बन्धित चेतना मे रहता है तो उच्चात्मा के साथ होता है। यह अद्वैत चेतना की अवस्था कही जा सकती है। परन्तु जब वह सम्बन्धित चेतना मे रहता है तो आदर्श मानव बनकर हमारे बीच रहता है। श्री रामकृष्ण ने रहस्यवादियो के अन्तरस्थ (इम्मेनेन्ट) तथा सर्वातिशयी (ट्रान्सेडेन्टल) स्थितियो का उल्लेख निम्नलिखित उपमाओं मे बड़े ही सुन्दर ढग से किया है :—

"लोक शिक्षा के लिए शकराचार्य ने विद्या का 'मैं' (अह) रखा था। ब्रह्मदर्शन होने से मनुष्य चुप हो जाता है। जब तक दर्शन न हो, तभी तक विचार होता है। घी जब तक पक न जाये, तभी तक आवाज करता है। पके घी से कोई शब्द नहीं निकलता, पर जब पके घी में कच्ची पुडी छोडी जाती है, तो फिर एक बार वैसा ही शब्द निकलता है। जब कच्ची पुडी को पका डाला, तब वह फिर चुप हो जाता है। वैसे ही समाधिस्थ पुरुष लोक शिक्षण के लिए फिर नीचे उतरता है, फिर बोलता है।"

"जब तक मधु मक्खी फूल पर नही बैठती, तब तक भनभनाती रहती है। फूल पर बैठकर मधु पीना शुरू करने के बाद वह चुप हो जाती है। हाँ, मधुपान के उपरान्त मस्त होकर फिर कभी-कभी भनभनाती है।[2]

रहस्यवादियो की कुछ धार्मिक अनुभूतियाँ ऐसी होती हैं जो सामान्य रूप से विभिन्न शास्त्रो मे भी प्राप्त होती है और उनका स्पष्ट प्रमाण श्री रामकृष्ण प्रभृति रहस्यवादियों के जीवन मे मिलता है।

रहस्यवादी, व्यवहार-जगत् में बिनाफलाकांक्षा के अनासक्त रूप मे व्यवहार करता है। जो इस अवस्था को प्राप्त कर लेता है, उसकी मनोवृत्ति तथा चरित्र में परिवर्तन आ जाते है और ऐसे पुरुष का अवश्यमेव स्वागत होता

---

१. गवेषणा, जून १९६६, पृष्ठ ४१।
२. श्री रामकृष्ण वचनामृत, प्रथम भाग, पृष्ठ ६०।

है। हमारे पास जीवन के कुछ आदर्श होते है। वे हमारे लिए (साधारण मनुष्य) आदर्श मात्र हैं क्योंकि उनका हमने अभी तक अनुभव नहीं किया है, परन्तु आत्मानुभूत व्यक्ति के लिए वे केवल आदर्श के ही रूप में अवशिष्ट नहीं रहते। उनके लिए तो यथार्थ होते है। ऐसा पुरुष नैतिक मनुष्य से भिन्न कोटि का होता है। क्योंकि नैतिक या आदर्शवादी व्यक्ति सदैव 'अनुग्रह' तथा 'कर्तव्य बुद्धि' के दबाव में रहता है, परन्तु ईश्वरीय अनुभूति को प्राप्त हुआ व्यक्ति लोक-सग्रह का कार्य करता हुआ भी अनुग्रह तथा कर्तव्य बुद्धि के दबाव मे नही रहता।[1] श्री रामकृष्ण ने इसीलिए कहा है कि 'समाधिस्थ पुरुष लोक शिक्षण के लिए फिर नीचे उतरता है, फिर बोलता है'।[2] इसीलिए उन्होंने समाधि की उच्चावस्था को प्राप्त करके भी लोक शिक्षण तथा भक्ति के लिए भाव समाधि मे अवस्थित रह कर भक्तो का मार्ग दर्शन किया।

रहस्यवादी के जीवन में धार्मिक अनुभवों का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। वह अतिमानवीय गुणो से विभूषित होकर सदैव जीवन की उच्च भूमि पर अवस्थित रहता है। ईश्वरीय अनुभूति के आनन्द को प्राप्त करने के पश्चात् वह दैहिक सुखों से उदासीन हो जाता है।[3] वह भौतिक सुखों मे लिप्त नही रहता। बुद्ध का भौतिक सुखों को तिलांजलि देना सर्वविदित है। ससार का कोई भी रहस्यवादी ऐसा नही रहा है जो भौतिक सुखो मे लिप्त रहा हो। श्री रामकृष्ण ने भी अनासक्ति को ही महत्त्व दिया है। उनका कथन है कि 'भोगासक्ति का त्याग हो जाने पर देह-त्याग होते समय ईश्वर की ही स्मृति आयेगी और नही तो इस ससार की ही चीजों की याद आयेगी'।[4] उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ उसके वश मे होती है और वह सभी प्रकार के भय से परे रहता है। सासारिक भय क्या उसे मृत्यु का भी भय नही रहता। हम देख चुके है किस प्रकार निर्भय होकर श्री रामकृष्ण ने रानी रासमणि के विषय-चिन्तन पर, उनके अधीन पुजारी पद पर कार्य करते हुए भी, उनको थप्पड़ मारा था। यही नही मृत्यु की चिन्ता न करते हुए उन्होंने अपनी धर्म साधना

१. गीता, ३।२५, 'सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥

२. श्री रामकृष्ण वचनामृत, प्रथम भाग, पृष्ठ ६०।

३. गीता, २।५९।

४ श्री रामकृष्ण वचनामृत तृतीय भाग, पृष्ठ ५३८।

को अक्षुण्ण रखा। ईसा का निर्भय होकर महायाजकों का प्रतिकार करना, मुहम्मद का अपने विरोधियों का निर्भय होकर सामना करना सर्वविदित है। वह भय, वासना, द्वेष तथा क्रोध से परे तथा स्वतन्त्र हो जाता है। श्री रामकृष्ण के जीवन से यही विदित हुआ कि उनके भीतर कोई भी दुर्वासना नहीं रही। उनका कथन भी है कि 'ईश्वर-दर्शन के बाद यह स्थिति होती है ? जैसे चुम्बक पहाड के पास होकर जाने मे जहाज के स्क्रू-कील-काँटे सब ढीले होकर छूट जाते है। ईश्वर-दर्शन के बाद काम-क्रोध आदि नहीं रह जाते (बचनामृत भाग २, पृष्ठ ६३)। वह किसी के लिए कष्ट का कारण नही बनता और न कोई उसे कष्ट का अनुभव ही करा सकता है।[१] 'वह तो सम्पूर्ण प्राणियो को आत्मा ही मे और उसी को सम्पूर्ण प्राणियो मे देखता है, वह इस दृष्टि के कारण किसी से भी घृणा नही करता'।[२] क्योकि जिस समय ज्ञानी के लिए सब प्राणी आत्मा ही हो गये, उस समय उस अभेददर्शी पुरुष को क्या शोक है, क्या मोह'।[३] वह प्रेमास्पद को प्राप्त कर स्वयं प्रेमाश्रय बन जाता है। श्री रामकृष्ण के जीवन से यह सिद्ध हुआ है कि उनका जीवन प्रेममय था। इसीलिए उन्होंने कहा भी है कि—'साधना करते-करते शरीर प्रेम का हो जाता है। आँखें प्रेम की, कान प्रेम के। उन्हीं आँखो से वे देख पडते हैं. . . .''।[४] उसकी उपस्थिति मात्र से ही शान्ति, प्रेम तथा आनन्द की किरणे विकीर्ण हो उठती है। मानव ही नही पशु भी उनकी उपस्थिति से अपनी पशुता का परित्याग कर देते है। ऐसे योगी का अहिंसा भाव पूर्णतया दृढ़ तथा स्थिर हो जाता है। उसके निकट हिंसक जीव भी वैर भाव से रहित हो जाते हैं।[५] ऐसे महापुरुष के चित्त की स्थिरता जो ईश्वरीय अनुभूति के पश्चात् प्राप्त होती है, ऐसा गुण है जो संसार के अन्य मनुष्यों से उसे भिन्न कर देता है। वह सामान्यावस्था में स्थित होकर अमृत तत्त्व को प्राप्त करता है—'ब्रह्मस्

१. गीता, १२।१५, बाइबिल कुरिन्थियो, २। ४–६।
२. कुरान, पारा, ४। ११५।
३. ईशावास्योपनिषद, ६, तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः, ७।
४. श्री रामकृष्ण वचनामृत, प्रथम भाग, पृष्ठ ८५।
५. पतंजल योगशास्त्र २।३५, 'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः'।
'करि केहरि कपि कोल कुरंगा। बिगत बैर बिचरहिं सब संगा॥'
गोस्वामी तुलसी दास, रामचरित मानस, अयोध्या काण्ड, चित्रकूट वर्णन।

स्योऽमृतत्वमेति'।[1] ऐसा महापुरुष 'अपनी (निम्नतर) आत्मा को जीत लेता है और आत्म प्रभुत्व की शान्ति प्राप्त कर लेता है, तब इसकी सर्वोच्च आत्मा समाधि में स्थित रहती है, वह सर्दी और गर्मी में सुख और दुःख में, मान और अपमान में शान्त रहता है। श्री रामकृष्ण ने प्रसिद्धि, यश तथा सम्मान की कामना कभी नहीं की। इसके लिए एक उदाहरण पर्याप्त हो सकता है। मेरा नाम समाचार पत्रों में क्यों निकालते हो ? पुस्तकों या संवाद पत्रों में लिखकर किसी को बड़ा नहीं बनाया जा सकता। भगवान् जिसे बड़ा बनाते है, जंगल में रहने पर भी उसे लोग जान सकते है।[2] उसकी शान्ति और धृति द्वन्द्वों के कष्टों से विक्षुब्ध नहीं होती। वह प्रतीतियों के पीछे विद्यमान वास्तविकता (ब्रह्म) के ज्ञान और अनुभव से तृप्त हुआ रहता है। वह कूटस्थ अर्थात् अविचल, परिवर्तहीन, दृढ़, स्थिर और शान्त होता है। उसके लिए मिट्टी का ढेला, पत्थर या स्वर्ण-खण्ड एक जैसे है।[3] यहाँ श्री रामकृष्ण के विषय में सोना मिट्टी, मिट्टी सोना, कहकर त्याग करने तथा अनासक्त होने की बात पूर्णतया चरितार्थ है।" ऐसे महापुरुष मित्रों साथियों और शत्रुओं में, तटस्थों और निष्पक्षों में, द्वेष रखने वालों और सम्बन्धियों में, सन्तों में और पापियों में एक-सा भाव रखते है।"[4]

धार्मिक महापुरुष इन आध्यात्मिक अनुभूतियों को प्रायोगिक स्तर पर लाकर प्रमाणित करते है। ऐसा भी कहना चाहिए कि उनका सम्पूर्ण जीवन उन अनुभूतियों का प्रमाण स्तम्भ है। वे स्मारक चिह्न के रूप में होते है। इससे बढ़कर धार्मिक अनुभूतियों की प्रामाणिकता क्या हो सकती है ?

२— व्यावहारिक उपयोगिता, आन्तरिक मूल्य

धार्मिक अनुभूतियों की प्रामाणिकता के साथ ही धर्म की व्यावहारिक उपयोगिता और आन्तरिक मूल्य का प्रश्न भी जुड़ा हुआ है। इन दोनों का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित जान पड़ता है। परन्तु हमारा यहाँ मतलब फलवाद (व्यवहारवाद) के अर्थ में उपयोगिता को नहीं ग्रहण करना है। क्योंकि फलवाद हमारे अर्थ में समीचीन नहीं है। उसका मत है कि साध्य मूल्य सापेक्ष है न कि निरपेक्ष (आब्सोल्यूट) यहाँ उपयोगिता का अर्थ सामाजिक मूल्य से है। सन्तों के जीवन को देखते हुए तो यही कहना पड़ता है कि धर्म, साधन तथा साध्य दोनों मूल्यों में सम्मिलित किया जा सकता है। जब धर्म का उप-

१. छान्दोग्योपनिषद्, २, २३, १।
२. श्री रामकृष्ण वचनामृत, तृतीय भाग, पृष्ठ ५४४।
३. गीता, ६—७—८।
४ वही ६ ९ १२ १०—११ १४ २४ २५

योग परतम मूल्यों को प्राप्त करने के लिए साधन के रूप में किया जाता है तब वह व्यावहारिक रूप से मूल्यवान् सिद्ध होता है। परन्तु जब यह स्वतः परतम मूल्य होने के कारण साध्य के रूप मे प्राप्त किया जाता है तो आन्तरिक या साध्य मूल्य के रूप मे हो जाता है। साधना के प्रारम्भ में धर्म व्यावहारिक मूल्य का स्थान ग्रहण करता है और साधना के अन्त में वही आन्तरिक मूल्य के रूप मे होता है। यहाँ इस विषय पर आपत्ति की जा सकती है कि धर्म या आध्यात्मिक मूल्य स्वतः परतम मूल्य माना गया है फिर उसे साधन मूल्य कैसे कहा जा सकता है ? परन्तु हमारे दृष्टिकोण से मूल्यों के सापेक्ष और निरपेक्ष दृष्टिकोण में कोई आन्तरिक विरोध नही है। क्योंकि जीवन में मूल्यों की समपरिमाणता (कमेनसुरेबिलिटी) को कैसे अस्वीकार किया जा सकता है? यद्यपि अर्वन के मूल्यों के संगठन के तीन सिद्धान्त[1]-प्रवृत्त-विकृत, स्थायी-अल्प-स्थायी और उत्पादक-अनुत्पादक, उपयोगिता की दृष्टि से उचित ही हैं, परन्तु समपरिमाणना की दृष्टि से देखने पर यह वर्गीकरण जैसा का तैसा नहीं रह जाता। उदाहरणार्थ धार्मिक मूल्य वैसे साध्य या परतम मूल्य हैं परन्तु समाज की उपयोगिता की दृष्टि से वही साधन मूल्य भी हो सकता है। तो क्या वह अस्थायी और अनुत्पादक कहा जा सकता है ? वास्तव मे 'धार्मिक चेतना न तो बौद्धिक क्रिया है, न नैतिक, न सौन्दर्य बोधात्मक और न इन सब क्रियाओं का वयोग, यदि यह आध्यात्मिक जीवन का एक ऐसा स्वतन्त्र रूप है, जो इन सब तत्त्वों का समावेश करते हुए भी इन सब से ऊपर है, तो धर्म का उद्देश्य न सिर्फ सत्य है, न अच्छाई न सौन्दर्य और न इन सब का मिश्रण, बल्कि उसका उद्देश्य ईश्वर है, जिसमें ये सब मूल्य तो निहित हैं ही साथ ही वह इनसे ऊपर भी है।[2]

वह धर्म ही है जो युगो से मानवता की सेवा कर रहा है। इतिहास इसका प्रमाण है। धर्म की शक्ति का महत्त्व केवल व्यक्तिगत जीवन के लिए ही नहीं सामूहिक जीवन के लिए भी है। इसकी उपादेयता सिद्ध है। समाज के विभिन्न धर्म से अनुप्राणित, ईश्वरीय चेतना से अभिभूत व्यक्ति, समाज मे समता और सहयोग की स्थापना करते रहे हैं। वस्तुतः समाज की उचित स्थापना तभी हो सकती है जब कि समाज का आदर्श यह अनुभव करे कि सभी व्यक्तियों में एक ही सत्ता अनुस्यूत है। इसी के आधार पर समाज में प्रेम की अजस्र

---

१. अर्बन, फण्डामेन्टल्स ऑफ एथिक्स, पृष्ठ १७०–७१।

२. राधाकृष्णन्, जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि, पृष्ठ २०५–२०६।

धारा प्रवाहित हो सकती है। इस मूल सत्य का ज्ञान हो जाने पर कि 'समस्त प्रेम की समष्टि ही भगवान है, संसार के मुक्त बद्ध या मुमुक्षु सारे जीवात्माओं की आदर्श समष्टि ही ईश्वर है', तभी विश्व-प्रेम सम्भव होता है। भगवान् ष्टि ही ईश्वर है', तभी विश्व-प्रेम सम्भव होता है। भगवान् ही समष्टि है और यह परिदृश्यमान जगत् उन्हीं का परिछिन्न भाव है—उन्हीं की अभिव्यक्ति है। यदि हम इस समष्टि को प्यार करें, तो इससे सभी को प्यार करना हो जाता है। परन्तु पहले भगवत् प्रेम के द्वारा हमें यह शक्ति प्राप्त कर लेनी होगी, अन्यथा संसार की भलाई करना हँसी खेल नहीं है।[1]

इसमें कोई सन्देह नहीं कि आधुनिक युग में साम्यवाद की विचार धारा से लोग बड़े ही प्रभावित हुए है, और समता के अभाव से पीड़ित होकर ही फ्रान्स की क्रान्ति तथा मार्क्स के दर्शन का आतंक सामने आया, परन्तु वास्तविक समानता का फल कहाँ तक लाभप्रद हो सका है? वह तो हमारे बौद्धिक दृष्टिकोण से एक सस्ते राजनीतिक नारे के रूप में ही रह गया जान पड़ता है। वैज्ञानिक विश्लेषण से यही प्रकट होता है कि इस विश्व में किसी भी प्रकार की समता नहीं है। हाँ निस्सन्देह एक दूसरे सतह पर विश्व में सर्वत्र पूर्ण समता है। हमारा अर्थ है आध्यात्मिक सतह से। जिसे आध्यात्मिक उपलब्धि हो गई है वह सब को एक ही दृष्टि से देखता है। फिर वह सब को अपने में और अपने को सब में देखने लगता है। इस प्रकार की समता राजनैतिक चिन्तकों की अपेक्षा पूर्ण और विस्तृत है। यह केवल मानव जाति में ही समता देखने की दृष्टि नहीं है बल्कि पूरे विश्व की समरसता है। परन्तु इस प्रकार की स्थिति धर्म के आन्तरिक मूल्य को प्राप्त करने के पश्चात् ही आ सकती है। उसके बिना हम किसी भी प्रकार की समता की स्थापना नहीं कर सकते।[2]

साधुता स्वयं अपना साध्य है। धर्म द्वारा मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक दृष्टि से समाज को लाभ होता है। हृदय की कोमलता शान्ति तथा मधुरता, धर्मानुसरण में ही प्राप्त होती है। प्रेम तथा आदर की भावना प्राप्त होती है। उच्चातिउच्च आदर्शों को प्राप्त करने के लिए, समाज, देश तथा विश्व में शान्ति उत्पन्न करने के लिए बलिदान की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। विश्वबन्धुत्व

१. विवेकानन्द, भक्ति योग, पृष्ठ ८६।

२. डॉ० ए० सी० भट्टाचार्य, 'मैन इन द आइस ऑफ श्री रामकृष्ण', द, वेदान्त केसरी, भाग ५३, न० ११ मार्च १९६७, पृष्ठ ४८७।

की भावना धर्म से उत्प्रेरित समता के द्वारा ही प्राप्त होती है। मित्रता तथा सेवा की भावना साथ ही जीवों के प्रति दया का प्रवाह, और त्याग तथा सहिष्णुता, धर्म की ही देन कही जा सकती है। इससे व्यक्ति के मस्तिष्क को जो एकाग्रता प्राप्त होती है, उससे समाज लाभान्वित हुए बिना नहीं रहता। धार्मिक महापुरुषों द्वारा समता का प्रचार, तथा-कथित साम्यवादियों की 'समता' से भी श्रेष्ठतम है।[१] धार्मिक महापुरुष धर्म-साधना से नैतिकता का जो प्रवाह प्रवाहित करता है, उसका परिणाम सब को प्रत्यक्ष होता है। उसके बारे में किसी प्रकार सन्देह की गुंजाइश नहीं रहती। "कला में रस लेने के लिए पूर्व शिक्षा की आवश्यकता होती है, किन्तु दुःख तथा कष्ट की अनुभूति इतनी सार्वभौम है कि उसे कम से कम बुद्धि के लोग समझ लेते हैं। उपकारी कष्ट से मुक्ति तथा सुखपूर्ण जीवन-क्षणों की सृष्टि करता है। इन जीवन क्षणों से जहाँ दुखियों का कष्ट सुख में बदल जाता है, वहाँ उस सृष्टि का दर्शक भी अप्रभावित नहीं रहता, देखने वालों को भी यह जान कर आनन्द होता है कि कुछ लोगों का दुःख दूर हो गया। क्या साधुता स्वयं अपना पुरस्कार है? उत्तर में निवेदन है कि 'हाँ'। प्रेमी के चुम्बन की भाँति साधुता की व्यावहारिक अभिव्यक्ति दोनों सम्बद्ध पक्षों को आनन्द देती हैं। यही कारण है कि साधु व्यवहार का प्रभाव संक्रामक होता है। कवि की प्रशंसा सुनकर हम स्वयं कविता लिखना शुरू नहीं कर देते हैं। हम में यह इच्छा पैदा हो सकती है कि हम भी कवि हों, किन्तु वह इच्छा हमें कवि बनने की योग्यता नहीं दे देती। किन्तु जब हम किसी उदार-प्रवृत्ति साधु व्यक्ति को दूसरों का भला करते देखते है, तो उसका हमपर सीधे प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार का व्यवहार हममें परोपकार की प्रवृत्ति उत्पन्न करता है।"[२] साधु व्यवहार की सामाजिक उपयोगिता यह है कि जहाँ कहीं हम इस प्रकार का व्यवहार देखते हैं उसके अनुकरण की प्रवृत्ति समाज के लोगों में अवश्य उत्पन्न होती है। प्लूटार्क ने भी इसी तथ्य को स्वीकार करते हुए लिखा है कि 'साधु व्यवहार की जहाँ हम प्रशंसा करते है वहाँ उसके अनुकरण की प्रवृत्ति भी हममें आ जाती है।'[३]

---

१. साधु शान्ति नाथ, साधना, पृष्ठ ६१।

२. डॉ० देवराज, संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, पृष्ठ ३१३–३१४।

३. प्लूटार्क, लाइव्ज (सिलेक्टेड), पृष्ठ १७३।

कर्त्तव्यपरायण पुरुष तथा रहस्यवादी के व्यवहारों की सामाजिक उपयोगिता के विषय मे एक विशेष अन्तर भी देखा जा सकता है। सामान्य रूप से हम कर्तव्यनिष्ठ, सामाजिक तथा राजनीतिक दण्ड विधानों के भय से ही होते हैं परन्तु साधु तथा रहस्यवादी स्वयं अपनी स्वेच्छा से कर्तव्य-पालन करते हैं और लोगो मे भी स्वेच्छा से कर्तव्य-बुद्धि उत्पन्न करने की प्रेरणा उत्पन्न करते हैं।

कुछ प्रकृतिवादी विचारक धार्मिक महापुरुषों के लोकोपकारी कार्यों मे भी सुखवाद की गन्ध पाते हैं और उनमें उनकी चतुराई ही देखते है। इसी मत का समर्थन करते हुए स्टेस ने लिखा है कि 'ईसा तथा बुद्ध जैसे नैतिक प्रतिभा सम्पन्न महापुरुषों की बड़ी खोज यह थी कि स्वार्थपूर्ण जीवन सुखी जीवन नहीं होता, और अपने को सुखी बनाने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि हम दूसरों के सुख के लिए प्रयत्न करें। ऐसा क्यों है, यह कहना कठिन है। मनुष्य सुखी नहीं हो सकता जब तक उसके चारो ओर सब सुखी न हों। कारण यह है कि व्यक्ति सम्पूर्ण मानवता से संसक्त है। मानव जाति के सुख मे ही उसका सुख है'।[1]

स्टेस की उपर्युक्त धारणा प्रकृतिवादी विचारकों के पूर्वाग्रहों से ही दूषित जान पड़ती है। यदि सन्तो का जीवन देखा जाय तो स्टेस जिस सुख की बात करते है, सन्त उसकी कल्पना भी नहीं करता। उसका सुख तो ईश्वरीय चेतना मे ही समाहित रहता है। वह लोकोपकार तथा लोक संग्रह इसलिए करता है कि वह अपने अहं को त्याग चुका होता है और उसके स्थान पर विद्या का 'मै' लेकर ही संसार मे लोकोपकार का कार्य करता है। वह तो 'जीवन-मुक्त' ही कहा जाता है। 'मुक्ति' से बढ़कर भी अब उसे कौन-सा सुख चाहिए ? अतः स्टेस का यह आक्षेप निराधार प्रतीत होता है। यदि वह कुछ पूर्वाग्रहों से न होते तो 'ऐसा क्यों है' 'यह कहना कठिन है', इन वाक्य का प्रयोग न करते। क्योंकि इससे उनकी द्विधात्मका स्थिति ही प्रकट होती है।

धर्म की उपयोगिता तथा मूल्य के सम्बन्ध में यह प्रश्न विचारणीय है कि क्या धर्म का महत्त्व उसकी व्यावहारिक उपयोगिता पर ही निर्भर है या उसका कोई आन्तरिक मूल्य भी है ? उपरोक्त विवेचन मे हमने यही देखा है कि धर्म की केवल व्यावहारिक उपयोगिता ही नहीं, वरन् इसका आन्तरिक

१. स्टेस, रिलीजन एण्ड द माडर्न माइन्ड, पृष्ठ २८८।

मूल्य तथा निजी महत्त्व भी है। क्योंकि धर्म स्वत. अपने मे साध्य है और व्यावहारिक उपयोगिता की दृष्टि से साधन भी है। श्री रामकृष्ण के जीवन के अब तक के हमारे अध्ययन से यही सिद्ध होता है कि उनका जीवन पहले धर्म को साध्य के रूप मे प्राप्त करना था, इसके पश्चात् लोक शिक्षा के माध्यम से सामाजिक उपयोगिता को प्रदर्शित करना था।

अब तक के रहस्यवादियो के अध्ययन से धर्म का मूल्याकन उसकी व्यावहारिक उपयोगिता के ही कारण किया जाता रहा है। जेम्स ने सन्त-चरित्र की अत्यधिक प्रशसा इसलिए की है कि उनका जीवन में उपयोग और महत्त्व है। उन्होंने सन्तो के, सत्ता के प्रति अटूट विश्वास, कष्ट-सहिष्णुता, शारीरिक सुख के प्रति वैराग्य, करुणा तथा परोपकार की प्रवृत्ति, सब के प्रति मैत्री की भावना, समस्त भय का अभाव, शुद्धता तथा मधुर अनिवार्यचनीय आन्तरिक शान्ति आदि गुणों का उल्लेख करके यह सिद्ध किया है कि धर्म का महत्त्व उसके फल के कारण, उसकी उपलब्धियों के कारण ही है। यदि धर्म सत्य है तो उसका फल अच्छा फल[1] और फल के आधार पर ही धर्म को महत्त्व देते हुए प्रेट ने भी यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि सन्तो मे जो सूक्ष्म, जो आत्म सन्तोष और शान्ति होती है 'वह 'सामान्य' कहे जाने वाले व्यक्ति में भी नही प्राप्त होती। ऐसे महापुरुषो को हम 'असामान्य' कैसे कह सकते हैं ? व्यावहारिक दृष्टि से 'सामान्य' उसे कहते हैं जो इच्छित फल उत्पन्न करे अर्थात् उसके कार्य उपयोगी हों। यदि ऐसा है तो रहस्यवादी या धार्मिक महापुरुष व्यावहारिक दृष्टि से समाज को च्छित फल प्रदान करते हैं फिर उन्हें 'असामान्य' कैसे कहा जा सकता है। सका निर्णय फल के ही आधार पर करना चाहिए।[2]

इसमें सन्देह नहीं कि धर्म का व्यावहारिक महत्त्व है। जीवन से इसका अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। परन्तु इसका अर्थ यह नही कि इसका अस्तित्व उपयोगिता से ही सिद्ध हो। व्यवहारवादी (प्रेगमेटिस्ट) धर्म के महत्त्व की सीमा, उपयोगिता तक ही सीमित करते है, परन्तु धर्म इतना ही नही है। रहस्यवादियों के जीवन से तो यही प्रकट होता है कि धर्म ही जीवन है। धर्म ईश्वरीय चेतना है। उसकी प्राप्ति उसी के लिए है। किसी और के लिए नहीं।

---

१. जेम्स, वैराइटीज ऑफ रिलीजस एक्सपीरिएन्स, पृष्ठ ३४१, ३५०, ३६८–६९।

२. जे० बी० प्रेट०, द रिलीजस कान्सससनेस, पृष्ठ ४६६।

इसकी उपयोगिता तो गौण है। उस निरपेक्ष सत्ता का अनुभव भी निरपेक्ष होती है। इसी निरपेक्षता को प्राप्त करना ही धर्म का मूल है। वह स्वयं साध्य है। "जब मैं आप को इस चीज के लिए चाहता हूँ. मैं आप को उस चीज के लिए चाहता हूँ, ऐसी चाहना केवल इस शुद्ध चाह में बदल जाती है कि "मैं आप को आप के लिए चाहता हूँ"। जब 'क्ष' व्यक्ति ने कहा 'न ज्ञान न यह और न वह, बल्कि कृष्ण' तब उसका अभिप्राय भगवान् के अन्दर के उस अद्भुत और अनिर्वचनीय निरपेक्ष तत्त्व में ही था। उसका आकर्षण निःसन्देह एक सुव्यक्त अलघ्य आदेश होता है हमारे अन्दर की आत्मा महत्तर आत्मा की अनुपेक्षणीय पुकार के कारण भगवान् की ओर आकृष्ट होती है; अन्तरात्मा अपनी पूजा के पात्र की ओर अनिर्वचनीयतया आकृष्ट होती है क्योंकि इससे भिन्न कुछ हो ही नहीं सकता, क्योंकि यह, यह है और वह, वह है। बस इसी में सब कुछ आ गया है।"[१]

श्री अरविन्द के उपर्युक्त विचारों से यही सिद्ध होता है कि धर्म, धर्म के लिए है। साधक ईश्वरीय चेतना और विर्स्रा के लिए नहीं उस महत्तर चेतना के लिए ही चाहता है। पहले वह है बाद में चाहे और जो कुछ भी। धर्म में आनन्द-प्राप्ति हो सकती है सांसारिक सौख्य और ख्याति, मान-सम्मान प्राप्त हो सकता है परन्तु इसके लिए धर्मानुसरण नहीं किया जाता। इसका स्वतः में मूल्य है और उसका अनुसरण इसी के लिए ही होता है। इस विषय में श्री अरविन्द के विचार अधिक समीचीन ज्ञात होते हैं—'मैं यह नहीं कह रहा कि भगवत्प्राप्ति में आनन्द मिलेगा ही नहीं। आत्मोत्सर्ग स्वयं ही गम्भीर आनन्द है और जो चीज यह लाता है वह अपने साथ वर्णनातीत आनन्द वहन करती है—यह आनन्द अन्य किसी विधि की अपेक्षा इस विधि से अधिक शीघ्र उपलब्ध होता है, अतएव कोई यहाँ तक कह सकता है कि "स्वार्थ शून्य आत्मोत्सर्ग सर्वोत्तम नीति है"। भेद इतना ही है कि करने वाला उसे नीति के तौर पर कभी नहीं करता। आनन्द फल है, परन्तु आत्मोत्सर्ग इस फल के लिए नहीं, बल्कि स्वयं आत्मोत्सर्ग के लिए और स्वयं भगवान् के लिए किया जाता है।"[२]

---

१. श्री अरविन्द के पत्र, प्रथम भाग, पृष्ठ २९।

२. वही, पृष्ठ ३०।

श्री रामकृष्णादि उच्चकोटि के रहस्यवादियों के अब तक के अध्ययन से यही विदित होता है कि उन्होंने जो भी धार्मिक साधनाएं कीं, संघर्ष और व्याकुलता का सामना किया, वह किसी यश, मान या वैभव प्राप्ति के लिए नहीं, वरन् धर्म मात्र, धर्म के ही लिए। अतः रहस्यवादियों की निष्काम और अहेतुकी भक्ति के आधार पर तो यही ज्ञात होता है कि धर्म का विशिष्ट आन्तरिक मूल्य है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

अंग्रेजी पुस्तकें

अखिलानन्द स्वामी — हिन्दू व्यू ऑफ क्राइस्ट
(न्यूयार्क, फिलासफिकल लाइब्रेरी, १९४९)

अखिलानन्द स्वामी — हिन्दू साइकॉलाजी-इट्स मीनिंग फार द वेस्ट,
(लन्दन, रोटलेज ऐण्ड कीगन पाल लि० १९५२)

अखिलानन्द स्वामी — मेन्टल हेल्थ ऐण्ड हिन्दू साइकॉलाजी,
(लन्दन, जार्ज एलेन ऐण्ड अनविन लि० १९५२)

अभेदानन्द स्वामी — ट्रू साइकॉलाजी (द्वितीय संस्करण)
(कलकत्ता—रामकृष्ण वेदान्त मठ, १९५४)

अभेदानन्द स्वामी — लाइफ बियान्ड डेथ—(तृतीय सस्करण)
(कलकत्ता—रामकृष्ण वेदान्त मठ, १९६०)

अन्डरहिल, एवेलिन — मिस्टिसिज्म (बारहवाँ संस्करण)
(लन्दन, मैथुएन ऐण्ड कम्पनी लि० १९६०)

अलबर्ट स्वीजर — इण्डियन थाट ऐण्ड इट्स डेवलपमेन्ट,
(लन्दन, ब्लैक १९५१)

अर्नेस्ट नेगल तथा मोरिस आर कोहेन — ऐन इन्ट्रोडक्शन टू लॉजिक ऐण्ड साइन्टिफिक मेथड
(प्रथम सस्करण)
(लन्दन रोटलेज ऐण्ड कीगनपाल लि० १९३४)

अक्षरज्ञ — श्री रमन (तृतीय संस्करण)
(तिरुवन्ना मलाई श्री रमन आश्रम—१९४८)

अर्नेस्ट रेनन — द लाइफ ऑफ जेसस
(लन्दन-वाट्स ऐण्ड कम्पनी, १९०४)

आर० जी० गार्डन — द न्यूरोटिक पर्सनालिटी,
(लन्दन, कीगनपाल, ट्रन्च ट्रियूबनर ऐण्ड कं० १९२७)

आर एच० थुले — (ऐन इन्ट्रोडक्शन टू द साइकॉलाजी ऑफ रिलीजन
(द्वि०सं०) (कैम्ब्रिज ऐट द युनीवर्सीटी प्रेस १९६१)

आइसर उड क्रिस्टाफर – रामकृष्ण ऐण्ड हिज डिसाइपुल्स
(कलकत्ता—अद्वैत आश्रम, १९६५)

आत्रेय बी० एल० – ऐन इन्ट्रोडक्शन टू पैरासाइकॉलाजी
(बनारस, कुमार पब्लिकेशन, सन् १९५२)

आर०आर० दिवाकर – परमहंस श्री रामकृष्ण,
(बम्बई, भारतीय विद्याभवन, १९५६)

इरा प्रोगाफ – युन्ग साइकॉलाजी एण्ड इट्स सीमिन्ग मीनिंग
(न्यूयार्क, ग्रोव प्रेस, १९५५)

इन्ज डब्ल्यू० आर० – मिस्टिसिज्म इन रिलीजन
(लन्दन, हचिन्सन यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी)

इन्ज – स्टडीज ऑफ इगशिल मिस्टिक्स, लन्दन, मर्रे, १९२१)

ई० जे० टामस – हिस्ट्री ऑफ बुद्धिस्ट थाट
(लन्दन, रोटलेज ऐण्ड कीगन पाल कं० लि० १९५३)

ई० जे० टामस – द लाइफ ऑफ बुद्ध (तृतीय संस्करण)
(लन्दन रोटलेज ऐण्ड कीगन पाल १९४९)

एस० एन० दास गुप्त – द हिन्दू मिस्टिसिज्म
(लन्दन, द ओपेन कोर्ट कम्पनी लि० १९५७)

एस० एन० दास गुप्त – रिलीजन ऐण्ड रेशनल आउटलुक
(इलाहाबाद, लॉ जर्नल कम्पनी लि० १९५४)

एम० विन्टर नित्स – ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिट्रेचर (प्रथम भाग)
(कलकत्ता यूनिवर्सिटी १९२७)

एम० जो० आर० अलबर्ट फार्जेस – मिस्टिकल फेनामेना
(लन्दन, बर्नस, ओट्स ऐण्ड बाशबोर्न, लि० १९२६)

एम० मैकॉलिफ – द सिक्स रिलीजन, ए सिम्पोजिअम, सिविलज्म,
(कलकत्ता—फ्रेडरिक पिन्काट, १९५८)

एडवर्ड कोन्जे – बुद्धिज्म,
(आक्सफोर्ड, ब्रूनो कैसिरर, १९५१)

एफ० एफ० ब्रूस – द न्यूटेस्टामेण्ट डाकूमेण्ट्स (पंचम संस्करण)
(लन्दन, द इन्टरवर्सिटी फेलोशिप, १९६०)

ए० एम० ए० सोस्त्री – आउट लाइन्स ऑफ इस्लामिक कल्चर (द्वि० सं०)
(भाग एक तथा दो)

(बंगलोर, द बंगलोर प्रिंटिंग ऐण्ड पब्लिशिंग कम्पनी
लिमिटेड, मैसूर रोड, १९५४)

एडगर शेफिल्ड ब्राइटमैन – द स्प्रिचुएल लाइफ,
(न्यूयार्क, एबिंगटन कोक्सबरी प्रेस १९४२)

एलेक्जेन्डर – स्पेस, टाइम ऐण्ड डिइटी, (भाग दो)
(लन्दन, मैकमिलन, १९२०)

एल्फ्रेड एडेरशिम लाइफ ऐण्ड टाइम्स ऑफ जेसस द मसीह
(भाग एक, सातवाँ संस्करण)
(लांग मैन, ग्रीन ऐण्ड कम्पनी १८९२)

ए० सी० बाऊक्वेट – सेक्रेड बुक्स ऑफ द वर्ल्ड
(लन्दन, कैसेल ऐण्ड कम्पनी लि० १९५४)

ओल्डेन बर्ग-हरमन – बुद्ध-हिज लाइफ, हिज डाक्ट्रिन, हिज आर्डर
(अनुवादक वि० होम)
(कलकत्ता, द बुक कम्पनी लि० १९२७)

ओ० स्पर्जन इंगलिश – एमोशनल प्राबलम्स ऑफ लिविंग
गेराल्ड एच०जे०पियर्सन (लन्दन, जार्ज एलेन ऐण्ड अनविन, १९५५)

कास्टर जी० – योग ऐण्ड वेस्टर्न साइकॉलाजी
(लन्दन, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस १९५०)

कोलमैन जेम्स सी – अबनार्मल साइकॉलाजी ऐण्ड माडर्न लाइफ (द्वि० सं०)
(शिकागो, स्काट कोर्स मैन ऐण्ड कम्पनी १९५६)

गैलोवे जी० – द फिलासफी ऑफ रिलीजन
(एडिनबर्ग टी० ऐण्ड टी० क्लार्क १९५१)

जार्ज ब्रान्टल – ग्रेट रिलीजन ऑफ द माडर्न मैन, कैथोलिसिज्म
(न्यूयार्क, जार्ज ब्रेजिलर, १९६२)

जान एल्डेन विलियम्स – सम्पादक—ग्रेट रिलीजन ऑफ द माडर्न मैन इस्लाम
(न्यूयार्क, जार्ज ब्राजिलर, १९६२)

जेम्स विलियम – प्रेगमेटिज्म
(लन्दन, लाग मैन्स, १९०८)

जेम्स बी० प्रेट – द रिलीजस कान्सससनेस
(न्यूयार्क, द मैकमिलन कम्पनी, १९५९)

जेम्स एच० ल्यूबा — द साइकॉलाजी ऑफ रिलीजस मिस्टिसिज्म
(न्यूयार्क, हरकोर्ट ब्रेस ऐण्ड कम्पनी, १९२९)

जे० एफ० ब्राउन — द साइकोडाइनेमिक्स ऑफ अबनार्मल बिहेवियर
(प्रथम सुस्करण)
(न्यूयार्क, मैक ग्राहिल, १९४०)

जे० बी० वाटसन — बिहेवियरिज्म
(न्यूयार्क, द पीपुल्स इन्सटीट्यूट, १९२५)

जैकाब हेल्म — वेस्टर्न साइकोथिरापी ऐण्ड हिन्दू साधना
(लन्दन, रस्किन हाउस, जार्ज एलेन ऐण्ड अनविन १९६१)

जोगेन्द्र सिंह ऐण्ड सन्नसर — गुरु नानक
(सम्पादक वी० बी० एल० वेदी)
(दिल्ली, द युनीटी पब्लिशर्स)

जोड, सी० ई० एम० — काउन्टर अटैक फ्राम द ईस्ट
(लन्दन, एलेन ऐण्ड अनविन, १९३३)

जोड, सी० ई० एम० — द रिकवरी ऑफ फेथ
(लन्दन, फेबर ऐण्ड फेबर १९५२)

डब्ल्यू० टी० स्टेस — रिलीजन ऐण्ड द मार्डन माइन्ड
(लन्दन, मैकमिलन ऐण्ड कम्पनी १९५३)

डब्ल्यू टी० स्टेस — मिस्टिसिज्म ऐण्ड फिलॉसफी
(लन्दन, मैकमिलन ऐण्ड कम्पनी, १९६१)

डब्ल्यू० टी० स्टेस — टीचिंग ऑफ द मिस्टिक्स
(न्यूयार्क, मेन्टर, १९६०)

डब्ल्यू० बी० सेलेबी — द साइकॉलाजी ऑफ रिलीजन
(आक्सफोर्ड ऐट द क्लारेन्डन प्रेस १९२६)

डब्ल्यू० ई० हाकिंग — द मीनिंग ऑफ गॉड् इन ह्यूमन एक्सपीरिएन्स
(न्यू हैवेन (यू० एस० ए०) येल, १९१२)

डब्ल्यू० फारेर, फ्रेडरिक — द लाइफ ऑफ क्राइस्ट
(लन्दन, कैसेल ऐण्ड कम्पनी १८९०)

डब्ल्यू एम० अर्बन — फण्डामेन्टल्स ऑफ एथिक्स
(न्यूयार्क, हेनरी हाल्ट ऐण्ड कम्पनी १९५६)

डाम कुथवर्ट बटलर — वेस्टर्न मिस्टिसिज्म (द्वितीय संस्करण)
(लन्दन, कान्सटेबल ऐण्ड कम्पनी १६२६)

डी० एम० आर्मस्ट्रॉग — परसेप्सन ऐण्ड द फिजिक्ल वर्ल्ड
(लन्दन, कीगन पाल, १६६१)

दत्त धीरेन्द्र मोहन — कन्टेम्पोररी फिलॉसफी
(कलकत्ता यूनिवर्सिटी १६५०)

नलिनी कान्त गुप्त — द अप्रोच टू मिस्टिसिज्म (प्रथम संस्करण)
(मद्रास, श्री अरविन्द लाइब्रेरी १६४६)

निखिलानन्द स्वामी — द गास्पेल ऑफ श्री रामकृष्ण
(मद्रास श्री रामकृष्ण मठ, मैरपोर १६५७)

निर्वेदानन्द स्वामी — रिलीजन ऐण्ड माडर्न डाउट्स
(बंगाल, विद्यामन्दिर, धाकुरिया १६४५)

पी० एन० श्री निवासचारी — मिस्टिक्स ऐण्ड मिस्टिसिज्म
(मद्रास, श्री रामकृष्ण लाइब्रेरी चित्रकुलम मैलयोर १६५१)

प्लूटार्क — लाइब्ज (सिलेक्टड)
(न्यूयार्क मेन्टर बुक्स १६५२)

महेन्द्र नाथ सरकार — मिस्टिसिज्म न भगवद्गीता
(कलकत्ता, भारतीय विद्यालय, १६४४)

महेन्द्र नाथ सरकार — हिन्दू मिस्टिसिज्म (भाग एक)
(कलकत्ता, भारती महाविद्यालय, १६४३)

महेन्द्र नाथ सरकार — द मिस्टिक एक्सपीरिएन्स ऐण्ड समाधि
(कलकत्ता, भारती महाविद्यालय, १६४६)

मुहम्मद अली मौलाना — द होली कुरान (चौथा संस्करण)
(लाहौर पाकिस्तान अहमदियाह, अन्जुमन इसाहात इस्लाम १६५१)

मुहम्मद अली — मुहम्मद द ग्रेट प्राफेट (तृतीय संस्करण)
(लाहौर, पाकिस्तान अहमदियाह, अन्जुमन इसाहात इस्लाम १६५१)

मुहम्मद जफरुल्ला खाँ — रिलीजस प्रासपेक्टिव (सातवाँ भाग) इस्लाम दूस

मीनिंग फार माडर्न मैन। (लन्दन, रोटलेज ऐण्ड कीगन पाल १९६२)

मूर्ति टी० आर० वी० — द सेन्ट्रल फिलॉसफी ऑफ बुद्धिज्म
(लन्दन, जार्ज एलेन एण्ड अनविन १९६०)

मैक्समूलर — द लाइफ ऐण्ड सेइंग्स ऑफ रामकृष्ण
(अल्मोड़ा, अद्वैत आश्रम मायावती, १९५१)

मॉर्टन प्रिन्स — द डिसोसिएशन ऑफ पर्सनालिटी (द्वितीय सं०)
(न्यूयार्क, लाग्स मैन ग्रीन १९३०)

युंग सी० जी० — माडर्न मैन इन सर्च ऑफ सोल (अनुवादक डब्ल्यू० एस० डेल ऐण्ड केरी एफ० बैनेस
(लन्दन रोटलेज ऐण्ड कीगन पाल १९३३)

युग सी० जी० — इन्टेग्रेशन ऑफ पर्सनालिटी (अनुवादक स्टेनली डेल
(लन्दन, कीगन पाल, १९३९)

युग सी० जी० — द अनडिसकवर्ड सेल्फ (अनुवादक आर० एफ० सीहल
(न्यू अमेरिकन लाइब्रेरी)

रसेल बर्ट्रेण्ड — सेलेक्टेड पेपर्स ऑफ बर्ट्रेण्ड रसेल
(न्यूयार्क-द माडर्न लाइब्रेरी, १९५५)

रसेल बर्ट्रेण्ड — रिलीजन ऐण्ड साइंस
(लन्दन, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस १९५८)

राधाकृष्णन् सर्वपल्ली — इस्टर्न रिलीजन्स ऐण्ड वेस्टर्न थाट (द्वितीय संस्करण
(लन्दन, आक्सफोर्ड यूनवर्सिटी प्रेस, १९४०)

राधाकृष्णन् — इण्डियन फिलॉसफी (प्रथम भाग)
लन्दन, जार्ज एलेन ऐण्ड अनविन १९४८)

राधाकमल मुकर्जी — द थियरी ऐण्ड आर्ट ऑफ मिस्टिसिज्म
(बम्बई, एशिया पब्लिशिंग हाउस १९६०)

रानाडे आर० डी० — इण्डियन मिस्टिसिज्म (मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र)
(पूना, आर्य भूषण प्रेस, आफिस १९३३)

राम स्वामी के० एस० — द इवोल्यूशन ऑफ इण्डियन मिस्टिसिज्म
(बम्बई, इण्टरनेशनल बुक हाउस)

राय गिरजा शंकर — वैलिडिटी ऑफ रिलीजस एक्सपीरिएन्स
शोध-प्रबन्ध, अप्रकाशित (पी० एच० डी० डिग्री बनारस, हिन्दू यूनिवर्सिटी १९६१)

रोमाँरोलाँ — द लाइफ ऑफ रामकृष्ण भाग एक)
(अल्मोड़ा, अद्वैत आश्रम मायावती १९५४)

लामा अनागरिक गोविन्द — फाउण्डेशन्स ऑफ तिब्बतन मिस्टिसिज्म
(लन्दन, राइडर कम्पनी. १९५९)

लारेंस ब्रदर — द प्रैक्टिस ऑफ द प्रजेंस ऑफ गाड
(न्यूयार्क, फलेमिंग एच० रीवेल '१८९५)

वर्गसाँ — इन्ट्रोडक्शन टू मेटाफिसिक्स
(लन्दन, मैकमिलन, १९१३)

व्हाइट हैड — रिलीजन इन द मकिंग, (कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, १९२६)

विलियम ब्राउन — माइण्ड ऐण्ड परसनालिटी
(लन्दन यूनिवर्सिटी प्रेस, १९२९)

वासुदेव जगन्नाथ कीर्तिकर — स्टडीज इन वेदान्त
(बम्बई, तारापुरवाला, १९२४)

बेनेट चार्ल्स ए० — फिलाँसफिक्स स्टडी ऑफ मिस्टिसिज्म
(न्यू हैवेन, येल यूनिवर्सिटी प्रेस, १९२३)

साधु शान्ति नाथ — साधना
(पूना ओरियन्टल बुक एजेन्सी, १९३८)

साधु मौनी — समाधि, (लन्दन जार्ज एलेन अनविन १९६३)

सिगमन्ड फ्रायड — न्यू इन्ट्रोडक्टरी लेक्चर्स ऑन साइकोएनालिसिस
(अनुवादक डब्ल्यू० जे० एच० स्प्राट)
(न्यूयार्क, नर्टिन लाइब्रेरी, १९६३)

सिगमाण्ड फ्रायड — टोटम ऐण्ड टैबू
(लन्दन, द हागर्थ प्रेस, १९४९)

सिन्हा जदुनाथ — इण्डियन साइकॉलाजी (द्वितीय भाग) (द्वि· संस्करण)
(कलकत्ता, सिन्हा पब्लिशिंग हाउस, १९५८)

सिन्हा जदुनाथ — इण्डियन साइकॉलाजी, (द्वितीय भाग)
(सिन्हा पब्लिशिंग हाउस कलकत्ता १९६१)

सिद्धेश्वरानन्द स्वामी — मेडीटेशन एकार्डिंग टू वेदान्त (फ्रेंच से अंग्रेजी अनुवाद)
(त्रिचुर, श्री रामकृष्ण आश्रम, १९६६)

सिद्धेश्वर भट्टाचार्य — द फिलॉसफी ऑफ भागवत् (द्वितीय भाग) (शान्ति निकेतन, विश्वभारती, १९६१)

हरिदास भट्टाचार्य — द कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया (भाग चार) (कलकत्ता, द रामकृष्ण मिशन इन्सटीट्यूट ऑफ कल्चर १९५६)

ह्यूग्स, टी० एच० — न्यू साइकालॉजी ऐण्ड रिलीजस एक्सपीरिएन्स (लन्दन, एलेन ऐण्ड अनविन, १९३३)

हारवर्ट मावरर — न्यूरोसिस एण्ड इट्स ट्रीटमेंट (शिकागो, द डेलफीनियन, सोसायटी, १९४९)

हेड फील्ड जे० ए० — मेन्टल हेल्थ ऐण्ड साइकोन्यूरोसिस (लन्दन, अनविन १९५२)

उर्दू पुस्तकें

अब्दुल वहीद खाँ — तारीख अफकारो सयासियाले इस्लामी (लखनऊ यूनाइटेड इण्डियन प्रेस १९४२)

ख्वाजा इबादुल्ला अख्तर — मजाहिबे इस्लामिया एदारए सकाफले इस्लामिया (लाहौर १९५२)

मौलाना मुहम्मद — जाफर नदवी-मुकामे सुन्नत, एदारए सकाफले इस्लामिया (लाहौर १९५२)

शिबली नोमानी — सीरतुन्नबी (दारुल मुसन्नफीन, आजमगढ़)

अरबी पुस्तकें

इब्नेहशाम — सीरतुन्नब्वीया (लन्दन १८४२)

इब्नेसाद — अत्तबकातुल कोबरा (लन्दन १८४२)

बोखारी — सहीबोखारी (लन्दन १८४२)

सुयूती — हुस्नबल-मुहाजरह (काहेरा १३२१ हिजरी)

हिन्दी पुस्तकें

अरविन्द — गीता प्रबन्ध (प्रथम भाग) (तृतीय संस्करण) (पांडेचेरी, श्री अरविन्द आश्रम १९५४)

अरविन्द — गीता प्रबन्ध (द्वितीय भाग प्रथम खण्ड) (प्र० सं०) (पांडेचेरी अरविन्द आश्रम १९५५)

अरविन्द — गीता प्रबन्ध (द्वितीय भाग द्वितीय खण्ड) (प्र० सं०)
(पांडेचेरी अरविन्द आश्रम १९५९)

अहमद बशीर मौलवी — कुरान शरीफ (हिन्दी अनुवाद) (छठाँ संस्करण)
(लखनऊ प्रभाकर साहित्य लोक रानी कटरा १९६४)

उमेश मिश्र — भारतीय दर्शन
(लखनऊ प्रकाशन ब्यूरो) (उत्तर प्रदेश १९५७)

एल्फ्रेड एडलर — हमारे जीवन का अर्थ (अनुवादक-ओम प्रकाश)
(द्वितीय सस्करण) (भाग छ.)
(दिल्ली राजकमल प्रकाशन, १९५६)

कनिंघम जे० डी० — सिक्खों का इतिहास (अनुवादक रमेश तिवारी सुरेश तिवारी)
(वाराणसी इतिहास प्रकाशन संस्थान, १९६५)

कपिल देव पाण्डेय — मध्यकालीन साहित्य मे अवतारवाद
(वाराणसी चौखम्भा विद्याभवन १९६३)

कपूर ओ० बी० एल० — दर्शन दर्पण
(आगरा-रतन प्रकाशन, १९६१)

कैल्विन एस० हाल — फ्रायड मनोविज्ञान प्रवेशिका (अनुवादक बी०डी०भट्ट
(दिल्ली राजकमल प्रकाशन, १९६३)

कृष्णदास कविराज — चैतन्य चरितामृत (ब्रजभाषा पद्यानुवादः—अनुवादक सुबलश्याम, बाबा कृष्णदास, कुसुमसरोवर सं० २००६

गुरुग्रन्थ साहिब (नागरी लिपि में) — शिरोमणि गुरु द्वारा प्रबन्धक कमेटी अमृतसर १९५१ ई०।

गोपीनाथ कविराज डॉ० — भारतीय संस्कृति और साधना (प्रथम भाग प्र० सं०)
(पटना, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, १९६३)

गोविन्द सिंह — इतिहास गुरु खालसा (बम्बई, गंगाविष्णु श्रीकृष्ण दास लक्ष्मी वेंक्टेश्वर सम्वत् १९८२)

जयराम मिश्र डॉ० — श्री गुरु ग्रन्थ दर्शन
(प्रयाग साहित्य भवन प्र० लि० १९६०)

तिलक बाल गंगाधर — गीता रहस्य
पूना तिलक मन्दिर गायक वाड वाडा, १९६२)

तुलसी दास — रामचरित मानस
(गीता प्रेस, गोरखपुर सं० २०१८)

देवराज डॉ० संस्कृत का दार्शनिक विवेचन
(लखनऊ, प्रकाशन ब्यूरो उ० प्र० १९५७)

धर्मानन्द कौसम्बी – भगवान् बुद्ध (अनुवादक श्री पाद जोशी)
(दिल्ली राजकमल प्रकाशन, १९५६)

नित्यात्मानन्द स्वामी – श्री 'म' दर्शन (प्रथम संस्करण)
(रोहतक श्री रामकृष्ण श्री 'म' प्रकाशन १९६५)

परशुराम चतुर्वेदी – रहस्यवाद
(पटना, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, १९६३)

फ्रायड – मनोविश्लेषण (अनुवादक, देवेन्द्र कुमार वेदालंकार)
(राजपाल ऐण्ड सन्स, १९६०)

प्रभु दयाल मित्तल – चैतन्य मत और ब्रज साहित्य
(मथुरा साहित्य संस्थान, १९६२)

बलदेव उपाध्याय आचार्य – संस्कृत साहित्य का इतिहास (चतुर्थ संस्करण)
(बनारस, शारदा मन्दिर, १९६०)

बाइबिल (धर्मशास्त्र- अर्थात् पुराना और नया धर्म नियम) – (हिन्दी) भारत, लंका बाइबिल समिति
(बंगलौर, १९६१)

विनय पिटक – (हिन्दी अनुवाद) महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस)
(राहुल सांस्कृत्यायन) १९३५,

बिनोबा – गीता प्रवचन (ग्यारहवाँ सं०)
(राजघाट काशी, १९४७)

वृन्दावन दास ठाकुर – चैतन्य भागवत (हिन्दी अनुवाद) अनुवादक रामलाल
(बाबा कृष्णदास, कुसुम सरोवर, सम्वत् २०१५)

भरत सिंह उपाध्याय – पालि साहित्य का इतिहास
(हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, १९५१)

भरत सिंह उपाध्याय – बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन (प्रथम भाग, प्रथम संस्करण) (बंगला हिन्दी मण्डल, कलकत्ता, १९५४)

'म' श्री – श्री रामकृष्ण वचनामृत, अनुवादक, सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला" प्रथम भाग, तृतीय संस्करण, १९५० ।

द्वितीय भाग—तृतीय संस्करण, १९६३।
तृतीय भाग—द्वितीय संस्करण, १९५८।
(श्री रामकृष्ण अद्वैताश्रम, धनतोली, नागपुर)

मज्झिम निकाय (हिन्दी अनुवाद (राहुल सांस्कृत्यायन) — महाबोधि सभा सारनाथ, बनारस १९३३)

रसैलबर्ट्रेण्ड — विवाह और नैतिकता अनुवादक, धर्मपाल) (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली)

इब्ने खलदून का मुकद्दमा — (विश्व इतिहास की प्रस्तावना) अनुवादक, डॉ० सैयद अतहर, अब्बास रिज्वी' (प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग, उ० प्र०, प्र० सं०)

राधाकृष्णन् — श्रीमद्भगवद्गीता भाष्य, (हिन्दी, प्रथम संस्करण) अनुवादक, विराज एम० ए०) (राजपाल ऐण्ड सन्स, दिल्ली १९६२)

राधाकृष्णन् — जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि (अनुवादक कृष्ण चन्द्र) (प्रथम संस्करण) (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली १९६२)

राधाकृष्णन् — धर्म और समाज (अनुवादक, विराज एम० ए०) (तृतीय संस्करण) (राजकमल ऐण्ड सन्स, दिल्ली १९६३)

राधाकृष्णन् — सत्य की ओर (अनुवादक, रामनाथ सुमन) (प्रथम संस्करण) (राजपाल ऐण्ड सन्स, १९६३)

राहुल सांस्कृत्यायन — बुद्धचर्य्या (द्वितीय संस्करण) (महाबोधि सभा सारनाथ, बनारस १९५२)

रामकुमार राय डॉ० — असामान्य मनोविज्ञान (चौखम्भा, विद्याभवन वाराणसी १९६०)

विवेकानन्द स्वामी — राजयोग—(तृतीय संस्करण) (श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर १९६१)

विवेकानन्द स्वामी — भक्ति योग (श्री रामकृष्ण आश्रम धन्तोली, नागपुर १९६२)

विवेकानन्द स्वामी — मेरे गुरुदेव—(सातवाँ संस्करण)
श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर)

वीणापाणि, श्रीमती — हरिवंश पुराण का सांस्कृतिक विवेचन
(प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, १९६०)

शोभा — देहधारी ईश्वर (अनुवादक—आनन्दकुमार)
(तृतीय संस्करण)
(मसीही साहित्य संस्था, नई दिल्ली १९६५)

शारदानन्द स्वामी — श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग (प्रथम भाग)
(अनुवादक—नृसिंह वल्लभ)
(श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर १९६३)

शारदानन्द स्वामी — श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग (द्वितीय भाग)
(अनुवादक—नृसिंह वल्लभ १९६३,

शारदानन्द स्वामी — श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग (तृतीय भाग)
(अनुवादक गोपाल चन्द १९६२)
(अनुवादक गोपाल चन्द १९६८)

सीताराम जायसवाल डॉ० — मनोविज्ञान की ऐतिहासिक रूपरेखा
(हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश
लखनऊ, १९६३)

सुन्दरानन्द विद्याविनोद — श्री चैतन्यदेव
(गौडीय मिशन, बाग बाजार, कलकत्ता १९५३)

हैवलाक एलिस — साइकालॉजी ऑफ सेक्स (हिन्दी अनुवादक मन्मथ
नाथ गुप्त) (यौन मनोविज्ञान)
(राजपाल ऐण्ड सन्स, दिल्ली १९६३)

संस्कृत पुस्तकें

ईशावास्योपनिषद् — (नवल किशोर प्रेस बुक डिपो, लखनऊ, सं० १९९९)

कठोपनिषद् — (गीता प्रेस, गोरखपुर (हिन्दी) शांकरभाष्य,
संम्वत् २०२१,

छान्दोग्योपनिषद् — (हिन्दी टीका) (शांकर भाष्य)
(गीता प्रेस गोरखपुर, सं० २०१९)

तैत्तिरियोपनिषद् — (हिन्दी टीका) (शांकर भाष्य)
(गीता प्रेस, गोरखपुर सं० २००९)

दुर्गा सप्त शती — (हिन्दी टीका) (रामनारायण दत्त) (गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०२१).

नारद भक्त-सूत्र — हिन्दी टीका (हनुमान प्रसाद पोद्दार) — (गीता प्रेस गोरखपुर, सं० २०२०)

पातंजलि-योग सूत्र —(हिन्दी टीका) (गोयन्दका) (गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०२०)

प्रश्नोपनिषद् — (शाकर भाष्य) हिन्दी टीका (गीता प्रेस गोरखपुर, सं० २००९)

महाभारत — (हिन्दी टीका) (५ भाग) अनुवादक—राम नारायणदत्त (गीता प्रेस गोरखपुर, सं० २०२३)

माण्डूक्योपनिषद् — हिन्दी टीका— शांकर भाष्य (गीता प्रेस गोरखपुर, सं० २००९)

मुण्डकोपनिषद् - हिन्दी टीका (शाकर भाष्य) (गीता प्रेस गोरखपुर, सं० २००९)

वेदान्त सार — जेकाव संस्करण—बम्बई, १९२५

शाण्डिल्य — भक्ति-सूत्र (हिन्दी) राम नारायण दत्त (गीता प्रेस गोरखपुर, सं० २०१६)

शिव संहिता — हिन्दी टीका—श्री रामचरण पुरी (वेंकटेश्वर प्रेस प्रकाशन बम्बई, १९६०)

शंकराचार्य-भाष्य — श्री मद्भगवद्गीता (हिन्दी अनुवादक) (श्री रामकृष्ण दास गोइन्दका) (दशम संस्करण) (गीता प्रेस गोरखपुर, सं० २०१०)

शंकराचार्य — अपरोक्षानुभूति (हिन्दी अनुवादक—मुनि लाल) (गीता प्रेस गोरखपुर, सं० २०१४).

शंकराचार्य — विवेक चूड़ामणि (हिन्दी टीका—मुनिलाल) (गीता प्रेस गोरखपुर, सं० २०२०).

श्रीमद्भागवत् महापुराणम् (दो भाग) — (हिन्दी टीका) (पंचम संस्करण, सम्वत् २०२१) (गीता प्रेस गोरखपुर)

श्वेताश्वर उपनिषद् — (हिन्दी टीका—शाकर भाष्य) (गीता प्रेस गोरखपुर, सं० २००९)

ऋग्वेद — वैदिक संशोधन मण्डल, वैदिक रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १९४६।

जरनल, पत्रिका एवं शब्दकोश

अरविन्द के पत्र — (भाग १ व २) सम्पादक—डॉ० इन्द्रसेन प्रदिति कार्यालय, श्री अरविन्द आश्रम पांडिचेरी १९५३)

एनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स — (भाग २) तृतीय संस्करण, सम्पादक जेम्स हास्टिंग्स (एडिन बर्ग टी० एण्ड टी० क्लार्क १९५३)

डिक्सनरी ऑफ मिस्टिसिज्म — फ्रेन्कायेनर (फिलासफिकल लाइब्रेरी न्यूयार्क १९५३)

द स्टूडेण्ट्स संस्कृत—इंगलिश डिक्सनरी — वामन शिवराम आप्टे (भारत सरकार १९६५)

दर्शन इण्टरनेशनल — (सम्पादक—डॉ० आत्रेय) (मुरादाबाद अगस्त १९६३ अप्रैल १९६५)

धर्मयुग — (सम्पादक—डॉ० धर्मवीर भारती, १६ जुलाई १९६७)

प्रबुद्ध भारत — (अद्वैत आश्रम कलकत्ता)

फिलॉसफिकल क्वार्टरली — (द इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ फिलॉसफी, अमलनेर) वालूम १२, १९६६

ब्लिट्ज ३ दिसम्बर ६६

बुलेटिन ऑफ द रामकृष्ण मिशन — (इन्स्टीट्यूट ऑफ कल्चर, कलकत्ता)

.... — (रिसर्च जरनल ऑफ फिलॉसफी एण्ड सोसल साइन्सेस वालूम—प्रथम नं० १, १९६३) (सम्पादक—रामनाथ शर्मा, मेरठ)

वेदान्त केसरी — भाग ५३, संख्या ११, भाग ५, १० मई १९१८ १९३३ अप्रैल १९२४। मैल पोट मद्रास।

वेदान्त फार ईस्ट एण्ड वेस्ट — नं० ८८, ८६, ६२ (१९६६). सम्पादक—स्वामी घनानन्द परहितानन्द (वेदान्त सेन्टर, लन्दन)

साधना – सम्पादक रूप नरायन ...न
कनखल, मई, १९६६।

साप्ताहिक हिन्दुस्तान – १० सितम्बर १९६०।

संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ – द्वारका प्रसाद, तारिणी शंकर झा (द्वि० संस्करण १९५७)
(रामनारायण लाल, इलाहाबाद)

हिन्दी अंग्रेजी-शब्द सूची

अचेतन अथवा अवचेतन	—Unconscious
अति सामान्य	—Super Normal
अन्तर्मुखी	—Introvert
अपस्मार	—Epilepsy
अभिलेख	—Documents
अव्यवहित	—Conspicuous
अवस्तुबोधन	—Hallucination
असामान्य	—Abnormal
अहं	—Ego
आत्म आक्रमण	—Self aggression
आत्मगत या आत्मनिष्ठ	—Subjective
आत्म निर्देशन	—Auto suggestion
आनुवंशिकता या वंशपरम्परा	—Heredity
आविर्भाव	—Resurrection
आयाम	—Dimension
इदं	—Id
ऊर्जा	—Energy
उदात्तीकरण या परिमार्जन	—Sublimation
उन्मादिक	—Hysteric
उन्मादिक मूर्च्छा या उन्मादात्मक दौरे	—Hysterical fits
काम-शक्ति या जिजीविषा	—Libido
गत्यात्मक शक्ति	—Dynamic Force
गुणात्मक	—Qualitaive
तेजस शरीर	—Aura body
दर्शन	—Vision
दिव्य शरीर	—Astral Body
दैनन्दिनी	—Diary
दैवी प्रकाशन	—Revelation

दूर विकीरण	—Radiation at a distance
नकारात्मक	—Negative
नवशब्द रचना	—Neulogism
निर्बाध क्रिया	—Free action
परा अहं	—Super Ego
परिवर्तन या धार्मिक जागरण	—Conversion
परिमाणात्मक	—Quantitative
प्रतिमान	—Norm
प्रतीक	—Symbol
प्रभाव	—Impressions
प्रक्षेपण	—Projection
प्रातिभ ज्ञान या प्रातिभ	—Intution
प्रामाणिकता	—Validity
फलवाद	—Pragmatism
बहुव्यक्तित्व	—Multiple personality
बहिर्मुखी	—Extrovert
भावात्मक	—Positive
भाव रूप	—Abstract
मनोविकृति शास्त्रज्ञ	—Psychopathologist
मनोविदिलता	—Schizophrenia
मूल्य	—Value
यमज	—Twin
रागात्मक	—Humorous
व्यवहारवाद	—Behaviourism
व्यामोह	—Delusion
वस्तुगत या वस्तुनिष्ठ	—Objective
विश्वातीत, सर्वातिशायी	—Transcendental
वैयक्तिकता	—Individuality
शिश्नीय अवस्था	—Phallic stage
स्नायु विकृति	—Neurasthenia
समायोजन	Adjustment

सम्बन्धित चेतना	—-Related consciousness
सम्मिलित की क्रिया	— Incorporation
सम्मोहन	— Hypn osis
स्मारक चिन्ह	— Memorial
स्वात्म प्रेम	— Narcissism
सामूहिक या जातीय अवचेतन	— Racial Unconscious
सामान्य	— Normal
हर्षोन्माद	— Delirious mania

अनुक्रमणिका

(अ)

अखिलानन्द स्वामी १५६,२०३
अचेतन १६८,२२६,२४३,२४८
अचेतनमन २३६
अण्डरहिल कुमारी २४
अतिचेतन २४४
अतिमानस ३०,२४१
अतिमानसिक चेतना १६६
अतीन्द्रिय ५,१७,२२७,२४०,२५०
अद्वैतभूमि १४४
अद्वैताचार्य ७२
अन्तर्मुखी रहस्यवादी १२
अनुभूतियों की विशेषताएँ १२
अन्तर्मुखी वृत्ति १०
अन्तर्मुखी ८,१५
अन्नमय कोष २३६
अनागारिक गोविन्द २३
अनाहत नाद १८१
अनाहत ब्रह्म २३४
अनाहत शब्द १४१,१८०
अनिर्वचनीय १,१७,१८,१६,२१,२६
२२१
अनोमान ६७
अपस्मार १६६,२४१,२४२,२४३,
२४७
अबदुल्ला ६६
अब्रासिया ६७
अबूशाह ६७
अबू होरैरा ६६
अभिसम्बोध ६१
अभेद १४६
अरविन्द ३०
अलबर्ट स्वीजर २४
अलमौता ६८
अवचेतन ११६,१२६,१८०
सामूहिक या जातीय १२०
अवचेतन स्तर १२२
अवतार ६०
अवस्तुबोधन १७३,१७४,१७५,१७७
१७८,१७६,१८०,१६३,१६६,२४३
अविद्या स्त्री २२३
अष्टांग योग २२५,२२८
असम्प्रत ज्ञान २२६
असम्प्रेषणीयता
असामान्य ११६,१२४,१६१,२४१,
२५४
असामान्य मनोविज्ञान ६६
अहं १५८,१५८,१८३
अत्रेय डॉ० १२२
अहं-इदं २४३

(आ)

आइसर उड १०१
आर्के टाइप २७२
आणुविक सिद्धान्त २६३
आत्म निर्देशन २४३
आत्म विरोधी १७
आत्म विरोधी कथन १७
आत्म समर्पण २०,१५५,१५६
आद्याशक्ति २१३
आध्यात्मिक अर्थ ३२
आध्यात्मिक अन्वेषण १३०,१३२,१८२
आध्यात्मिकता १२६
आध्यात्मिक विरह १३२,१३६,१६३,
२०७
आधुनिक मनोविज्ञान १२३,१६४,
२०३,२२३
आनन्दमय कोष २३२,२३६
आध्यात्मिक स्थिति २५०
आरोपण २२१
आज्ञाचक्र २३४

(इ)

इंज २६
इरोटिक्स २१६
इदं १५८,१५६
इडियस ग्रन्थि २६६
इन्ट्यूशन १६,३०
इच्छाशक्ति २५३

(ई)

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर १७४,२५६
ईश्वर दर्शन १३२,२२२,२३४
ईश्वरानुभूति २५
ईश्वरोन्माद २४७
ईसा ८६,१०६,१४४,१७२,१७६,१७७
१७८
ईसाई २०
ईसाई धर्म १५५

(उ)

उच्चतर मनस ३०
उदात्तीकरण १६१,२१६,२१७,२१८,
२१६,२२०
उन्मत्त अवस्था १३६
उन्मना समाधि २३२
उन्माद १३६,१७८,२१४,२४६,२४७
उपनिषद् ११,१३,१७,२२,१२१,२२५,
उभयमुखी १०,१४
उभयमुखी वृत्ति १४
उरुवेला ६१,६५

(ऊ)

ऊर्ध्व मानस ३०
ऊर्ध्वमुख २३२

(ए)

एकत्व १२,१५,१७
एक्सपीरिएन्स ५
एकहार्ट ११,१२,१४,१५,१६,१७८
एडलर ११४
एन० एम० ७,११,१२
एलजाह २३८
एलान १६२
एस० एन० गुप्त २५

(ऐ)

ऐन्द्रिक अनुभूतियाँ १८

(औ)

औपधिक रहस्यवाद २७

(क)

कन्टेम्प्लेशन ५
कला २४
क्राइस्ट ३१,१५२,२००,२३८
काम प्रेम २१६
कामभावना १६५
काम - शक्ति २१४,२१७,२२०,२२४, २६१,२७२
कामारपुकुर १०३
कामिनी और कांचन २११,२१२,२१३, २१४,२२१,२२३
कारण शरीर २३६
क्रिश्चियन ६
क्रिस्टल गेजिंग १९६
कुण्डलिनी तत्त्व २३१,२३२,२३३
कुण्डलिनी शक्ति २४६
कुरान ६७,६८,१६७
केशवचन्द्र सेन १७४,१८६,२४८,२५६
कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेंट ६
कैथोलिक रहस्यवादी ११
कैवल्य २२५
कैरिंगटन २५६
कृच्छ साधना ६३,१३०,१३५,१३६, १५८
कृष्ण दास कविराज ७२

(ग)

गदाधर ८३
गुरु अर्जुन ६८,७१
गुरु ग्रन्थ साहिब ६८
गुरु नानक ६८,७०,७१,८०
गुरु नानक जन्म ८६
गुह्यलिंग २३२,२३४
गुह्यवाद ५,२६
गूढ़वाद ५
गेब्समैन ६१
गोरखनाथ २३३

गुरु नानक जीवन ८६,९२
गुह्य ४
गौडीय भक्त ७३
गौड़ीय वैष्णव ७४

(च)

चन्द्रा देवी ८४,१०३
चार्ल्स ए० बैनेट २५
चैतन्य २३८
चैतन्य चरितामृत ७२,७४,७५
चैतन्य भागवत् ७४
चैतन्य मत ७३
चैतन्य मंगल ७४

(ज)

ज्यूइश ११
जटाधारी ९३
जयराम मिश्र डॉ० ६९,७०,७१
जह्वी ६७
ज्योति दर्शन १४७,२५०
जादू तथा तन्त्र विद्या ६
जॉन लैंगडन डैवीज १९८
जानवेन ११
जीवन दर्शन ३२
जुकेव बोह्म १०,११
जेम्स ७,१५,२३,१४९,१५७,१५९
जेसस क्राइस्ट ८०
जेसस क्राइस्ट का जन्म ८१
जैकाब हेन्स १७६,२४८,२४९

(ट)

ट्रम्प ६९,७०
ट्रान्सीडेन्टल ९
टालस्टाय १५०

(ड)

डाल्टन २६३

(त)

तर्कमूलम भाववाद २६६,२६७
तत्त्व द्रष्टा ६
तन्त्र २२८
तनाव २४३
तुरीया १३
तुरीयावस्था २२५
तैत्तरीय उपनिषद् ३१
तोतापुरी ९३,१४२

(थ)

थामस एक्विवास २४१
थुले रावर्ट एच० १५१,१५२,१६२९

(द)

दमन २३९
दशदल पद्म २३२
दर्शन (विजन) १४५
दक्षिणेश्वर २४८
दार्शनिकवाद २६
दिव्यानुभव ८५
दिव्योन्माद ७२
दुर्खाइम २६९
दुर्गा सप्तशती ४
देवेन्द्रनाथ टैगोर १७४
दैवी अनुभूति १६
दैवीकरण २६
दैवी प्रकाशन (रेवेलेशन) २५७
दैवी विभूति १०

(ध)

ध्यान (कन्टेम्प्लेशन) १७८
धार्मिक महापुरुष ८१
धार्मिक व्यवहार तथा अनुभूति ८९
धर्म ३२
धर्म और रहस्यवाद ३२
धार्मिक अनुभव २६०
धार्मिक अनुभवों की प्रामाणिकता २५५, धार्मिक अनुभूति २३८
२५६,२६०,२६१

(न)

न्यूटेस्टामेन्ट २३८
नरेन्द्र १४७,१८७,१८८
नव्य मनोविज्ञान २१५
नव्य मनोवैज्ञानिक २२४
नाभि चतुर्दल २३२
नित्यात्मानन्द ३१
नित्यानन्द ७२
निर्देशन शीलता १६१,२०४
निरपेक्ष ३०,२४०
निर्वाण २२५
निर्विकल्प समाधि १४,१४१,१४२,
१८२,१८३,२४५,२४६
नेटलसिप आर० एस० २३
नैतिकता २९
नोएटिक क्वालिटी १५

(प)

प्लेटो २३८
प्लेटिनस ७,११,१४,२३८
पतंजलि १२३
परशुराम चतुर्वेदी ६,२६
परा अहं १५८,१५९
परामनोविज्ञान १२३,१७१,१९५,
१९६,२०३,२३९,२५४,२५९
पराज्ञान ५
पलायनवादी १०
परिवर्तन (कनवर्जन) १५२,१५४
पातंजल योग २२५,२२८
पितृ ग्रन्थि २६९,२७०

पूर्वधारणाओं २६१
पूजन १३८,१३९
पैगम्बर ६५,६७
पैनाथिस्म १५
पंचकोष २३२
प्रकृतिलय २२७
प्रजापति गौतमी ८५
प्रतिरोध ११३
प्रथम दर्शन १३४
प्रदत्त २५७,२५८,२५९,२६८
प्रदीप्त मानस ३०
प्रवृत्ति-निवृत्ति २३६
प्रक्षेपण २४३
प्रज्ञा १६,२५९
प्रातिभ मनस (इन्ट्यूशन) ३०,२५८
प्रातिभज्ञान १६,२१,३४,३०,१९७
प्रातिभिकता १८,१९,२०,२८,२९
प्रार्थना १६१,१८५,१९४
प्रार्थनात्मक तल्लीनता ९
प्राणमय कोष २३९
प्रामाणिकता ६६,२५८
प्रिंगल पेटिंगन २४
प्रीथिया ७१
प्रेट जे० वि० १२५,१५६
प्रेपट ६
प्रोटेस्टेन्ट २५७

(फ)

फ्लेडरर २३
फलवाद २६५
फ्रायड ११६,१२५,१५०,२१४,२७०

(ब)

ब्यक्तित्त्व के सगठन २५४
ब्याकुलता २३४
ब्यूक ७,११
बटलर सी० ५
बनू उमैया ६७
बरनार्ड २३८
बहुव्यक्तित्त्व १७०,१७१,१७२
ब्रदर लारेंस २४१
ब्रह्म १३
ब्रह्मानन्द २०१,२०३
बहिर्मुखी रहस्यवादी अनुभूतियों की विशेषताएँ १२
बहिर्मुखी वृत्ति ६,१४
बाइबिल ६८,१९७,२३८
ब्राउन जे० एफ० ११७
ब्राउन विलियम २७२
ब्राह्म समाज २५९
बुखारी ६५
बुद्ध ३१,१२६,१३१,१४४,१५०
२३८
बोहेम १६
बौद्धिकता २९४
बोधिसत्व ८१
बृन्दावन दास ७४

(भ)

भक्ति २२६
भक्तिमार्ग ६०,२४४
भविष्यवाणी ८७,१०४,१६७,१६८
२५४
भागवत् २२८,२२६
भागवतीशक्ति १८६,१६३
भाव समाधि ८८,१८४,२३३,२४५
२५५
भैरवी ब्राह्मणी १६८
भौतिक ज्ञान १६

(म)

मणिपुर २३४
मत्स्येन्द्रनाथ
मधुर भाव ६३
मधुरभाव साधना १४३
मनोमय कोष २३६
मनोविकृति १११,११६,१६४,१७७
२०५,२३८,२५०
मनोविदिलता (स्कीजोफ्रेनिया, १६७
१७३,१७४,१७५,१७८,१६३
मनोविश्लेषणवादी १८०,२७१
मनोवैज्ञानिक २०
मनोवैज्ञानिक पर्यालोचना १११,१४८
१६३,२१४
मनोवैज्ञानिक व्याख्या १५४
मनोवैज्ञानिक विशेषता १८४
मनोवृत्ति २४
मर्मियावाद ५
महमूद साविस्तारी ११
महाकारण २३२
महाप्रभु चैतन्य ७२,८०,६६,१३१
१३५,१८४
महाभारत १४२
महायान ११
महेन्द्रनाथ सरकार २४
माण्डूक्योपनिषद १२
मिस्टेस या मस्टेस ५
मस्तिष्क ५
मिस्टिकल ५
मिस्टिसिज्म ५
मुरारी गुप्त ७३
मुहम्मद ६५,६६,८०,८१,६२,६६
१३१,१७८,२३८
मूर्च्छा २३७,२४१,२४२,१४७
मूर्ति दर्शन १४६
मूलप्रवृत्यात्मक जीवन १
मूलाधार २३२,२३३,२३४
मूसा ८२,२३८
मैक्समूलर ७८,७६,६७
मैकालिक ६६,७१
मोक्ष १,१५६
मोक्षावस्था २२५
मोक्ष २२८

(य)

यमनियम २२६
युग १२०,१६२,२४३
योग २२५,२२८,२४६
योग मनोविज्ञान १८०,१६६

यौन-उन्माद २१४
यौन मनोविज्ञान २१८
यौन जीवन २१६
यौन शक्ति २१४

(र)

रसेल बर्टेन्ड २१४
रहस्यवाद २,५,२५,२६,३२
रहस्यवाद और रहस्यवादी १
रहस्यवाद का विषय ६
रहस्यवाद का शाब्दिक अर्थ २
रहस्यवाद की कसौटी ६,२७,३१
रहस्यवाद की परिभाषा २२
रहस्यवाद की विशेषताएँ ७,३१
रहस्यवादात्मक अनुभति २७,३२
रहस्यवादात्मक चेतना ६
रहस्यवादात्मक स्थिति २८
रहस्यवादी १००
रहस्यात्मक स्थिति २५७
रहस्यानुभूति ६
राधाकमल मुकर्जी २५
राधानाडे आर० डी० १८,२४
रानी रासमणि १४०
राधाकृष्ण २५
रानी रासमणि १४०
रामकृष्ण ७,११,१२,१४,१५,१६,३१,
२३०,२३८
रामकुमार १०३,१०४
रामस्वामी शास्त्री के० एस० ५,२६
रासपुटिन १६८
रूप गोस्वामी ७२
रिलीजन ३२
रोमाँ रोलाँ ७८,७६,८०

(ल)

ल्यूबा १४६,१५७,१५६,२३७
लिबिडो १५०,१६२,२१७,२१८
लीग फार स्पिरिचुएल
डिस्कवरी २५०
लीला ६०

(व)

व्यक्तित्व के गुण ११४,२०१,१०६
व्याकुलता १३२,१३३,१५३,१५४,
१५६,१५७,१६४,१६५,१७६,
२०७
व्यामोह १६०,१७२,१७३,१७६
व्यामोही ८१
व्याधियाँ २४३
वर्गसाँ ३०,१६२
वस्तुगत कसौटी १००
वस्तुगत सत्यता २५७,२५८,२५६
वस्तुनिष्ठ १५,२६६
वस्तुनिष्ठता १५,१६
वाट्सन २७०,२७१
वातावरण ११४
वासवेल ७७
विक्षुब्ध अवस्था २७२

(व)

विभाजित अहं १५६
विवेकानन्द २४२,२४७,२४८,२५२, २५३,२५५
विवेकानन्द स्वामी ७८,७६,१४७, १८८,१६७,२००,२०१,२०२, २०३,२५६
विवेकीकरण २६३,२६४
विशालाक्षी ८८
विशुद्ध चक्र २३४
विज्ञानमय कोष २३६
वेद ६८
वेदान्त २३२,२३४
वैखरी शब्द १८१
वैयक्तिक स्वतंत्रता ३०,३१
वंश परम्परा ६६,१०५,१११,११४, १२४,१२५,१६४

(श)

शक्ति जागरण २३२
शाण्डिल्य १६५
शारदानन्द १८६,२०६
शारदानन्द स्वामी ७८
शिक्षाष्टकम ७२
शून्य का अर्थ १८
शंकराचार्य १०२
श्री कृष्ण चैतन्य चरितामृत ७३
श्री निवासचारी पी० एन० २४
श्री 'म' ७६,७७,८०
श्रीमद्भागवत् ८७,१६५,१६७
श्री रामकृष्ण ७५
श्री रामकृष्ण की धार्मिक अनुभूति ७७
श्री रामकृष्ण की प्रथम समाधि १२७
श्री रामकृष्ण वचनामृत ७५
श्री रामकृष्ण कथामृत ७६,७६,८०

(ष)

षट्चक्र २३४
षड्दल २३२

(स)

स्टारबुक १४६
स्टेनले हाल १५०
स्टेस ६,१२,१५,२३
स्थूल शरीर १२२,१२३,२३२,२३६
स्नायुविक रोग २१८,२६१
स्नायुविकृति ११३
स्पर्श क्रिया २५३
स्पर्शानुभूति २५२
स्वात्म प्रेम (नार्सिसज्मि) १५७ १५८
स्वाधिष्ठान २३१,२३४
स्वीशर २१४
सत्यनिष्ठा २०५,२०६
सत्यान्वेषण ८६,६३
सत्ता २५७
सन्यास ६१
सप्तभूमि २३२
सम्प्रतज्ञान २२६
सम्मोहन १६१ २०२ २३७,२५३

समर्थन (वेरीफिकेशन) २६७
समाधि ६,१३ १०६,१८४,२२५,२३२ २३७,२४३,२४४,२४७
समाधि असम्प्रज्ञात २२७
समाधि आनन्दानुगता २२६
समाधि अस्मिता २२६
समाधि की दशा में २३०
समाधि निर्विकल्प २२७,२३०,२३५
समाधि निर्विकार २२६
समाधि निर्वितर्क २२६
समाधि वितर्कानुगत २२६
समाधि सम्प्रज्ञात २२७
समाधि सविकल्प २३०
समाधि सविचार २२६
समाधि सबीज २२६
समायोजन ११२,११८,२६५
सम्मिलन की क्रिया (इनकारपोरेशन) १७६,१७७
सर्वातिशायी (ट्रान्सेडेन्टल) २६७
सहस्त्रार २३१
सही बुखारी ६८
सही मुसलिम ६८
साइमण्ड्स जे० ए० ७,११
साधना ८६,१२६,१३५,१७२
सापेक्ष २४०
सापेक्षवाद २६३
सांवेगिक २४०
सिद्धार्थ ८५
सिवली ६७
सीजोफ्रेनिक २३७,२५०
सुजुकी ७,८
सुपुप्ति १३,२२८
सूफी इस्लाम ११
सूक्ष्म शरीर १२२,२३२,२३६
सेक्स २१५
सेन्ट आगस्टाइन १५०,१७८
सेन्ट जॉन ११,२३६
सेन्ट टेरेसा ११,१६,१७,२३८,२४१ २५६,२६०
सेन्ट पाल १५०,२३८
संकल्प शक्ति २००,२०१,२०२
संवेग १२५,१६५,२७१
संस्कार के सिद्धान्त ११६,१२१,१२४ १२६,१६१,१२०
सांस्कृत्यायन राहुल ८५

(ह)

हक्सले ७७
हजरत उमर ६७
हठयोग २३१ २३३
हदीस ६६ ६७
हनुमान, हनुमान भाव में साधना १४०
हाकिंग २४
हारवर्ट १५८,१५६
हेरोदेस ८२
हैकलॉक एलिस २१८,२२२,२२३
हैवलाल एलिस २१४

(क्ष)

क्षेत्रज्ञ २२६
क्षुदिराम ८३,८४

(त्र)

त्रिपिटक ६८
त्रैलिंग स्वामी २३८

(ज्ञ)

ज्ञानमार्ग ९०